और उसका निवारण किस प्रकार करना चाहिये। जो पाठक राष्ट्र भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी- वाद पर मेरे विचार जानना चाहें, उनसे निवेदन है कि वे मेरी पुस्तकें 'राष्ट्र भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन' तथा 'मौलाना गाधी ?' * (जो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के प्रधान मत्री श्री श्रीमन्नारायण के 'मौलाना गाधी' शीर्षक लेख के उत्तर मे लिखी गई है) पढ लें।

परिशिष्ट मे कुछ ऐसी सामग्री एकत्र की गई है जिसका पुस्तक के विषय से सम्बन्ध है, अथवा जिससे विषय के प्रतिपादन में सहायता मिलती है। परिशिष्टों का परिचय यथास्थान दे दिया गया है। परिशिष्ट १५ प० रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तिका 'हिन्दुस्तानी का उद्गम' का मुख्याश है। इसे यहाँ प० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द जैसे युक्त-प्रान्त और बिहार के हिन्दुस्तानी वालो के लाभार्थ दिया गया है जो उर्दू को ही वास्तविक हिन्दुस्तानी समझते हैं, उर्दू को हिन्दी से प्राचीन, हिन्दुओ और मुसलमानों की 'मुश्तरका जबान' और न जाने क्या क्या समझते हैं, और जिन्होने बचपन मे मौलवी से उर्दू सीखने के बाद शायद कभी उर्दू के इतिहास पर विचार करना आवश्यक नही समझा और जो शायद आज भी उससे अनभिज्ञ हैं। आशा है इसमे उन राजनीतिक नेताओ को भी विचार करने की सामग्री मिलेगी जिनका 'हिन्दुस्तानी'-प्रेम राजनीति पर निर्भर है और जिन्होने अभी तक 'हिन्दुस्तानी' को किसी दूसरी दृष्टि से देखना, जॉचना-पड़तालना आवश्यक नहीं समझा है। हमे विश्वास है, इससे गाधी जी, श्री राजगोपालाचारी और श्रीयुत् बी. जी. खेर जैसे अहिन्दियो को भी लाभ होगा जिन्हे हिन्दी-उर्दू सम्बन्धी वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं और जिनकी बहक का कारण बहुत कुछ यही है। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के

* दोनों पुस्तके गगा पुस्तकमाला, लाटूश रोड, लखनऊ से मिल सकती हैं।

भँवरों में पड़ कर गँदली हो गई है। फलस्वरूप हिन्दी प्रेमी हिन्दी प आने वाले संकट को भी स्पष्टतया नहीं देख पा रहे हैं। राजनीति के मैदान में जो धूल उड़ रही है उसमें इस संकट का आकार-प्रकार छिप सा गया है। पर वह संकट तो विद्यमान है ही। युद्ध की गर्मी में राजनीतिज्ञों कोर इसकी पर्वाह नहीं रह गई है कि उनकी चालों का देश के दूर भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा। हिन्दी के दुर्भाग्य से हिन्दी के अधिकांश प्रेमी और समर्थक भी राजनीतिज्ञ ही हैं, और इस कारण वे भी हिन्दी-प्रसार का वैसा नेतृत्व नहीं कर पा रहे हैं जैसे नेतृत्व की उसे इस समय आवश्यकता है। वे स्वयम् राजनीति के शिकञ्जे में जकड़े हुये हैं। उनके हाथ पैर राजनीति के उलझट्टे में उलझे हुये हैं और उनके मुँह पर राजनीति का ताला पड़ा हुआ है। शायद उनके दिमाग में भी राजनीति का घटाटोप छाया हुआ है। उनके पास हिन्दी को देने के लिये समय भी नहीं। उनसे अधिक आशा करना व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में राजनीति के कोलाहल से दूर बैठे हुये एक हिन्दी-प्रेमी का जो कर्त्तव्य हो जाता है, उसी को सामने रखकर मैंने इस पुस्तक को लिखा है। मेरा दृष्टिकोण शुद्ध हिन्दी के हित का दृष्टिकोण है। मुझे राजनीति से कुछ लेना देना नहीं, राजनीतिक नेताओं में मेरी अन्ध-भक्ति नहीं। राजनीतिक नेता व्यक्तिगत रूप से कितनी ही ऊँची श्रेणी के व्यक्ति क्यों न हों, मैं उन्हें भाषा के विषय में बोलने का अधिकारी मानने को तैयार नहीं। भाषा के विषय में मैं किसी राजनीतिक संस्था, भले ही वह वयस्क मताधिकार के आधार पर बनी हो, का फैसला मानने को भी तैयार नहीं। इतिहास साक्षी है कि किसी देश का उद्धार केवल राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं हुआ है। विशेष रूप से इस देश में देश का साहित्यिक और सांस्कृतिक नेतृत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में कभी नहीं रहा। भाषा और साहित्य की परंपरायें हमें व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी से मिली हैं, अशो,

प्रकरण–सूची

परिशिष्ट

उनमें से कुछ के मूल स्रोतों के विषय में मुझसे भूल हो गई हो। आशा है विज्ञ पाठक इन भूलों को क्षमा करेंगे। मैंने कापी में शब्दों के उदाहरण ढूँढने की बिलकुल चेष्टा नहीं की है। जो शब्द नित्य सुनने और पढ़ने में आते हैं, उन्हीं को उदाहरण-स्वरूप पेश कर दिया है। एक बात और। हिन्दी की शुद्ध और स्टैण्डर्ड शैली के विषय में मैंने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनके अनुसार अपनी भाषा सुधारने का मैंने बिलकुल प्रयत्न नहीं किया है। पाठक मेरी भाषा को इन सिद्धान्तों की कसौटी पर न कसें। मैंने अपनी स्वाभाविक शैली में ही लिखा है, जिससे पाठकों को आज कल की औसत दर्जे की हिन्दी अर्थात् आजकल के द्वितीय और तृतीय श्रेणी के हिन्दी लेखकों की हिन्दी, जिसमें सुधार की आवश्यकता मैंने बताई है, का नमूना ढूँढने के लिये पुस्तक के बाहर न जाना पड़े। मैंने शुद्ध हिन्दी के विषय में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उनके विपरीत बातें पाठकों को पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर मिल जायँगी। इनसे पाठकों को पता चलेगा कि हिन्दी की बीमारी की जड़ कितनी गहरी है और उसे उखाड़ कर फेंकने के लिये कितनी शक्ति और प्रयास की आवश्यकता है। प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार शुद्ध और अच्छी हिन्दी का आदर्श तो चोटी के लेखक और साहित्यिक ही उपस्थित कर सकते हैं। मैं उन पर चल कर केवल अपनी शैली को अस्वाभाविक और अपने को उपहासास्पद बनाता। इन सिद्धांतों का मेरी शैली पर अनजाने में जो प्रभाव पड़ गया हो, उसकी बात दूसरी है।

पुस्तक के दूसरे भाग में हिन्दुस्तानी की बला का निरूपण किया गया है। उसके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ मैंने 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों के तर्कों का उत्तर देने का अथवा राष्ट्र-भाषा की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न नहीं किया है। यहाँ मैंने केवल यह बतलाने की चेष्टा की है कि 'हिन्दुस्तानी' से हिन्दी को क्या खतरा है

१

हिन्दी की अपनी समस्या

मरु-भूमि में एक जानवर होता है जो बालू की आँधी चलने पर अपना सिर भूमि में गड़ा लेता है। हिन्दी संसार में भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं। वे स्वयम् तो सो ही रहे हैं, औरों को भी चादर ओढ़े सोये रहने का उपदेश दे रहे हैं। यदि कोई उठने का उपक्रम करता भी है तो उसे थपकी देकर सुला देना चाहते हैं। ऐसे पलायनवादियों को छोड़कर शेष को मालूम है कि हिन्दी पर एक महान् संकट आया हुआ है। इस संकट का नाम है 'हिन्दुस्तानी'। बृटिश सरकार तो उर्दू या हिन्दुस्तानी नामधारी उर्दू के नाम पर हिन्दी को मिटा डालने के लिये बहुत समय से प्रयत्नशील है ही, परन्तु हम समझते थे कि अपनी सरकार आने पर शायद यह अनाचार बन्द हो जाय। अब वह आशा भी नष्ट होगई, बल्कि यह नया संकट उसी की ओर से आया है या आना चाहता है। यह हिन्दी को भीतर ही भीतर समाप्त करना चाहता है अथवा उसे केवल कविता की भाषा बनाना चाहता है। जब कोई संकट आता है तो सबसे पहले अपने घर की स्थिति देखी जाती है। देखें, आज हिन्दी की क्या हालत है।

१. हिन्दी का द्वैतवाद

हिन्दी के एक प्रसिद्ध मासिक पत्र का एक अंक सामने है। इसके प्रथम ५० पृष्ठों में आये हुये अरबी फारसी अर्थात् उर्दू के शब्द ये हैं—

मक़सद, मुकर्रर, सूबा, खत, दोस्त, सुबह, फर्ज, बारिश, नफ़रत, सदारत,

तिकोने झगड़े में जिन्हें सत्य की चिन्ता हो और जो वास्तविकता को अधिक विस्तार से जानना चाहते हों, उनसे निवेदन है कि वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित श्री चन्द्रबली पाँडे की खोजपूर्ण पुस्तकें 'उर्दू का उद्गम', 'उर्दू का रहस्य', 'भाषा का प्रश्न' 'कचहरी की भाषा और लिपि', 'मुगल बादशाहों की हिन्दी', 'बिहार में हिन्दुस्तानी', आदि और सबके अन्त में विद्यामंदिर-प्रकाशन, मुरार (ग्वालियर) द्वारा प्रकाशित उनकी नवीन कृति 'नागरी का अभिशाप' अवश्य पढ़ें। हमें विश्वास है, इन पुस्तकों से उर्दू और 'हिन्दुस्तानी' के ईमानदार समर्थकों की आँखें खुल जायँगी।

यह पुस्तक गत वर्ष सितम्बर में पूर्ण हो गई थी, परन्तु कागज, आदि की कठिनता के कारण अब तक न छप सकी। इस बीच में देश में ऐसी अनेक घटनायें घटी हैं जिनका भाषा के प्रश्न पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। कुछ और बातें ऐसी हुई हैं जिनसे भाषा की समस्या पर तीव्र प्रकाश पड़ता है। परन्तु इस कारण मूल पुस्तक में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। मूल पुस्तक में जो दो-एक बातें ऐसी आई हैं जो अब तक सुलझ चुकी हैं, पुस्तक में उनकी चर्चा इतिहास का काम देगी, और भविष्य के लिये पथ-प्रदर्शन करेगी। गत वर्ष सितम्बर से अब तक जो नई बातें हुई हैं उनका समावेश परिशिष्ट १७ और उत्तर परिशिष्ट १, २ और ३ में कर दिया गया है, और मूल पुस्तक में उनका सम्बन्ध पुस्तक में यथास्थान पाद-टिप्पणी देकर जोड़ दिया गया है। कहना न होगा, इस बीच की सबसे बड़ी घटना भारत का विभाजन है। परिशिष्ट १७ तथा उत्तर परिशिष्ट १, २ और ३ पर इसकी छाप प्रत्यक्ष है। इसका राष्ट्र-भाषा की समस्या पर जो गहरा और एक अर्थ में निर्णयात्मक प्रभाव पड़ता है उसका उत्तर-परिशिष्ट ३ में विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

ऐसी धारणा थी कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न भारतीय विधान-परिषद के

में केवल उर्दू शब्द ही आवेंगे—इसे कोई तर्क या भाषा-प्रेम रोक नहीं सकता। यह बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये, ऊपर जिन उर्दू शब्दों को एकत्र किया गया है उनके हिन्दी पर्याय उर्दू वाले भूलकर भी नहीं लिखते और परिणाम-स्वरूप हिन्दी प्रदेश की शिष्ट बोलचाल मे इन हिन्दी शब्दों में से अधिकाश प्रायः नहीं चलते, जब कि उर्दू पर्याय बाजारों में, गलियो में, रेल के डिब्बों मे, आदि सब जगह सुनने को मिल जायँगे। यदि कहीं पर हिन्दी पर्याय चलते भी हैं तो उनका प्रयोग करने वाले उर्दू पर्याय अवश्य जानते हैं, परन्तु उर्दू शब्दों का प्रयोग करने वालों में से अधिकाश हिन्दी पर्यायों को जानते ही नहीं, अर्थात् बोलचाल की कामन भाषा में ये ही उर्दू शब्द हैं, हिन्दी पर्याय नहीं हैं। इन हिन्दी पर्यायों को हिन्दी वाले आपस मे बैठ कर या सभा सोसाइटियों में भले ही प्रयुक्त कर लें, परन्तु ये आम जनता में नहीं चलते, और जब तक लिखित हिन्दी में शब्दों का यह द्वैतवाद ऐसा ही रहेगा तब तक कभी नहीं चलेंगे। यह केवल हिन्दुस्तानी को कृत्रिम रूप से गढ़ने की बात नहीं है कि हिन्दी उर्दू दोनों में जो शब्द आते हैं उन्हें ले लो। वास्तव में ऐसे ही शब्द बोलचाल में प्रचलित हैं, और ऐसे ही शब्द आगे चलकर भी बोलचाल में प्रचलित होंगे*। विद्वानों के साहित्य में हिन्दी उर्दू अलग अलग रहेंगी पर बोलचाल की हिन्दुस्तानी बन कर रहेगी, उसे बनाने का प्रयत्न कोई करे चाहे न करे। किसी भी स्थान की बोलचाल की

* ऐसा होने में रेडियो और सिनेमा बहुत बड़ी सहायता पहुँचा रहे हैं और पहुँचायँगे। आज हमें रेडियो से शिकायत है और शिकायत का पूरा मौका है। उसे जाने दीजिये। सिनेमा को लीजिये। सिनेमा तो शुद्ध व्यापारिक सिद्धान्तों पर चलता है; वह तो साम्प्रदायिकता से ओत प्रोत अफसरों के हाथ में नहीं है, उसे तो जनता से काम है और इस कारण सिनेमा तो बता सकता है कि अधिकाधिक संख्या में जनता किन शब्दों को समझती है। आज हमें सिनेमा से क्यों शिकायत है? यदि सिनेमा 'अन्तर' के बजाय 'फर्क़', 'सहानु-

न होगी, तो हिन्दी प्रान्तों में भाषा की समस्या तो ज्यों की त्यों रहेगी ही, राष्ट्र-भाषा के पद और हिन्दी प्रान्तों में राज-भाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का निर्णय भी बहुत हद तक निरर्थक और अवास्तविक सिद्ध होगा। दूसरी बात जिस पर ध्यान देना होगा वह है कि रेडियो में 'हिन्दुस्तानी' का पूर्ण बहिष्कार करके हिन्दी की उचित प्रतिष्ठा की जाय और अन्य सब सरकारी विभागों में, हिन्दी प्रान्तों में और केन्द्र में, केवल लिपि ही देवनागरी न हो वरन् भाषा भी यथार्थ में हिन्दी हो, और इस हेतु शासन सम्बन्धी और अदालती पारिभाषिक शब्दों का एक स्टैंडर्ड हिन्दी कोष बनाया जाय।

यदि इस पुस्तक से हिन्दी-प्रेमियों को हिन्दी पर आये हुये 'हिन्दुस्तानी' रूपी संकट को पहचानने में सहायता मिली और उन्होंने समय रहते सावधान हो कर उसका सामना करने के लिये उचित कदम उठाये तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी,
७ सितम्बर, १९४७

रविशंकर शुक्ल

थी, परन्तु पाली उसी सभ्यता और संस्कृति का वाहन थी और उसमें संस्कृत साहित्य स्वाभाविक रूप से उतरता चला आता था। पाली भी बदली, परन्तु स्वाभाविक रूप से। भारत पर यूनानियों के आक्रमण के फलस्वरूप ग्रीक के प्रभाव के कारण भारतीय भाषा के विकृत होने का भय उत्पन्न हुआ। परन्तु भारतीय समाज उस समय सजग था। उसने भाषा को विकृत होने से बचाने का पूरा प्रयत्न किया। समाज के नेताओं ने आदेश दिया, 'कण्ठेऽपि प्राणे यावनीं न वदेत्'। क्यों? उन्हें शुद्ध संस्कृत या पाली लिखने से तो कोई रोकता न था। परन्तु नहीं, उन्होंने समझा कि यदि बोलचाल में ग्रीक शब्द भारतीय शब्दों को निकालकर घुस गये तो कालान्तर में उनका साहित्य में भी घुस जाना अनिवार्य है, और इससे संस्कृति की अवश्य हानि होगी। संस्कृत की इस अखण्ड पीढ़ी में आज हिन्दी है। आज हिन्दी को वही काम करना है जो संस्कृत ने, पाली ने और अपभ्रंश ने किया है। हिन्दी के संस्कृत शब्द हमें अपने अतीत से, अपने प्राचीन साहित्य से जोड़ते हैं। उनमें जाति का जीवन है, जाति को मर मिटने की प्रेरणा देने की शक्ति है। हिन्दी जानने वाले के लिये संस्कृत अपेक्षाकृत सुगम है। हिन्दी के संस्कृत शब्दों के कारण हिन्दी मे संस्कृत साहित्य उतारना, उसका अनुवाद करना सरल है। अगर हम आज अपनी मूर्खता के कारण हिन्दी में अपने शब्दों के होते हुये अरबी फ़ारसी के शब्द भरते चलेंगे तो परिस्थिति ऐसी है कि हमारे अपने शब्द हमसे सदा के लिये छूट जायेंगे और हम अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति से हाथ धो बैठेंगे। आजकल के हजारों हिन्दी कवियो और लेखकों से भी हाथ धो बैठेंगे। हिन्दी में अनावश्यक अरबी फारसी शब्द भरने की जो प्रवृत्ति आज हम देख रहे हैं, उससे हमें यही खतरा है। जो हिन्दी लेखक एक प्रचलित हिन्दी शब्द के स्थान में उर्दू शब्द का प्रयोग करता है, वह साउदे के शब्दों में अपनी मातृ-भाषा के प्रति अक्षम्य अपराध ता करना ही है, परिस्थिति ऐसी है कि वह एक प्रकार से हिन्दी शब्द की कब्र तैयार करना है।

उत्तर-परिशिष्ट (पृष्ठ ३२४)

कर सकती (यद्यपि वह इँगलिस्तानी में चलता भी है)। यही बात उर्दू शब्दों के साथ लागू होनी चाहिये। उर्दू हिन्दी की एक शैली है, इस कारण उर्दू शब्दों के साथ रियायत नही की जा सकती। यदि उर्दू के हिन्दी की एक 'शैली' होने के कारण हिन्दी मे आने वाले अनावश्यक उर्दू शब्दों पर आपत्ति नहीं की जा सकती, तो उस 'शैली' की लिपि में हिन्दी लिखे जाने पर भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये, अर्थात् आवश्यकता न होने पर भी एक अतिरिक्त लिपि, उर्दू लिपि, हिन्दी के लिये स्वीकृत हो जानी चाहिए। वर्धा से भी एक क़दम आगे!

फिर इँगलिस्तानी भी हिन्दी की एक 'शैली' है', इसलिये हिन्दी में अनावश्यक, इँगलिस्तानी के अँगरेजी शब्दों पर भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये, और रोमन लिपि स्वीकृत होने पर भी नहीं!

वास्तव में 'उर्दू हिन्दी की एक शैली है', इसी कारण हिन्दी को उर्दू से सबसे अधिक खतरा है, और इसी कारण उर्दू हिन्दी का मैदान मार सकती है और मार रही है। यह शैलीवाद हिन्दी को बहुत हानि पहुँचा चुका। अब इसका अन्त होना चाहिये। जिस प्रकार हम उर्दू लिपि से द्वेष नहीं करते, परन्तु उसमें हिन्दी लिखने के लिये तैयार नहीं, उसी प्रकार हम उर्दू शब्दों से द्वेष नहीं करते, परन्तु अपने शब्द होते हुये हम उन्हें हिन्दी में स्थान देने के लिए तैयार नहीं। फिर, यह शैलीवाद एकतरफा नहीं चल सकता। उर्दू भी हिन्दी को अपनी एक 'शैली' मान कर हिन्दी शब्दों के साथ वैसा ही व्यवहार करने को तैयार है जैसा व्यवहार उर्दू शब्दों के साथ करने की सलाह हमें दी जाती है?

यदि हिन्दी और उर्दू दोनों के लिखने वाले (और पढ़ने वाले) एक ही होते और दोनों में (और दोनों लिपियों में) हिन्दी उर्दू के शब्द एक समान आते होते तो भी विशेष हानि न थी, क्योंकि अन्त में स्वाभाविक रूप से छँट छँटाकर वे ही शब्द रहते जिन में जीवित

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१६	८	चन	चैन
२१६	२५	र्णतः	पूर्णतः
२१८	१४	का	की
२१८	१८	अतनी	अपनी
२२३	१०	उदारण	उदाहरण
२२६	१५	मथिली	मैथिली
२५०	२४	नने	नैने
२८७	२५	श्रुकी ति-रुचि	की श्रुति-रुचि

उत्तर-परिशिष्ट (पृष्ठ ३२४)

१२	२५	'इङ्गलिस्तनी'	'इङ्गलिस्तानी'
२३	२५	समाचा	समाचार
४१	फुटनोट	'पुनर्लेख'	'पुनश्च'
४६	६	हिन्दी	हिन्दी तो
५३	२५	Persani	Persian
५४	५	or	of

निवेदन

४	१	प	पर
४	४	कोर	को
४	२५	अशो	अशोक
५	२१	सफलना	सफलता
५	२५	कसम्भव	सम्भव
१०	११	स्तानी	-स्तानी

ही शब्द कई अर्थों मे रूढ़ कर सकते हैं जैसे कितने ही शब्द इस समय भी कई कई अर्थों में रूढ हैं, हिन्दी में भी और उर्दू में भी। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि अँगरेजी मे एक एक शब्द के कई कई पर्याय हैं तो उनका प्रयोग, ध्वनि का अन्तर करके या ध्वनि का अन्तर किये बिना, अँगरेज़ी के सभी लेखक करते हैं और उन्हे एक ही लिपि में लिखते हैं—न अँगरेजी के लेखक हिन्दी उर्दू के लेखकों की भाँति दो दलो में बँटे हुये हैं और न अँगरेजी 'हिन्दी उर्दू की भाँति दो लिपियों मे लिखी जाती है। स्पष्ट है, अँगरेजी की तुलना हिन्दी या हिन्दुस्तानी से नहीं की जा सकती, और न अँगरेजी कोष की तुलना 'हिन्दी कोष + उर्दू कोष' से की जा सकती है। यदि हम आज अपने शब्दों के साथ उर्दू पर्याय जोड़ भी लें, तो उर्दू लेखक हिन्दी पर्यायों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। हम यदि 'speech', 'discourse', 'lecture', 'talk', 'address', आदि की ध्वनि को स्पष्ट करने के लिये 'भाषण', 'वक्तृता', व्याख्यान', 'प्रवचन', 'अभिभाषण', आदि के साथ 'तकरीर' को और जोड भी लें, तो भी उर्दू वालों को सिवा 'तकरीर' के और कोई शब्द स्वीकार न होगा (और होगा भी तो 'lecture', 'speech', 'talk', आदि, हिन्दी का शब्द नहीं), और फलतः सब अर्थ 'तकरीर' मे ही रूढ हो जायँगे, केवल 'तकरीर' बोलचाल में चलेगा और शेष सब मर जायँगे।

हमसे प्रायः कहा जाता है, अरे, एक एक शब्द के अनेक हिन्दी पर्याय याद करते हो या नहीं (कितने शब्दों के ?), एक उर्दू पर्याय (क्या वह सदैव एक ही होगा ?) और याद कर लो। उत्तर में इतना कहना काफी है—क्या उर्दू वाले भी उर्दू पर्यायों के साथ एक एक हिन्दी पर्याय याद करने को तैयार हैं ?

साराश यह कि ध्वनि में अन्तर करके उर्दू शब्द ग्रहण करने वाला खेल एक हद तक ही—बहुत कम शब्दों के विषय में—खेलना सभव है, और

तरजुमा, मरीज, सजा, बेवकूफ़, नुमायन्दा, हुक्म, अहम, वजीर, एतराज, सरहद, सर्दी, माहिर, तहजीब, महदूद, सब्र, शुक्रिया, रकबा, इफरात, नज्जारा, दुश्मन, शाम, जख्म, मेहमान, किताब, मुलाकात, इन्तजाम, मुश्किल, आसमान, इन्सान, दिमाग, वक्त, मशहूर, तादाद, तनख्वाह, ख्वाब, मिसाल, जिन्दगी, नजर, फैसला, तकलीफ़, मौजूद, खत्म, रोज, ताज्जुब, काश्त, जायका, इम्तहान, मदद, फ़ायदा, जगह, फर्क, सिर्फ़, एलान, खास, मुनासिब, मुताबिक, मजा, वाकई, फस्ल, ईमानदारी, सतर, खिलाफ़, कोशिश, हमला, मुखालफ़त, सब्ज़ी, रोजाना, रिश्ता, कायदा, मुफ्त, आवाज, रोशनी, मुल्क, रूह, बेरहम, जुल्म, फ़ौरन, शहशाह, वगैरह, कमजोर, जिम्मेदार, अलावा, बादशाह, सलाह, मशविरा, तारीफ़, पैगाम, बहस मुबाहिसा, नक्शा, कामयाब, मातहत, यकीन, ख्वाहिश, मिजाज, खिदमत, तमन्ना, हरूफ़, शराफ़त, आमदनी।

लगभग इन सब शब्दों के हिन्दी पर्याय भी इन्हीं ५० पृष्ठों में आये हैं और बिलकुल उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुये हैं जिनमें उर्दू शब्द। प्राय. एक ही लेख में, बल्कि एक ही वाक्य में, हिन्दी और उर्दू के पर्यायवाची शब्द मौजूद हैं, और एक ही भाव या वस्तु के लिये एक बार हिन्दी का शब्द आया है और दूसरी बार उर्दू का शब्द। क्या आप बता सकते हैं कि संसार की किस भाषा में, हिन्दी को छोड़कर, ऐसा देखने में आता है? उर्दू में तो अवश्य ही नहीं।

अँग्रेज़ी में ऊपर से पर्यायवाची जान पड़ने वाले कई कई शब्द होते हैं, परन्तु उनमें ध्वनि और अर्थ का सूक्ष्म अन्तर होता है, और अच्छी अँग्रेजी जानने वाला एक के स्थान में दूसरा शब्द प्रयुक्त करने की भूल नहीं करेगा। 'Letter' के स्थान मे 'Despatch', 'Able' के स्थान में 'Competent', 'Speech' के स्थान मे 'Discourse', 'Hate' के स्थान में 'Contempt' आदि, आदि कोई नहीं लिखेगा। फिर ऐसे सूक्ष्म अर्थ-भेद वाले कई कई शब्द प्राय' गम्भीर भावों को प्रकट करने के लिये होते हैं। नित्य

का कष्ट नहीं करते कि उधार मागने की आवश्यकता भी है या नहीं, और न यह सोचते हैं कि ऐसा करने का क्या परिणाम हो रहा है और अपने घर की दालत पर क्या गुजर रही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अरबी फारसी शब्दो की मर्यादा निश्चित होनी चाहिये, और जो अरबी फारसी शब्द आवश्यक हैं अथवा जिन्हें परिस्थिति देखते हुये रखना अभीष्ट है उन्हें छोड़ कर शेष का बहिष्कार कर देना चाहिये और भविष्य के लिये भी बिना सोचे समझे अनावश्यक उर्दू शब्दो को हिन्दी में घुसेड़ने की बढती हुई प्रवृत्ति का दमन कर उन सिद्धान्तों को स्थिर कर देना चाहिये जिनके अनुसार अरबी फारसी शब्द ग्रहण किये जा सकते हैं। हिन्दी के एक स्टैंडर्ड कोष का निर्माण किया जाय जिसमें शब्द निश्चित किये हुये रूप, निश्चित की हुई स्पेलिंग मे, निश्चित की हुई लिंग के संकेत, आदि के साथ तो छपें ही, उसमे केवल उन्हीं अरबी फारसी (या अँगरेजी) शब्दो का समावेश किया जाय जो हिन्दी में ग्रहीत माने जायँ। जिन उर्दू शब्दो का हिन्दी से बहिष्कार होना चाहिये उनकी एक तालिका अलग से भी सूचनार्थ प्रकाशित की जाय।

स्पष्ट है, यह स्टैंडर्ड कोष हिन्दी-शब्द-सागर से बहुत भिन्न होगा। हिन्दी-शब्द-सागर में से वे सब अरबी फारसी शब्द निकालना पड़ेंगे जिनको हिन्दी में स्थान नहीं दिया जा सकता। यदि नागरी प्रचारिणी सभा को उर्दू शब्दों और 'उर्दू शैली' से विशेष प्रेम है, तो वह उस 'शैली' के शब्दों को अलग कोष-बद्ध करके उसी 'शैली' की लिपि मे छाप दें, और उसे अप-टु-डेट रखने के लिये अपने कोष-फंड का आधा रुपया इयरमार्क कर दे *।

---

* जब रूस, चीन, आदि विदेश 'हिन्दी' के स्टैंडर्ड कोष की मांग करें, तो नागरी प्रचारिणी सभा चाहे तो केवल 'हिन्दी' शैली का स्टैंडर्ड कोष भेज दें और चाहे तो उसके साथ उर्दू 'शैली' का उर्दू लिपि में छपा हुआ उर्दू-कोष भी भेज दे। नागरी हिन्दी-कोष मे अंजुमन-तरक्की-उर्दू के पास से

शब्द हिन्दी लेखक और उर्दू लेखक दोनों प्रयुक्त करते हैं उनके आधार पर 'हिन्दुस्तानी' क्यों न बनाई जाय ? हिन्दी वाले कहेंगे (जैसा श्रीसम्पूर्णानन्द ने ही कहा है), बात तो ठीक है, परन्तु उन हिन्दी पर्यायों को कैसे छोड़ा जा सकता है जिनको भी हिन्दी लेखक प्रयुक्त करते हैं ? इस तर्क में बिलकुल जान नहीं। हिन्दी वाले इन शब्दों को प्रयुक्त करते होंगे, परन्तु उर्दू वाले तो नहीं करते। हिन्दी पढ़ने वाले इन शब्दों को जानते होंगे, परन्तु उर्दू पढ़ने वाले तो नहीं जानते। फिर कामन भाषा में ये शब्द 'आमफ़हम', कामन पर्यायवाची शब्दों के मौजूद होते हुये कैसे लिये जा सकते हैं ? हिन्दी वालों को हजारों शब्दों के दो दो पर्यायों को घोटने की, लिखने की और कोष-बद्ध करने की फ़ुरसत होगी, परन्तु कामन, आमफ़हम भाषा में यह शब्दाडम्बर नहीं चल सकता। है हिन्दी वालों के पास इसका कोई उत्तर ?

बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। भाषा एक सिद्धान्त नहीं, जो तर्क से सिद्ध किया जा सके। भाषा एक व्यवहार की, नित्य के काम की चीज है। भाषा में वे ही शब्द जीवित रहेंगे जो नित्य बोलचाल में आते हैं, और उन्हीं में भाषा के जीवन और शक्ति की अभिव्यक्ति होगी। और बोलचाल में वे ही शब्द अपने आप आवेंगे जिन्हें सब समझते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि जब दो व्यक्ति आपस में बात करते हैं तो उसी भाषा और उसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं जिसे दोनों समझते हैं। इस नियम में कोई तर्क व्याघात नहीं डाल सकता। अब हिन्दी की परिस्थिति पर गौर कीजिये। समस्त हिन्दी प्रदेश में हिन्दी के साथ साथ उर्दू चलती है और सब जगह हिन्दी पढ़ने वाले और उर्दू पढ़ने वाले घुले मिले रहते हैं। ऐसी अवस्था में यदि हिन्दी वाले अपने हिन्दी शब्द जानते हैं और हिन्दी में प्रचलित उनके उर्दू पर्याय भी जानते हैं, परन्तु उर्दू वाले केवल उर्दू पर्याय जानते हैं, तो हिन्दी प्रदेश की बोलचाल

सुन पड़ते हैं) हो गया है। चूँकि इस समय राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, सभी हलचलों मे शहरवालों के हाथ मे प्रभुत्व है, प्रत्येक बात शहरो के मापदंड से नापी जाती है। विदेशी शासन ने शहरो को गाँवो से और बुद्धिजीवी वर्ग को वास्तविक जनता से इतना दूर कर दिया है कि शहरवाले हर एक बात को अपने दृष्टिकोण से देखने के आदी हो गये हैं। भाषा के मामले में भी यही बात है। लखनऊ मे हिन्दुस्तानीवादी बड़े तपाक से पूछेंगे, म्याँ, यहाँ 'अतिथि' कौन बोलता है (बिलकुल ठीक), और 'मेहमान' को ('गेस्ट' को नहीं) 'हिन्दुस्तानी' की उपाधि दे देंगे, मानो लखनऊ से तीन कोस पर चारो ओर बसने वाले विशाल जन समुदाय मे, जिनसे अवध आबाद है, चलने वाले 'पाहुन' शब्द का कोई महत्व ही न हो। हिन्दी वाले जब लिखने बैठेंगे तो या तो 'मेहमान' रहने देंगे या उसके स्थान पर 'अतिथि' धर देंगे जिसे कोई नही बोलता। 'पाहुन' उन्हें भी नहीं सूझेगा या रुचेगा।

तात्पर्य यह कि हिन्दी वाले, जो अपनी भाषा के लिये जनता की भाषा होने का दावा करते हैं, या तो एक ऐसे अल्पसख्यक वर्ग में प्रचलित अरबी फारसी शब्दो को 'हजम' कर लेंगे जो दाल में नमक के बराबर भी नही है या उनके स्थान मे अमर-कोष से शब्द चुन लायँगे जिन्हें कोई नहीं बोलता—कथा कहते समय पडितजी भी नही बोलते।* अपने घर की दौलत—वास्तविक हिन्दी शब्द जो अधिकाश जनता और वास्तविक मातृ-भाषा मे प्रचलित हैं—नही रुचनी। यह सत्य है कि हिन्दी में यह प्रवृत्ति उर्दू से आई है (उर्दू का फसाहत वाद), प्राचीन हिन्दी साहित्य मे ऐसा नहीं है, उसमे देशज और तद्भव शब्द निसंकोच भाव से और धड़ल्ले से आते हैं और बाद ही को हम उर्दू के प्रवाह मे बह गये। परन्तु यदि आज हिन्दी को उर्दू

*ऐसे ही शब्दों के कारण 'हिन्दी' पर 'कृत्रिम' होने का लांछन लगाया जाता है। आगे देखिये।

भाषा सदैव एक रही है और एक रंगी, और उसमें हजारों शब्दों के दो दो पर्याय न कभी चले हैं और न कभी चल सकते हैं। यदि एक

भूति' के बजाय 'हमदर्दी', 'मनुष्यता' के बजाय 'इन्सानियत', अर्थात् वे सभी उर्दू शब्द जो हिन्दी उर्दू दोनों में आते हैं और इस कारण जिन्हें उत्तरी भारत की (अर्थात् हिन्दी उर्दू प्रदेश की) सब जनता समझती है, प्रयुक्त करता है और उनके हिन्दी पर्यायों को कभी प्रयुक्त नहीं करता, तो वह क्या बुरा करता है? सिनेमा भाषा का प्रेमी नहीं, रुपये का प्रेमी है। उसे हमारे शब्दों से प्रेम क्यों हो, जब हमें ही उनसे प्रेम नहीं, हम ही उनके उर्दू पर्यायों को धड़ल्ले से लिखते हैं (और बोलते तो केवल उर्दू शब्द ही हैं)? सिनेमा के पात्र उन शब्दों को क्यों बोलें जिन्हें हम ही नहीं बोलते, और उन शब्दों को क्यों न बोलें जिन्हें सब बोलते हैं? जब कोई चित्र-निर्माता विशेष कारणों से, विशेष कर धार्मिक चित्रों में, ऊपर वाले उर्दू शब्दों के बजाय हिन्दी शब्दों का प्रयोग करता है, तब हम उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं और 'हिन्दी प्रेम' के लिये उसे बधाई देते हैं, परन्तु यह सोचकर शर्म नहीं आती कि इसकी प्रशंसा करने की नौबत ही क्यों आई। यह एक ऐसी साधारण बात क्यों नहीं है जिसकी प्रशंसा करने की आवश्यकता ही न हो और जिसे प्रत्येक चित्र-निर्माता स्वयम् अपने लाभ के लिये करना आवश्यक समझे? वास्तव में हम अपनी कमज़ोरी की तरफ़ देखना नहीं चाहते। यह सोचने नहीं बैठते कि ऐसे चित्र कितने हैं जिनमें इन हिन्दी शब्दों का प्रयोग हुआ है (और क्यों हुआ है) और ऐसे चित्र कितने हैं जिनमें इनके उर्दू पर्यायों का प्रयोग हुआ है, और इस व्यापारिक युग में ऐसे, हिन्दी शब्दों वाले, दो चार चित्र भी कब तक बन सकेंगे। ऐसा क्यों है कि कलकत्ता (अर्थात् बँगला प्रदेश) और बम्बई (अर्थात् मराठी-गुजराती प्रदेश) में जो 'हिन्दुस्तानी' के चित्र बनते हैं उनमें भी यही उर्दू शब्द आते हैं। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि यह बात कि हमारे हिन्दी शब्द अन्य भाषाओं के अधिक निकट हैं बिल्कुल बेकार है, वास्तव में हिन्दी प्रदेश में प्रचलित हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही मुख्य है?

सारांश यह है कि सिनेमा का मामला एक ऐसा मामला नहीं है जिसे हम आन्दोलन चलाकर या केन्द्रीय धारा-सभा में उठा कर ठिकाने पर ला सकें।

भाग में उस भाग विशेष के देशज शब्द खड़ी बोली में प्रयुक्त होते हैं। मान लीजिये कहीं अरबी फारसी शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। हम प्रत्येक शब्द के दर्जनों पर्याय तो ले नहीं सकते। हमें भाषा को सार्वदेशिक रूप देने के लिए सबसे अधिक निकट पर्याय छाँट लेना है। क्यों न हम अरबी फ़ारसी शब्द के बजाय उसका कोई देशज पर्याय छाँटें ? हिन्दी सम्पूर्ण हिन्दी-प्रदेश की साहित्यिक भाषा इसीलिये है कि उसमें हिन्दी प्रदेश की सभी बोलियाँ अन्तर्निहित हैं। जब हिन्दी ब्रज, अवधी, बुन्देली, कन्नौजी, छत्तीसगढी, आदि बोलियों से अपना घरेलू नाता जोड़ती है तो उसे इन बोलियों को अरबी फारसी की अपेक्षा प्राथमिक महत्व भी देना पडेगा, और विदेशी भाण्डार की ओर ताकने से पहले इन बोलियों के शब्द-भाण्डार से शब्द चयन करना होगा। इन हिन्दी बोलियो के बाद राजस्थानी और बिहारी बोलियों की बारी आयगी जिनके बोलने वालों ने हिन्दी को अपनी साहित्यिक भाषा के रूप मे स्वीकार किया है। इतना बड़ा देशी खजाना सामने होते हुये विदेशी शब्दों को अपनाना घोर मूर्खता और पागलपन है। (हाँ, अगर हिन्दी को केवल शहरों के थोडे से लोगो की और उनमें से भी केवल पुरुषों की भाषा बनाना अभीष्ट है, तो बात दूसरी है।) यही देशज-शब्द-प्रधान हिन्दी वास्तविक हिन्दुस्तानी या जनता की भाषा होगी जो सब प्रकार से स्वदेशी, बोलचाल की, जीवित भाषा होगी। यदि कोई हिन्दुस्तानी वाला कहेगा कि अरबी फारसी शब्द बोलचाल में प्रचलित है इसे क्यों नहीं लेते, तो हम कह सकेंगे कि इसका यह देशज या तद्भव पर्याय भी बोलचाल में प्रचलित है इसलिये इसे ही क्यो न रहने दें ? बोलचाल में प्रचलित एक एक शब्द के डेढ़ दर्जन पर्यायों को रखना है तो वे अपनी हिन्दुस्तानी में रक्खें, हमें इस गड़बड़-घोटाले की आवश्यकता नहीं (और उर्दू को तो नहीं है ही—वह छोटे से वर्ग में प्रचलित केवल अरबी फारसी शब्दों को ही लेकर सतुष्ट है)।

यहाँ दो आक्षेपों का उत्तर देना असगत न होगा। पहला आक्षेप यह

हमें पृथ्वी की जगह जमीन, आकाश की जगह आसमान और अभ्यास की जगह आदत कहने की आदत पड़ गई है "" ('अच्छी हिन्दी', पृष्ठ १८५), उसी प्रकार तीस वर्ष बाद दूसरी पीढ़ी 'तक़रीर', 'मकसद', 'स्यासी', 'वजारत', 'सदर', 'सदारत' "को सरल और 'भाषण', उद्देश्य', 'राजनीतिक', 'मंत्रि-मंडल', 'सभापति', 'सभापतित्व'——को कठिन समझेगी, और फिर धीरे धीरे लिखित हिन्दी से भी इन हिन्दी शब्दों का बहिष्कार हो जायगा, और इस सबके लिये वे हिन्दी लेखक ही उत्तरदायी होंगे जो आज उर्दू कोष से छाँट छाँट कर उर्दू शब्दों को हिन्दी में घुसेड़ने में ही अपना पाँडित्य समझते हैं। कोई जीवित साहित्यिक भाषा, यदि उसे जीवित रहना है, बोल चाल की उपेक्षा नहीं कर सकती। यदि हिन्दी में साधारण बोलचाल में सब जगह प्रचलित उर्दू शब्दों के स्थान में हिन्दी शब्दों का जबर्दस्ती प्रयोग किया गया, तो वह संस्कृत के समान मृत-भाषा हो जायगी, और यदि हिन्दी में बिना मर्यादा के और अनावश्यक उर्दू शब्द घुसेड़ने की यही प्रवृत्ति रही और हिन्दी जीवन के साथ भी चली, तो कालान्तर में साहित्यिक हिन्दी भी उर्दू में परिणत हो जायगी, और जो हिन्दी शब्द आज अपने उर्दू पर्यायों के साथ साथ हिन्दी में दिखाई देते हैं वे एक एक करके बिलकुल लुप्त हो जायँगे। बोलचाल की वास्तविक कामन भाषा तो उर्दू होगी ही, और उसी में सरकारी काम होगा, रेडियो बोलेगा और सिनेमा चित्र बनायेगा।

इसका परिणाम भी समझ लेना चाहिये। अपने प्राचीन शब्दों के छूट जाने से अपना प्राचीन साहित्य भी हमसे दूर हो जायगा और हमारी संस्कृति तथा सभ्यता को एक जबर्दस्त धक्का लगेगा। भाषा संस्कृति और सभ्यता का जीता जागता प्रतीक होती है। भाषा का स्वाभाविक विकास या परिवर्तन होना और बात है, उसका विकृत और दूषित होना और बात। मध्यदेश की भाषा संस्कृत बुद्ध के समय में बोलचाल में पाली का रूप धारण कर चुकी

हैं उनके विषय मे ऊपर जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं उन्हीं के अनुसार हिन्दी मे से उन अरबी फ़ारसी शब्दों को भी निकाल डालना चाहिये जिनके संस्कृत तत्सम और तद्भव पर्याय जनता की बोलचाल मे प्रचलित हैं, भले ही वे अरबी फ़ारसी शब्द भी विशिष्ट वर्गों की अथवा जनता की ही बोलचाल में प्रचलित हों। ऐसे अरबी फ़ारसी शब्दों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

हक (अधिकार), बेरहम (निर्दयी), बेशर्म (निर्लज्ज), संजीदा (गम्भीर), रूह (आत्मा), गुनाह (पाप), सवाब (पुण्य), बदनसीब (अभागा), हुक्म (आज्ञा), कब्जा (अधिकार), रोजाना (नित्य), रोज (दिन), किला (गढ), जहर (विष), ज़हरीला (विषैला), मर्ज (रोग), मरीज (रोगी), दरिया (नदी), बलगम (कफ), मुलाक़ात (भेंट), यकीन (विश्वास), सजा (दड), जुर्म (अपराध), मुजरिम (अपराधी), क़सूर (दोष), खिदमत (सेवा), बेवकूफ (मूर्ख), इन्साफ़ (न्याय), इन्साफ़-पसन्द (न्यायी), खैरियत (कुशल), खैर सल्ला (कुशल मगल), बेवा (विधवा), ख्वाहिश (इच्छा, अभिलाषा), रज (दुख), तकलीफ (कष्ट), बारिश (वर्षा, बरखा), तफरीह (आनन्द), फौरन (तुरन्त), बदहज्मी (अपच, औगुन), शाम (सन्ध्या, साँझ), जिस्म (शरीर, देह), रोजगार (व्यापार), जमीन (धरती, भूमि, भू), शादी (विवाह, ब्याह), मुल्क (देश), रिश्तेदार (सम्बन्धी), रिश्ता (सम्बन्ध), मुराद (इच्छा), औलाद (सन्तान), कदम (पग), कतार (पक्ति, पाँती), ख्वाब (स्वप्न, सपना), जायका (स्वाद), वजीर (मन्त्री), हिस्सा (भाग), तजुरबा (अनुभव), तजुरबेकार (अनुभवी), एतबार (विश्वास), पनाह (शरण), दौलत (धन), वजह (कारण, कारन), उम्मीद (आशा, आस), बेफिक्र (निश्चिन्त, निचिन्त), फिक्र (चिन्ता), बादशाह (राजा), मिज़ाज़ (स्वभाव), खुश (प्रसन्न), हुकूमत (राज), सल्तनत (राज्य,

२. द्वैतवादियों के कुछ तर्क

हिन्दी की इस द्वैत की बीमारी को स्वास्थ्य सिद्ध करने के लिये कुछ तर्क भी उपस्थित किये जाते हैं। उन पर भी विचार कर लेना चाहिये।

(१) प्रचलित अरबी फारसी शब्दों को कैसे छोड़ा जा सकता है।

अवश्य नहीं छोड़ा जा सकता। इतना ही नहीं, प्रचलित शब्द छोड़ने से भी नहीं छूट सकते। वास्तव में इसीलिये हिन्दी वालों को सावधान करने की ज़रूरत है। परन्तु 'प्रचलित' से तात्पर्य क्या है? संसार की जीवित भाषाओं का ऐसा कौनसा शब्द है जो कहीं न कहीं प्रचलित नहीं है? जिस प्रदेश को हम 'हिन्दी प्रदेश' कहते हैं (अर्थात्, युक्त-प्रांत, बिहार, मध्य-प्रांत और राजस्थान) उसमें प्रचलित अर्थात् उसकी विभिन्न बोलियों में प्रचलित सभी शब्द क्या हिन्दी में हैं अथवा लिये जा सकते हैं? यदि केवल खड़ीबोली (लिखित खड़ीबोली या बोली जाने वाली खड़ीबोली?) में प्रचलित शब्दों को 'प्रचलित' की उपाधि दी जा सकती है, तो उर्दू का ऐसा कौनसा शब्द है जो 'प्रचलित' नहीं है—और वह भी इसी हिन्दी प्रदेश में? फिर हिन्दी में केवल इतने ही उर्दू शब्दों को घुसेड़ कर कनात क्यों कर ली जाती है? हिन्दी को उर्दू से भिन्न रखने की ही क्या जरूरत है? चूंकि मुसलमान उर्दू छोड़ नहीं सकते और न उसमें कोई परिवर्तन कर सकते हैं, हिन्दी वाले ही हिन्दी को उर्दू बना दें—कामन भाषा भी बन जाय और हिन्दी उर्दू का झगड़ा भी खतम हो जाय। सब उर्दू शब्द 'प्रचलित' ही होंगे। फिर, इंगलिस्तानी या बाबू हिन्दुस्तानी भी तो खड़ी बोली है। उसके 'प्रचलित' अँगरेजी शब्द क्यों छोड़ दिये जाते हैं? 'खत', 'तकरीर', 'स्यासी', 'वजारत' ...... आदि, आदि ही क्यों? 'लेटर', 'स्पीच', 'पोलीटिकल', 'मिनिस्टरी' आदि, आदि भी क्यों नहीं?

ईमानदारी, ईमान, मुफ्त, परेशान, ताज़ा, मंसूख, मुअत्तल, तफतीश, शिनाख्त, मुआवज़ा।

इसमें कुछ अरबी फारसी शब्द ऐसे भी लेने पड़ेंगे जिनके हिन्दी पर्याय हैं तो, पर वे अरबी फारसी शब्दों के सब प्रयोगों और अर्थों में रूढ़ नहीं हैं। उदाहरणार्थ, 'यह दिलचस्प कहानी है' के बजाय यह तो कह सकते हैं 'यह मनोरंजक कहानी है,' परन्तु 'इस मामले से मुझे दिलचस्पी है' में 'दिलचस्पी' को नहीं बदला जा सकता। 'इधर उधर से पूँजी जमा की' की जगह 'इधर उधर से पूँजी इकट्ठी की' हो सकता है, परन्तु 'डाकघर में रुपया जमा कर दो' के बजाय 'डाकघर में रुपया इकट्ठा कर दो' नहीं हो सकता। 'हिसाब सीखो' मे 'हिसाब' की जगह 'गणित' हो सकता है, परन्तु 'खर्च का हिसाब यों है' में 'हिसाब' की जगह 'गणित' भद्दा और मुहावरे के विरुद्ध होगा ('हिसाब' 'Mathematics' और 'Account' दोनों के अर्थ में रूढ है, 'गणित' नहीं है)। 'पत्र की प्रतिलिपि' हो सकता है, परन्तु 'अँगरेजों की नकल' कहना पड़ेगा। परन्तु ऐसे अरबी फारसी शब्दों को हमे तभी प्रयुक्त करना चाहिये जब उनके स्थान मे अपने शब्द प्रयुक्त करना सम्भव न हो, अर्थात् जब मुहावरे, बोलचाल या रोजमर्रा का तकाजा हो। इन शब्दों से यही प्रकट होता है कि ज्यों ज्यों कोई शब्द अधिकाधिक व्यवहार मे आता है त्यों त्यों वह अनेक अर्थों में रूढ होता चला जाता है। ('मौसम' का उदाहरण पहले दिया जा चुका है।) हमने अपने स्वदेशी शब्दो की ओर से नज़र फ़ेर ली, इसलिये उनके अर्थ संकुचित होते चले गये। हमें अब अपने शब्दों का अर्थ विस्तृत करना चाहिये और उन्हे विभिन्न ध्वनियों और अर्थों मे रूढ़ करना चाहिये (उदाहरणार्थ, 'यात्रा' को केवल धार्मिक यात्रा के लिये रिज़र्व करने की आवश्यकता नहीं, रेल के 'सफर' को भी 'यात्रा' कहना चाहिये)। मुहावरों में जो अरबी फारसी शब्द पैठ गये हैं उन्हे भी केवल मुहावरो के साथ लेना होगा, परन्तु भविष्य मे अपने ही शब्दों से मुहावरे बनाने चाहिये।

के दो दो (बल्कि तीन तीन) पर्याय होना बढे हुये हाजमे की निशानी है। यह तो बादी है। इसे छाँटना है, बढाना नहीं है।

यह तो हाजमा बढाने के विषय की बात हुई जो सदैव लागू है। परन्तु हिन्दी की तो परिस्थिति ही दूसरी है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एक भी अनावश्यक उर्दू शब्द हजम करने का अर्थ है उसके हिन्दी पर्याय से सदैव के लिये हाथ धो बैठना। यदि हम इसी प्रकार उर्दू शब्द 'हजम' करते चलेंगे तो हिन्दी उर्दू को नहीं वरन् उर्दू हिन्दी को हजम कर जायगी, अर्थात हिन्दी लुप्त हो जायगी और केवल उर्दू, अपने इसी रूप में, रहेगी। उर्दू ने जमाने से हिन्दी शब्दों को सफलता के साथ मतरूक कर रक्खा है और यह क्रम अब भी जारी है। यह नहीं हो सकता कि उर्दू वाले तो हजम किया हुआ उगलते जायँ और हिन्दी वाले स्वदेशी माल छोड़कर विदेशी माल निगलते जायँ। यदि हिन्दी को समाप्त करना ही अभीष्ट हो तो बात दूसरी है, परन्तु यदि हिन्दी की रक्षा करनी है तो बहुत सोच समझ कर खाना होगा।

(३) सभी भाषायें अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करती हैं।

अवश्य ग्रहण करती हैं। परन्तु वे ही शब्द ग्रहण किये जाते हैं जो भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के पूरक होते हैं और अपने भाण्डार में नहीं होते। आखिर उर्दू भी तो एक भाषा है जो हिन्दी के साथ साथ उसी प्रदेश में प्रचलित है। परन्तु उर्दू में तो हिन्दी जैसी धाँधली देखने में नहीं आती। उर्दू भी हिन्दी से शब्द ग्रहण करती है, परन्तु आँख मीच कर, अनावश्यक शब्द नहीं। हिन्दी को ही 'सभापति' या 'अध्यक्ष' होते हुए 'सदर' की क्या आवश्यकता पड गई? अँगरेजी ने भी हजारों शब्द विदेशी भाषाओं से ग्रहण किये हैं परन्तु अपने शब्दों के होते हुये नहीं। 'Friend' होते हुये अँगरेजी 'मित्र' या 'दोस्त' कभी ग्रहण नहीं कर सकती। हिन्दी ने भी बंगला, अँगरेजी, आदि भाषाओं से शब्द ग्रहण किये हैं और आगे भी करेगी, परन्तु केवल आवश्यक शब्द ही। 'मित्र' होते हुये हिन्दी 'Friend' ग्रहण नहीं

सलामत, मलका, उस्ताद, **मग़रूर, मर्दुमशुमारी, ओहदा, अजीबो ग़रीब, मुतफ़र्रिक, क़ुदरती, कुदरत, हमदर्दी, ज़रब, तरमीम, शहंशाह, वाजिब, तकरीबन, सेहत, क़रीब, अख्तियार,** नाराज, नाखुश, **खरीद-फ़रोख्त, अम्न, दरिन्दा, निज़ाम, शुक्रिया, सरहद, हैरतअंगेज, बरखिलाफ, बेशकीमत, मुतल्लिक, हसीन, सर्दी, मुस्तकिल, लफ्ज़, साजिश, वाकया, वारदात, फेहरिस्त, तनहा, तनहाई, नुकताचीनी,** जायज़, **इज़हार,** शराफ़त, **तमन्ना,** नुस्ख, **हरूफ** ।

हिन्दी प्रदेश की अधिकांश साधारण जनता को अभी तक साधारण बोलचाल के लिए इन शब्दों की आवश्यकता ही नहीं पड़ी । ये अरबी फ़ारसी शब्द 'जनता' की बोलचाल में प्रचलित नहीं, और इसलिए इन्हें हिन्दी में प्रयुक्त करना अपराध है । इनमें से कुछ शब्द या सभी शब्द विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में प्रचलित माने जा सकते हैं, परन्तु ऐसे विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में इनके हिन्दी पर्याय भी प्रचलित हैं, और इसलिए हम इन विदेशी शब्दों को नहीं ले सकते (इङ्गलिस्तानी के अँगरेजी शब्दों की भाँति) । यदि विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में प्रचलित कुछ अरबी फ़ारसी शब्द ऐसे भी हैं जिनके हिन्दी पर्याय विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में भी प्रचलित नहीं, तो भी हम उन विदेशी शब्दों को नहीं ले सकते (इंगलिस्तानी में प्रचलित, कितने ही हिन्दी के अप्रचलित शब्दों के अँगरेजी पर्यायों की भाँति) । जैसा पहले कहा जा चुका है, हमें उनके हिन्दी पर्याय प्रचलित करने का पूर्ण अधिकार है और हमें उन्हें अवश्य प्रचलित करना चाहिए । इस वर्ग के शब्दों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, उनमें से जिन शब्दों को हिन्दी में घुसेड़ना लेखक की राय में महापाप है, उन्हें मोटे अक्षरों में छाप दिया गया है । वास्तव में हिन्दी के जो लेखक असावधानी से या जान बूझ-कर (या 'हिंदुस्तानी' के आग्रह से ?) इन शब्दों को और इस प्रकार के अन्य शब्दों को हिन्दी में प्रयुक्त कर रहे हैं वे हिन्दी की हत्या कर रहे हैं,

रहने की नैसर्गिक शक्ति होती और जो समाज को भा जाते। यदि उर्दू न होती और मैदान में एकमात्र हिन्दी होती तब तो हिन्दी में अनावश्यक और आवश्यक अरबी फारसी शब्द आने से बिलकुल हानि न होती। जो शब्द अनावश्यक सिद्ध होते वे पुराने, जमे हुये शब्दों के मुकाबले में अपने आप मर जाते और आवश्यक शब्द भाषा में खप जाते—किसी दल को यह आग्रह न होता कि नहीं, हमारी भाषा में तो केवल यही अरबी फारसी शब्द आयेंगे, और न किसी दल को एक भिन्न लिपि में लिख कर एक भिन्न शैली और एक भिन्न साहित्य की सृष्टि करने का आग्रह होता। यदि आज अँगरेजी में सौ दो सौ अंगरेज़ी शब्दों के अरबी फारसी पर्याय जोड़ भी दिये जायँ, तो चूँकि किसी अँग्रेजी लेखक को इन अरबी फ़ारसी शब्दों के प्रति कोई आग्रह न होगा, वे चलेंगे ही नहीं—अधिक से अधिक कोष में पड़े रहेंगे। स्पष्ट है कि हिन्दी क अँगरेजी या किसी अन्य प्रदेश की एक लिपि में, एक संस्कृति वाले लेखकों द्वारा लिखी जाने वाली एकमात्र भाषा से तुलना नहीं की जा सकती। हिन्दी की विशेष परिस्थिति है। हिन्दी का पाला उर्दू से पड़ा है जिससे उसका पग पग पर मुकाबला है। और उर्दू ने प्रण कर रक्खा है कि वह हिन्दी का शब्द चारों तरफ से निराश और लाचार होकर ही लेगी और वह अपना प्रण पूर्ण रूप से निभा रही है। (उर्दू लिपि की अपूर्णता के कारण इस प्रण के निभाने में और भी सहायता मिल रही है।) उर्दू वाले हिन्दी शब्दों का बहिष्कार करने पर तुले हुये हैं। फिर हिन्दी किस प्रकार सब कुछ भूल कर 'उदार' बन जाय? यह 'उदारता' तो मौत का फन्दा प्रमाणित होगी।

(४) हिन्दी में हिन्दी शब्दों के उर्दू पर्यायों को ध्वनि का अन्तर करके लिया जा सकता है।

परन्तु कितने शब्दों को लिया जा सकता है? 'आशायों' और

चाल में 'तक़रीर' ही चलेगा, 'भाषण' पीछे पड़ता जायगा। किसी वक्ता या सिनेमावाले को भी 'भाषण' की ज़रूरत न रह जायगी। लिखित हिन्दी में भी फिर अधिकाधिक 'तकरीर' का ही प्रयोग होगा और एक पीढी बाद डा० ताराचन्द और प० सुन्दरलाल के वंशज पूछेंगे, अमाँ, यह 'भाषण' क्या चीज है ? यह हिन्दुस्तानी तो मालूम नहीं देता। वास्तव में वह एक अजीब चीज होगा, और उसका उपयुक्त स्थान मुर्दा अजायबघर या अमर-कोष होगा। 'समन्वय' (एक तरफा ?), 'उदारता' (या आत्म-समर्पण ?), 'राष्ट्रीयता' (या अराष्ट्रीय मूसलमानों की चापलूसी ?), 'प्रचलितवाद' (या उर्दू की गुलामी ?) आदि, आदि का नारा लगा कर आज जो हिन्दी लेखक 'तकरीर' और ऐसे ही अन्य अनावश्यक उर्दू शब्दों को हिन्दी में घुसेड़ रहे हैं, वे हिन्दी को जड़ से खोद रहे हैं।

साधारण श्रेणी के हिन्दी लेखकों को सन्तेप में यह सलाह निःसकोच दी जा सकती है कि वे किसी भी अरबी फारसी शब्द का प्रयोग करने से पहले यह सोच लें कि उसका हिन्दी पर्याय है या नहीं, और यदि है तो उससे काम चल सकता है या नहीं। यदि इस प्रकार वे एक बार हिन्दी में ग्रहीत या ग्रहण करने योग्य अरबी फारसी शब्द के बजाय भी अपना हिन्दी शब्द लिख जायँ, तो वह गलती हिन्दी मे अनावश्यक अरबी फारसी शब्द घुसेड़ने की गलती से कहीं अधिक क्षम्य होगी। प्रथम श्रेणी के हिन्दी लेखकों से निवेदन है कि वे हिन्दी मे किसी नवीन अरबी फारसी शब्द को प्रयुक्त करने से पहले यह सोच लें कि हिन्दी के अपने स्रोत उस शब्द का स्वदेशी पर्याय देने मे समर्थ हैं या नहीं, और उस शब्द के कारण हिन्दी के किसी प्राचीन या प्रचलित शब्द का जीवन तो खतरे में नहीं पड़ता। प्रत्येक अवस्था में, किसी भी अरबी फारसी शब्द को प्रयुक्त करने से पहले यह याद कर लेना लाभदायक सिद्ध होगा कि उसका हिन्दी पर्याय, यदि वह वर्त्तमान है, उर्दू में भूल कर भी प्रयुक्त नहीं होगा।

कोई 'I am sensible of it', कोई 'I have an understanding of it', कोई 'I have a knowledge of it', इसी प्रकार 'हिन्दुस्तानी' में हिन्दी उर्दू के सभी शब्दों के लिये गुन्जाइश हो सकती है और इस प्रकार भाषा 'समृद्ध' हो जायगी (शायद राजा जी तामिल वालों को इस प्रकार तामिल को 'समृद्ध' बनाने की सलाह न देंगे)। प्रथम तो हिन्दी और उर्दू में क्रियाओं, विभक्तियों और थोड़े से देशज शब्दों को छोड़कर और सब शब्द भिन्न भिन्न हैं। आज भी भिन्न शब्दों की सख्या २० हजार से अधिक है, और दिन पर दिन बढ़ती जाती है। जिस भाषा की कुल शब्द-संख्या लगभग ५० हजार हो, उसमें २० हजार शब्दों के—और वह भी ज्यादा प्रयुक्त होने वाले शब्दों के—२० हजार और पर्याय जोड़ देना भाषा को उस बच्चे के समान बना देना होगा जिसकी टाँगें तो दो हों परन्तु दो सिर हों और जुड़े हुये दो पेट हों। वह भाषा काम की चीज नहीं रहेगी। वह नुमाइश में रखने की चीज़ हो जायगी। अँगरेजी में 'Friend', 'Difference', 'Sky' जैसे हजारों शब्दों के दर्जनों या दो दो पर्याय नहीं हैं और न इस प्रकार के हजारों शब्दों के दो दो पर्यायों में ध्वनि का अन्तर करना सम्भव है। अंगरेजी में सब पारिभाषिक शब्द भी एक ही एक हैं और उनके अर्थ निश्चित हैं, परन्तु हिन्दी और उर्दू के पारिभाषिक शब्द सर्वथा भिन्न हैं। पारिभाषिक शब्दों में ध्वनि का अंतर करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं, और न हजारों (शीघ्र ही लाखों) पारिभाषिक शब्दों के जोड़े रखकर भाषा से एक दिन भी काम चल सकता है, और न उन्हें प्रत्येक को सिखाया जा सकता है। दूसरे, उर्दू लिपि में हिन्दी के हजारों शब्द लिखे ही नहीं जा सकते। तीसरे, यदि अँगरेजी में एक एक शब्द के दर्जनों पर्याय हैं तो एक एक शब्द के दर्जनों अर्थ भी हैं, और हमें अपनी भाषा को 'समृद्ध' बनाने के लिये अँगरेजी के सभी पर्याय-वाची शब्दों के उतने ही पर्याय ढूँढने की जरूरत नहीं—हम भी अपना एक

(आ) संस्कृत के शब्द लेते समय या संस्कृत से शब्द गढ़ते समय इस बात का पूरा ख्याल रखना चाहिये कि वह शब्द हिन्दी की ध्वनि-प्रणाली पर भार न हो। हमें उस शब्द को हिन्दी की ध्वनि-प्रणाली के अनुसार ढालकर ग्रहण करना चाहिये। बँगला वाले ऐसा ही करते हैं। बँगला में संस्कृत शब्द हिन्दी से भी अधिक हैं, परन्तु वे सब शब्द बँगला की ध्वनि-प्रणाली में ढाल लिये गये हैं। इसीलिये बँगला इतनी मधुर भाषा है। हमे भी ऐसा ही करना चाहिये। जब तक ऐसा नहीं करेंगे तब तक हिन्दी की कर्कशता दूर न होगी। 'सान्निद्ध्य', 'नैकट्य', 'दौर्बल्य', 'गाम्भीर्य', 'स्वातन्त्र्य', आदि 'सन्निद्धता', 'निकटता', 'दुर्बलता', 'गम्भीरता', 'स्वतन्त्रता', आदि के मुकाबले में लिखने में ही नहीं, बोलने में भी कितने कठिन हैं। ऐसे शब्दों को बोलते समय वक्ता को ऐसे शब्दों के प्रति स्वाभाविकतया अरुचि उत्पन्न होती है, और वह उनके सरल पर्याय ढूँढता है। ऐसे समय प्रायः अरबी-फारसी शब्द आड़े आते हैं और वक्ता भाषा-प्रेम को तिलांजलि देकर सीधी राह पकड़ता है। यह प्राकृतिक नियम है कि यदि एक शब्द बोलने मे कठिन हो और उसका कोई पर्याय बोलने मे सरल, तो सरल पर्याय ही चलेगा। अपने अपने प्रदेश में एकाधिपत्य और अखड राज राजने वाली भाषाओं की बात दूसरी है (उदाहरणार्थ तामिल प्रदेश में तामिल के कठिन से कठिन और लम्बे से लम्बे शब्द चल जायँगे), परन्तु हिन्दी प्रदेश मे हिन्दी शब्दों का उर्दू शब्दों से मुकाबला है। 'आजादी' के मुकाबले में 'स्वतन्त्रता' कहाँ चला ? हाँ, 'सुर्ख फौज' या 'आजाद हिन्द फौज' के बजाय 'लाल सेना' या 'आजाद हिन्द सेना' (यदि हिन्दी वालों को इसकी चिन्ता हो तो) चल सकता है। 'जग-ए-आजादी' के मुकाबले मे 'स्वातन्त्र्य-युद्ध' नहीं चल सकता, हाँ, 'स्वाधीनता-सग्राम' चल सकता है। भाषा की ध्वनि-प्रणाली सदैव एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चीज है, हिन्दी वालों को तो हिन्दी की ध्वनि-प्रणाली का ध्यान रखना अन्य कारणों से और भी आवश्यक है। जो शब्द हिन्दी की ध्वनि-

उस हद तक भी अपने शब्दों के मृत हो जाने का पूरा भय है क्योंकि दूसरी पार्टी यह खेल हमारे साथ खेलने के लिये तैयार नहीं।

(५) उर्दू लेखक भाषा के मामले में सजग और जागरूक (language conscious) हैं, हिन्दी लेखक नहीं हैं।

इसी का तो रोना है। मुसलमानों ने जमाने से उर्दू के विषय में प्यूरिटन (विशुद्धतावादी) रुख ग्रहण कर रक्खा है। वे अपनी भाषा और संस्कृति के मामले में जागरूक और सावधान रहे हैं, और हैं। वे जान-बूझकर हिन्दी शब्दों का बहिष्कार करते हैं। उनकी देखा देखी उर्दू के हिन्दू लेखकों ने भी वैसा ही किया (और कर रहे हैं), परन्तु हिन्दी वालों ने भाषा का महत्व नहीं समझा, उन्होंने उसकी शुद्धता की ओर ध्यान नहीं दिया और बिना संकोच और सोच-विचार के अपनी भाषा में अनावश्यक अरबी-फारसी शब्दों को घुसने दिया। इसी प्रवृत्ति को अब बदलना है। यदि इस प्रवृत्ति को नहीं बदला गया तो हिन्दी उर्दू में बदल जायगी। सदैव से इतिहास में दो भाषाओं (या दो शब्दों) की प्रतिद्वन्द्विता में उसी की भाषा (या शब्द) की विजय होती आई है जो उसका अपेक्षाकृत अधिक ध्यान रखता है और उससे अधिक दृढ़ता के साथ चिपका रहता है।

३. क्या करें ?

अब प्रश्न उठता है कि हिन्दी के इस द्वैतवाद को किस प्रकार दूर किया जाय, और इससे हिन्दी को जो खतरा पैदा हो गया है, उससे हिन्दी की रक्षा किस प्रकार की जाय। यह हिन्दी के विद्वानों, हिन्दी-प्रेमियों, हिन्दी-हितैषियों और हिन्दी की संस्थाओं के लिये अत्यंत विचारणीय और चिंतनीय विषय होना चाहिये। इस सम्बंध में शीघ्र ही कदम उठना चाहिये। विद्वानों के विचारार्थ कुछ सुझाव नीचे दिये जाते हैं।

(१) हिन्दी का स्वरूप निश्चित हो जाना चाहिये। हिन्दी में इस समय जो घाँधली चल रही है, उसे समाप्त कर हिन्दी का एक निश्चित,

हिन्दी को अदालतों, दफ्तरों और सरकारी काम काज एवं शासन (administration) में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की भी विशेष आवश्यकता है, क्योंकि पिछली कई शताब्दियों से इन स्थानों में या अरबी फारसी के शब्द चले हैं या अँगरेजी के। हिन्दी का एक स्टैंडर्ड अदालती और शासन-शब्द-संग्रह प्रकाशित किया जाय जिसमें उन अरबी फारसी या अँगरेजी शब्दों को रक्खा जाय जिन्हें हिन्दी में रखना मंजूर है और शेष के हिन्दी पर्याय देशी धातुओं से बना कर या प्राचीन ग्रन्थों को शोध कर कोष-बद्ध किये जायँ।

वैज्ञानिक, अदालती या शासन सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के विषय में धाँधली और गड़बड़ की बिलकुल गुन्जाइश नहीं रहनी चाहिये। विद्वान् मिल कर पारिभाषिक शब्दों को अन्तिम रूप से तय करें, और फिर स्टैंडर्ड कोष छपें। इस समय इस मामले में बड़ी गड़बड़ दिखाई देती है। कोई 'त्रिकोण' लिखता है, कोई 'त्रिभुज', कोई 'धारा-सभा' लिखता है, कोई 'व्यवस्थापिका-सभा' (कोई 'असेम्बली' भी), कोई 'अदालत' लिखता है, कोई 'कोर्ट', कोई 'मुद्दई मुद्दालह' लिखता है, कोई 'वादी प्रतिवादी', कोई 'जज' लिखता है, कोई 'न्यायाधीश', इत्यादि, इत्यादि। हिन्दी के समाचार-पत्रों का तो बुरा हाल है। मालूम होता है उनके सामने कोई आदर्श है ही नहीं। खूब मनमानी चल रही है। चाहे कोई संस्कृत का,

---

शब्दों और धातुओं से बनाये जा रहे हैं जिससे सब भारतीय, आर्य तथा द्रविड़, भाषाओं की पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दावली एक ही हो। इस अँगरेज़ी-हिन्दी (भारतीय) पारिभाषिक कोष का प्रत्येक शब्द देवनागरी, बँगला, तामिल तथा कन्नड़ लिपियों में छापा जा रहा है। हिन्दी की साहित्यिक संस्थाओं का कर्त्तव्य है कि वे डा० रघुवीर से सम्पर्क स्थापित करें, उनके कार्य में सब प्रकार से पूर्ण सहयोग दें और इस महाकोष से पूरा लाभ उठायें तथा अदालती, शासन संबंधी, आदि शब्दावली को अलग से छाप कर हिन्दी संसार के सामने रक्खें और उन शब्दों को प्रचलित करें।

परन्तु यहाँ केवल अरबी फारसी शब्दों के विषय में हिन्दी के स्वरूप के निश्चयीकरण पर थोड़ा सा विचार किया जायगा।

जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, अरबी फारसी शब्दों के संबंध में हमें प्रचलित-वाद से सहायता नहीं मिलती। हिन्दी-प्रदेश का ऐसा कोई कोना नहीं है जहाँ के कुछ लोग 'जुमा', 'जुमेरात' और 'पीर' न बोलते हों, परन्तु इस कारण वे हिन्दी में 'शुक्र', 'वृहस्पत' और 'सोमवार' के साथ साथ नहीं लिये जा सकते। और हिन्दी-प्रदेश में शिक्षित समाज का ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो 'फ्राइडे', 'थर्सडे', 'मंडे', 'संडे', आदि न बोलता हो (खड़ी बोली में ही), परन्तु इस कारण वे भी हिन्दी में नहीं लिये जा सकते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें सब अरबी फारसी शब्दों को हिन्दी में से निकाल देना चाहिये। हमें बहुत से अँगरेजी शब्दों को रखना है और आगे भी बहुत से अँगरेजी शब्दों को लेना है। इसी प्रकार हमें बहुत से अरबी फारसी शब्दों को रखना है और आगे भी बहुत से अरबी फारसी शब्दों को लेना है। क्या अँगरेजी और क्या अरबी फारसी, दोनों के विषय में हमारे सिद्धान्त एक से होने चाहिये। अन्तर केवल इस बात से पड़ता है कि खड़ी बोली लिखने वालों में, कम से कम अभी तक, ऐसा कोई दल नहीं जिसका अँगरेजी शब्दों अर्थात् 'इङ्गलिस्तानी' के प्रति आग्रह हो। फलत. अनावश्यक अँगरेजी शब्द साहित्य में प्रवेश नहीं करने पाते। सब खड़ी बोली लिखनेवाले—हिन्दीवाले और उर्दूवाले—लिखते समय अँगरेजी शब्दों से सतर्क रहते हैं, उन्हें बोलचाल में प्रचलित होते हुए भी नहीं लिखते यदि उनके अपने अपने पर्याय मौजूद हैं या बनाये जा सकते हैं, और प्रत्येक अँगरेजी शब्द को ठोक बजा कर और नितान्त आवश्यक समझ कर ही लिखते हैं। उर्दू वाले इसी प्रकार हिन्दी शब्दों से भी सतर्क रहते हैं, परन्तु हिन्दी वाले अरबी फारसी शब्दों को अपना ही माल समझते हैं और इच्छानुसार चाहे जिस अरबी फारसी शब्द को ला बैठालते हैं—कभी यह सोचने

त्यागना होगा। कांग्रेस नेता जब अँगरेजी बोलते या लिखते हैं तब शुद्ध और अच्छी अँगरेजी बोलने या लिखने का शक्ति भर प्रयत्न करते हैं। ईश्वर की कृपा से उन्हें अच्छी अँगरेजी आती भी है, इसलिये अँगरेजी पत्रों को उनके भाषण, वक्तव्य, लेख, आदि ज्यों के त्यों छापने में कोई उज़्र नहीं होता। परन्तु जब वे 'हिन्दुस्तानी' बोलते हैं तो हिन्दी या उर्दू की साहित्यिक परंपरा और शुद्धता का ध्यान नहीं रखते (कुछ नेताओं को छोड़ कर किसी प्रकार की 'हिन्दुस्तानी', जिसके वे गुण गाते फिरते हैं, अच्छी तरह उन्हें आती ही नहीं और न वे अच्छी तरह सीखने की आवश्यकता समझते हैं, कोई सा हिन्दी शब्द किसी भी उर्दू शब्द के साथ बैठाल दिया, होगई कांग्रेस मार्का 'हिन्दुस्तानी')। वे भाषा को जान बूझकर विकृत करने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दी पत्र उनकी अनर्गल और अटपटी 'हिन्दुस्तानी' छाप कर अपनी भाषा की मट्टी पलीद नहीं कर सकते।

(आ) हिन्दी में विदेशियों या मुसलमानों का कथोपकथन उर्दू में नहीं होना चाहिये। यह एक अत्यन्त अस्वाभाविक और आपत्तिजनक बात है, इसलिये और भी कि बड़े बड़े साहित्यिक इस भ्रम में फँसे हुये मालूम पड़ते हैं कि विदेशियों और मुसलमानों से उर्दू में ही बातचीत कराना उचित है। इस विषय में कुछ समय पहले हिन्दी पत्रों में प्रकाशित 'हिन्दी कृतियों में मुसलमान पात्रों का उर्दू में कथोपकथन' शीर्षक लेख में (देखिये परिशिष्ट १) विद्वान लेखक ने जो कहा है, उसके बाद कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(इ) हिन्दी गद्य या पद्य में इस प्रकार के वाक्यांश लिखना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण और अनुचित है—'हिन्दी का विद्वान्, उर्दू का माहिर,' 'हिंदुओं की देशभक्ति, मुसलमानों की हुब्बुलवतनी,' 'हिन्दुओं का धर्म और मुसलमानों का मजहब,' 'श्री — ने कविता सुनाई, जनाब ने अपनी नज़्म सुनाई' आदि, आदि। ये सब उदाहरण हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रों से लिये गये हैं।

बेचारे हिन्दी के कोष-प्रकाशकों का कागज और रुपया और हिन्दी के कोष-पाठकों का समय नष्ट नहीं होना चाहिये।

ज्यों ज्यों हिन्दी का शब्द-भाण्डार बढ़े त्यों त्यों हिन्दी के स्टैंडर्ड कोष का आकार भी बढ़े, परन्तु उसमें सदैव वे ही अरबी फ़ारसी शब्द समाविष्ट किये जायँ जो स्टैंडर्ड हिन्दी में ग्रहीत समझे जायँ। ऐसा नहीं होना चाहिये कि जिस किसी लेखक ने हिन्दी में जिस किसी उर्दू शब्द का प्रयोग कर दिया, उसे हिन्दी कोष में उठा कर धर दिया।

अरबी फारसी शब्दों की मर्यादा जिन सिद्धान्तों के अनुसार निश्चित होनी चाहिये, यहाँ उनका आभास देना अनुचित न होगा। इस समय हिन्दी में प्रचलित अरबी फारसी शब्द निम्नलिखित वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। ऊपर जो अरबी फारसी शब्द इकट्ठे किये गये हैं वे सब के सब इन वर्गों में विभक्त हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी में प्रचलित कुछ अन्य अरबी फारसी शब्द भी प्रत्येक वर्ग के शब्दों के उदाहरण-स्वरूप पेश किये गये हैं—

(अ) वे अरबी फारसी शब्द जिनके देशज (या संस्कृत तद्भव) पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं और इसलिये जिन्हें हिन्दी में से तुरत निकाल देना चाहिये। उदाहरण—

तलाश (खोज), सूराख (छेद), सुर्ख (लाल), वजनी (भारी, गरू), वजन (बोझ), बर्दाश्त करना (सहना), शोरगुल (हल्ला, हुल्लड़), तमाशा (खिल्ला), सहन (आँगन), बेशुमार (अनगिनती), स्याह (काला), जर्द (पीला), आबपाशी (सिंचाई), काश्त (खेती), पैदावार (उपज), जरखेज (उपजाऊ), काश्तकार (किसान), जेवर (गहना),

आये हुये सम्पूर्ण उर्दू-कोष को समाया हुआ देख कर विदेशों को हैरानी तो न हो और हमें लज्जा और हानि तो न उठाना पड़े। जो भाषा अपने को एक अलग स्वतंत्र भाषा कहती है, अपना अलग नाम रखती है और अपने को अलग लिपि में लिखती है, उसका अपना अलग कोष भी होना चाहिये जो केवल उसी का हो और उसे छोड़ कर और किसी का न हो।

रेजी के मूल अवतरण अँगरेजी की लिपि अर्थात् रोमन लिपि में दिये जाते हैं और देवनागरी में उनका हिंदी अनुवाद दिया जाता है, उसी प्रकार यदि उर्दू का अवतरण मूल रूप में देना आवश्यक हो तो उसे उर्दू लिपि में दिया जाय और देवनागरी में उसका हिन्दी अनुवाद दिया जाय। जो पाठक उर्दू जानता है और मूल समझ सकता है, वह उर्दू लिपि में पढ भी लेगा—देवनागरी द्वारा हिंदी पाठकों को उर्दू क्यों सिखाई जाय ? जब तक उर्दू वाले देवनागरी को स्वीकार नहीं करते अर्थात् जब तक उर्दू देवनागरी में नहीं लिखी जाती, और जब तक उर्दूवाले एक पृथक लिपि में लिखकर उर्दू नामक एक पृथक भाषा या शैली की सृष्टि और विकास करना नहीं छोडते, तब तक देवनागरी में सदैव हिंदी ही होनी चाहिये, उर्दू कभी नहीं। हिंदी पत्र पत्रिकाओं को देवनागरी में उर्दू के लेख, कवितायें भी नहीं छापनी चाहिये और न उर्दू पुस्तकों की समालोचना करनी चाहिये।

हिंदी में जब किसी अग्रहीत अरबी फारसी शब्द को किसी विशेष कारण से प्रयुक्त करना पडे, तो उसे उसी प्रकार उल्टे कामाओं के बीच में और उसके आगे कोष्ठक में उस शब्द को फ़ारसी लिपि में लिखकर प्रयुक्त करना चाहिये जिस प्रकार हिंदी में अग्रहीत और अपरिचित अँगरेजी शब्द उल्टे कामाओं के बीच में लिखा जाता है और उसके आगे कोष्ठक में उसे रोमन लिपि में लिखा जाता है। इससे पाठक को मालूम हो जायगा कि यह शब्द विदेशी है, हिंदी का नहीं है और यहाँ किसी विशेष कारण से प्रयुक्त किया गया है। अँगरेजी में इस प्रकार के शब्दों को प्रायः इटैलिक्स में लिखा जाता है।

(उ) हिन्दी के कुछ लेखकों और कवियों ने हास-परिहास की परिभाषा अधिकाधिक उर्दू शब्दों का प्रयोग ही मान रक्खी है। उनकी राय में परिहास की पराकाष्ठा यही है कि हिन्दी शब्दों के स्थान में ढूँढ ढूँढ कर दूरूह अरबी फारसी शब्द धर दिये जायँ। अपनी ही भाषा में अपने ही शब्दों

यह भूलना न चाहिये कि अरबी फारसी और उर्दू का प्रभाव जनता—गाँवों में बसने वाली जनता जो सम्पूर्ण जन-संख्या का ९० प्रतिशत है और शहरों में भी निम्नवर्ग की जनता—की भाषा पर बहुत कम पड़ा है। शहरों में स्त्रियों की भाषा अर्थात घर के भीतर बोली जाने वाली भाषा—वास्तविक मातृ-भाषा—पर भी विदेशी प्रभाव बहुत कम पड़ा है। अरबी फारसी शब्दों का बाहुल्य तो अदालतों, कचहरियों, दफ्तरों, पुलिस की चौकियों, म्यूनिसपैलटियों, आदि के चारों तरफ मँडराने वाले लोगों की बोलचाल में मिलता है क्योंकि इन सब जगहों में विदेशी शासन ने पहले फारसी को और फिर उर्दू को बैठा रक्खा है। हमारी मानसिक गुलामी ने इन्हीं लोगों की भाषा को प्रधानता दे दी है। (जिस प्रकार आज इंगलिस्तानी की नकल करना शिष्टता का ट्रेड-मार्क बन गया है; कांग्रेस के नेता आपस में और बोलचाल में उस उर्दू उर्फ हिन्दुस्तानी का प्रयोग नहीं करते जिसे वे जनता के सामने जनता की भाषा कहकर मञ्च से बोलते हैं, परन् शुद्ध इंगलिस्तानी बोलते हैं)। अपने को जनता का प्रतिनिधि कहने वाले, विदेशी शासन और विदेशियत के पीछे नोन सत्तू बाँधकर चलने वाले, गाँधीवादी, राष्ट्रवादी, घोर राष्ट्रीयता और शुद्ध स्वदेशी के पुजारी कांग्रेसजनों को भी यही भाषा प्रिय है। उन्हें भाषा छोड़कर शेष सब स्वदेशी और जनता का प्रिय है। भाषा के मामले में अदालतों की भाषा ही उनका आदर्श है। (चाहे जब युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में जाकर 'हिन्दुस्तानी' सुन लीजिये; उदाहरणार्थ, सबके मुँह से 'मुल्क' सुन पड़ेगा—बेचारा देश अपने ही देश में देशियों द्वारा देश से निर्वासित मिलेगा)। सारांश यह कि 'आमफहम', 'बोलचाल', 'प्रचलित' का मापदंड शहरों (और वह भी मुख्यत दिल्ली और लखनऊ के बीच के शहरों) के इसी कलमजीवी, अर्ध-राजनीतिक अत्यल्पसंख्यक वर्ग की बोलचाल (और वह भी घर के बाहर की बोलचाल—मुंशीजी घर में 'जौजे' नहीं, 'हमार मेहरारू' ही कहते

है'। किसी अखिल भारतीय सभा में युक्त-प्रान्त वाले से पूछिये, 'आप कौन हैं, कहाँ के हैं ?' उत्तर मिलेगा, 'हिन्दुस्तानी'। बंगाली अपनी मातृ-भाषा बँगला बतायेगा, 'बँगला' में बोलने का आग्रह करेगा और अपने आप को बंगाली बतायेगा ('हिन्दुस्तानी' तो हिन्दुस्तान के सभी निवासी हैं)। इसी प्रकार बिहारी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, आदि अपनी अपनी मातृ-भाषा और अपना अपना प्रान्तीय नाम लेंगे, किन्तु अपनी मातृ-भाषा 'हिन्दी' और अपने आप को 'हिन्दी' बताने वाले विरले ही मिलेंगे।

सारांश यह कि इस 'हिन्दुस्तानी' नाम के कारण यह भावना दृढ़ होती जा रही है कि हिन्दी किसी प्रदेश की, किसी की मातृ-भाषा नहीं, उसे कोई नहीं बोलता और उसकी जगह जो कुछ है सो यह 'हिन्दुस्तानी' है। इससे हिन्दी को प्रान्त-भाषा की पदवी से भी हटाने में (जैसे रेडियो में), और उसकी छाती पर उर्दू और उर्दू लिपि को बैठाने में बड़ी सहायता मिल रही है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये १९४१ की जन-गणना के समय लखनऊ रेडियो से और अन्य उपायों से जन-गणना से सम्बन्धित अफसरों ने युक्त-प्रान्त की जनता को सलाह दी कि वे अपनी मातृ-भाषा 'हिन्दुस्तानी' लिखावें (वे बोलते ब्रज, अवधी, आदि चाहे जो हो!), और जन गणना के फारम भरने वालों को सरकारी आदेश दिया गया कि वे मातृ-भाषा के खाने में किसी के हिन्दी या उर्दू बताने पर केवल 'हिन्दुस्तानी' लिखें। ये सब 'हिन्दी' का नाम निशान मिटाने की तैयारियाँ हैं। मजे की बात यह है कि सन् १९३१ की जन-गणना तक जन-गणना के फारमों और रिपोर्टों में युक्त-प्रान्त की मातृ-भाषा 'हिन्दी' लिखी गई है। दस वर्ष में हिन्दी बदलकर 'हिन्दुस्तानी' हो गई! यह है गांधी-कांग्रेस-चमत्कार! गांधी-वादी, राष्ट्र-वादी कहेंगे, हिन्दी उर्दू के साथ समान व्यवहार किया गया, चलो हिन्दी उर्दू का भेद मिट गया (कितनी आसानी से, जादू का डंडा फिरा कर!), आदि, परन्तु वास्तव में हिन्दी का अस्तित्व मिट गया। उर्दू तो किसी प्रदेश की मातृ-भाषा है ही नहीं, उसका क्या बिगड़ा?

से लोहा लेना है, बोलचाल की भाषा बनना है तो हमें इस प्रवृत्ति का तुरन्त त्याग कर साहस में जनता की भाषा बनना पड़ेगा। 'अनुनय विनय' का मोह त्याग कर 'चिरौरी' को अपनाना पड़ेगा, नहीं तो शिष्ट बोलचाल में 'आरजू मिन्नत' ही चलता रहेगा। लाख 'प्रतीक्षा' लिखिये, शिष्ट बोलचाल में 'इन्तजार' ही चलेगा, परन्तु यदि साहित्यिक हिन्दी 'बाट' अपना लेगी तो शिष्ट बोलचाल में भी 'बाट' चल जायगा और यदि ऐसा नहीं करेगी तो जो जनता आज 'बाट' बोलती है वह भी 'इन्तजार' बोलेगी, क्योंकि यह प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक आदमी अपनी से ऊँची श्रेणी के आदमी की बोलचाल को अपनाता है। जब तक साहित्यिक हिन्दी 'चिरौरी', 'बाट' जैसे ठेठ हिन्दी शब्दों को शिष्ट साहित्य में स्थान देगी नहीं, तब तक उच्च श्रेणियों और शहरवालों की इन शब्दों के प्रति झिझक दूर होगी नहीं, और जब तक ये शब्द ऊँची श्रेणियों और शहरवालों की बोलचाल में स्थान पायेंगे नहीं, तब तक इन शब्दों को बोलने वाली जनता भी इन शब्दों को गँवारू समझेगी और इन्हें छोड़कर शिष्ट बोलचाल में प्रचलित अरबी फारसी शब्द अपनाती जायगी। इस प्रकार इन शब्दों को न अपना कर उनके स्थान में विदेशी शब्दों को प्रयुक्त करके एक ओर तो हिन्दी वाले साउदे के शब्दों में * अपनी मातृ-भाषा के प्रति अक्षम्य अपराध करेंगे और दूसरी ओर अपने इन शब्दों की मौत का कारण बनेंगे।

यदि तनिक ध्यान से देखा जाय तो हिन्दी में प्रचलित सैकड़ों अरबी फारसी शब्दों के बोलचाल में प्रचलित ऐसे देशज और तद्भव पर्याय मिल

---

* "Ours is a noble language, a beautiful language. I can tolerate a Germanism for family sake, but he who uses a Latin or a French phrase where a pure old English word does as well, ought to be hung, drawn and quartered for high treason against his mother tongue"

(Southey in 'Essay on Style')

(८) बोलचाल की भाषा का सुधार होना चाहिये।

लिखते समय तो भाषा का कुछ ध्यान रक्खा भी जाता है, परन्तु बोल-चाल में शिक्षित समाज भाषा का तनिक भी ध्यान नहीं रखता। परिणाम-स्वरूप शहरों के शिक्षित समाज की बोलचाल में एक ओर अनावश्यक (भाषा की दृष्टि से) अँगरेजी शब्दों की भरमार है—यहाँ तक कि उसका अलग नाम 'इङ्गलिस्तानी' या 'बाबू हिंदुस्तानी' रख दिया गया है, और दूसरी ओर अनावश्यक अरबी फारसी शब्दों की भरमार है। दोनों बातों के कारण एक ही प्रकार के हैं। पहले 'इँगलिस्तानी' को लीजिये जिसका अभी साहित्य में प्रवेश नहीं हुआ है। इसके विषय में डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं, "... मैं तो आज देखता हूँ कि भाषा के बोलने के सम्बन्ध में अधिक से अधिक लापरवाही बरती जाती है। मेरे विश्वविद्यालय ही में किन्हीं दो विद्यार्थियों की बातचीत सुन लीजिये। उनके सारे वार्तालाप में सम्भवतः एक भी वाक्य ऐसा न होगा जिसे अच्छी हिंदी कह सकें। उदाहरण के लिये मेरे एक विद्यार्थी ने एक दिन मुझसे कहा—डाक्टर साहब, आप उस मीटिंग में प्रेजेंट नहीं थे। बड़ा इन्टरेस्टिंग डिसकशन हुआ। मैं स्पीकर के प्वाइन्ट अव् व्यू से ऐग्री नहीं कर सका और मैंने ऐसी फोर्सफुल स्पीच डेलीवर की कि आडिएंस वाज मूव्हड कम्पलीटली एंड दि हाउस वाज इन माइ फ़ेवर। मैंने उसे उसी समय रोककर कहा कि मैं नहीं समझा। जरा हिंदी में कहिये। वह लज्जित हुआ और 'एक्सक्यूज मी' कह कर चला गया। उसने 'क्षमा कीजिये' नहीं कहा।...... ..यदि अँगरेजी की संज्ञाओं, उसके विशेषणों और क्रिया विशेषणों के मिश्रण की यही प्रवृत्ति भाषा में रही तो आज से सौ वर्ष बाद हिंदी से संघर्ष लेने के लिये आज की हिंदुस्तानी की भाँति कोई इङ्ग-लिस्तानी भाषा खड़ी होगी और वही राष्ट्र-भाषा होने के लिये हिंदी से युद्ध करेगी। भाषा-सुधार सम्बन्ध में हमारा जो गम्भीर उत्तरदायित्व है, उसे अभी हम आँख खोलकर नहीं देख सकते, यह हमारा नैतिक पतन है।"

अवस्था न सुधरे तो बेकार है उसका होना और झूठ बात है उसे मातृ-भाषा बताना।

आज हिन्दी एक विशाल प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। समझ में नहीं आता कि उसे 'आमफहम' बनाने के लिये एक छोटे से वर्ग में प्रचलित अरबी फारसी शब्दों को घुसेड़ना ही क्यों आवश्यक है। इस भाषा का आधार खड़ी बोली है, खड़ी बोली के प्रत्येक देशज शब्द को, किसी भी अरबी फारसी शब्द के मुकाबले में, हिन्दी में होने का जन्मसिद्ध अधिकार तो है ही, हिन्दी-प्रदेश की किसी भी जनपदीय बोली के किसी देशज शब्द को भी अरबी फारसी शब्द के मुकाबले में हिन्दी में होने का कहीं अधिक अधिकार है। दूसरे शब्दों में, हमें हिन्दी से उन सभी अरबी फारसी शब्दों का बहिष्कार कर देना चाहिये जिनके देशज पर्याय हिन्दी-प्रदेश की किसी भी बोली में मौजूद हैं, और हिन्दी प्रदेश के किसी भी जनपद की बोलचाल में प्रचलित हैं। ये देशज शब्द अरबी फारसी शब्दों की अपेक्षा हमारे कहीं अधिक निकट हैं, और ये शब्द जीवित हैं जब कि इन अरबी फारसी शब्दों के संस्कृत पर्याय बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं, इसलिये ये शब्द भाषा में जान फूंक देंगे और उसे वास्तव में आमफहम बना देंगे। इन शब्दों का कोई हिन्दुस्तानी मुकाबला न कर सकेगी। हिन्दुस्तानी का कोई समर्थक इन शब्दों का विरोध न कर सकेगा। जब बोलचाल ही भाषा के आमफहम होने का माप-दण्ड है तो हम एक अरबी फारसी शब्द के बजाय हिन्दी-प्रदेश के किसी भी भाग की जनता की बोलचाल में प्रचलित उसका देशज पर्याय क्यों न लें, भले ही वह अरबी फारसी शब्द भी कहीं बोलचाल में चलता हो। हम हिन्दी जनता के किसी विशेष वर्ग या हिन्दी प्रदेश के किसी विशेष भाग को प्रधानता क्यों दें? आज खड़ी बोली हिन्दी केवल खड़ी बोली जनपद में नहीं बोली जाती। वह सम्पूर्ण हिन्दी-प्रदेश में बोली जाती है, क्योंकि उसके बोलने वाले सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में फैले हुये हैं। हिन्दी-प्रदेश के प्रत्येक

है। जब तक जैसी हिन्दी बोलना मंजूर है वैसी ही नहीं लिखी जायगी, और जैसी लिखी जाय वैसी ही नहीं बोली जायगी, तब तक हिन्दी का उद्धार नहीं हो सकता। यह बिलकुल सीधी सी बात है कि जैसी हिन्दी बोलना मंजूर है वैसी ही लिखो और जैसी लिखते हो वैसी बोलो। और बोलते समय भाषा का उसी प्रकार ध्यान रक्खो जिस प्रकार लिखते समय रक्खा जाता है। इसके सिवा कोई दूसरा चारा नहीं। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो समय करा के छोड़ेगा और फिर बाद को पछताने से कुछ हाथ न आवेगा। लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा का सीधा और अटूट संबंध है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। कृत्रिम उपायों से दोनों में अन्तर अधिक समय तक कभी नहीं रक्खा जा सकता, इसलिये उनको सावधानी से एक दूसरे के निकट लाने में ही बुद्धिमानी है। आज हिन्दी में इतने ज्यादा अनावश्यक अरबी फारसी शब्द (जिनके विरुद्ध यह पुस्तक एक विद्रोह है) क्यों आते हैं? उर्दू में सैकड़ों उर्दू शब्दों के साथ उनके हिन्दी पर्याय क्यों नहीं आते? इसका कारण यही है कि आज के हिन्दी लेखक जिस समाज के अंग हैं और जिस समाज में उनका उठना बैठना होता है, उसकी बोलचाल में यही उर्दू शब्द आते हैं, उनके हिन्दी पर्याय नहीं आते। इस लिये जब वे हिन्दी लिखने बैठते हैं तो वे हिन्दी शब्दों को तो प्रयत्न करके, आग्रह करके बैठाते हैं, परन्तु नजर बचते ही, ध्यान बँटते ही उर्दू के शब्द, जिन्हें वे चौबीसों घन्टे चारों ओर सुनते हैं और जो उनके दिमाग में चक्कर काटते होते हैं (और जिनमें शायद वे अपनी सोचाई भी करते हैं), अनायास कलम से निकल पड़ते हैं। इसलिये एक ही वाक्य में, एक ही अर्थ में हिन्दी और उर्दू के पर्यायवाची शब्द दिखाई देते हैं। हिन्दी के द्वैतवाद का कारण बोलचाल की भाषा ही है। यदि बोलचाल का सुधार नहीं होगा और उसमें हिन्दी शब्द नहीं आयेंगे, तो हिन्दी लेखकों के लिये अप्रचलित हिन्दी शब्दों के प्रति आग्रह और प्रचलित उर्दू शब्दों के विरुद्ध चौकसी रखना अधिक समय तक संभव न होगा, और जब तक लिखित हिन्दी की

हो सकता है कि इस प्रकार हिन्दी में स्थानिकता का दोष आ जायगा। उत्तर में इतना कहना यथेष्ट है कि छोटे से वर्ग मे प्रचलित अरबी फारसी शब्दों को लेना भी स्थानिकता के दोष से खाली नहीं है (और उनके अप्रचलित संस्कृत पर्यायों को रखना तो नितान्त दोषपूर्ण है, कृत्रिम है और, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, व्यर्थ प्रयास है)। यह बात दूसरी है कि राजनीतिक कारणों से अदालतों और कचहरियों में बैठकर ये अरबी फारसी शब्द हिन्दी-प्रदेश के शिक्षित समाज के विशिष्ट वर्गों से परिचित हो गये हैं (इस प्रकार अँगरेजी शब्द भी शिक्षित समाज से परिचित हैं)। हमारे देशज और तद्भव शब्द भी, जिन्हें हम छाँटेंगे, साहित्यिक हिन्दी के द्वारा सब जगह एक समान परिचित हो जायँगे। इतना अवश्य है कि प्रत्येक लेखक को चाहे जिस देशज शब्द को प्रयुक्त करने की स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि ऐसा करने से तो खड़ी बोली हिन्दी के इतने ही रूप हो जायँगे जितनी हिन्दी प्रदेश मे बोलियाँ हैं, और सम्पूर्ण प्रदेश को एक साहित्यिक भाषा के सूत्र मे बाँधने के लिये सब जगह एक समान रूप वाली कोई भाषा न रहेगी। हमें हिन्दी की बोलियों से शब्द सावधानी और सोच-विचार के साथ ग्रहण करने होंगे, और तब उन्हें हिन्दी में, साहित्यिक हिन्दी में, स्थान मिलेगा। परन्तु यह बात इससे सम्बध रखती है कि भाषा का स्वरूप किस प्रकार, किस ढग से स्थिर किया जाय और कौन स्थिर करे, न कि इस सिद्धान्त से कि अरबी फारसी शब्दों के स्थान में उनके देशज पर्याय लेने चाहिए अथवा नहीं। भाषा का स्वरूप किस ढग से स्थिर किया जाय और कौन करे, इस पर आगे विचार किया जायगा।

दूसरा आक्षेप यह हो सकता है कि इस प्रकार हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने के इतने उपयुक्त न रहेगी। परन्तु क्या इस समय अरबी फारसी शब्दों के कारण वह राष्ट्र-भाषा होने के उससे अधिक उपयुक्त है? जिन प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी अपना सामीप्य जताती है उन भाषाओं के बोलने वालों

न आई तो लिखित हिन्दी की भी आत्मा मर जायगी। आज चारो ओर जो यह सुनने में आता है कि हिन्दी की प्रकृति मर रही है, उसमें जाति की आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं दीख पड़ता, आदि, इसका कारण यही है कि हिन्दी लिखने वाले साधारण बोलचाल में या इङ्गलिस्तानी बोलते हैं या उर्दू (और उसी मे सोचते हैं)। फिर हिन्दी की प्रकृति सुरक्षित रहे तो कैसे रहे ? भाषा की प्रकृति बोलने से बनती है, बोलने से ही वह पहचानी जाती है, बोलने से ही मुहावरे बनते हैं, शब्दो के अर्थों का विस्तार होता है, उनमे अपेक्षित ध्वनि आती है, आदि। भाषा जब बोली जाती है तभी उसमें स्वाभाविकता, प्रौढता, लचक व्यजना-शीलता और जीवन तथा प्रवाह आता है। यदि बोलचाल मे हिन्दी वाले उर्दू शब्द, उर्दू मुहावरे अपनाते चले जायँगे तो हिन्दी में लिखते समय अपने शब्द और मुहावरे अपने आप अपरिचित से, कृत्रिम और बेजान मालूम पड़ेंगे।

हिन्दी वालों को चाहिये कि वे सदैव—साधारण बोलचाल में, मित्रों की गोष्ठी मे या मंच से—शुद्ध और स्टैंडर्ड हिन्दी बोलें और बोलते समय भाषा का उसी प्रकार और उतना ही ध्यान रक्खें जितना लिखते समय रखते हैं, या रखना आवश्यक है। वे हिन्दी प्रान्तों के निवासियो—हिन्दू, मुसलमान, सिख या ईसाई—से या उनके बीच में बोलते समय उर्दू में बोलने की या उर्दू शब्दो का व्यवहार करने की भयकर भूल कदापि न करें, क्योंकि ऐसा करके वे यही सिद्ध करेंगे कि हिन्दी प्रान्तों के सब निवासी हिन्दी नहीं समझते, बहुत से निवासी उर्दू ही बोलते और समझते हैं, और उर्दू ही इन प्रान्तों की कामन भाषा है। हमें हिन्दी मुसलमानो से बातचीत करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा कि हम हिन्दी

'हिन्दुस्तानी' किस प्रकार अपनाते है। हिन्दी का भविष्य हिन्दी वालों—हिन्दी के लेखकों, साहित्यिकों और हिन्दी भाषियों—के ही हाथ में है। (आगे दूसरा भाग देखिये।)

हिन्दिया और हिन्दी प्रदेश की मातृ-भाषा या बोलचाल की भाषा ही हो सकती है। इसमें कोई काट छाँट नहीं की जा सकती। हाँ, हिन्दी को यदि नये शब्दों की आवश्यकता पड़े और वे हिन्दी की प्रकृति के अनुसार हिन्दी के देशज स्रोतों और हिन्दी की स्वाभाविक उपजीव्य भाषा संस्कृत से न मिल सकें तो उन्हें इधर उधर न जा कर राष्ट्र की अन्य भाषाओं से ग्रहण करना चाहिये। 'राष्ट्र-भाषा' का यही अर्थ हो सकता है। राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये किसी भाषा की प्रकृति नहीं बदली जा सकती और न उसकी निजी शब्दावली में परिवर्तन किया जा सकता है। सारांश यह कि पहले हिन्दी को अपनी बोलचाल की भाषा, अपने प्रदेश की मातृ-भाषा बनाना चाहिये। किसी भाषा का प्रचार अन्य भाषाओं के समीप होने के कारण नहीं होता, इससे प्रचार में आसानी भले ही हो जाय। किसी भाषा का प्रचार तो उस भाषा के बोलने वालों की शक्ति पर निर्भर है। जब वे ही उस भाषा को उसके लिखित रूप में नहीं बोलेंगे तो उसे दूसरे कैसे बोल सकेंगे? जब हिन्दी वाले जैसी हिन्दी लिखेंगे वैसी बोलेंगे, और जैसी बोलेंगे वैसी लिखेंगे, अपना सारा काम काज उसमें करेंगे और उसमें उत्तम साहित्य की रचना करेंगे तब हिन्दी में शक्ति आयेगी, उसके उदाहरण, मुहावरों आदि का आदर्श स्थिर होगा और वह चारों ओर फैल कर राष्ट्र-भाषा का पद प्राप्त करेगी। हिन्दी को हिन्दी-प्रदेश की जनता की बोलचाल के निकट लाने के लिये हिन्दी के देशज शब्दों और धातुओं को पहला स्थान देना ही पड़ेगा। इसी प्रकार हिन्दी आमफहम, जनता की भाषा, वास्तविक हिन्दुस्तानी बनेगी।

(आ) वे अरबी फारसी शब्द जिनके संस्कृत तत्सम या तद्भव पर्याय जनता की बोलचाल में प्रचलित हैं और इसलिये जिनका हिन्दी से बहिष्कार कर देना चाहिये।

हिन्दी में प्रचलित जिन अरबी फारसी शब्दों के देशज पर्याय प्रचलित

वे अपनी बोलचाल की भाषा सुधारें, और शुद्ध हिन्दी बोलचाल का आदर्श उपस्थित करें, और मंच से भी शुद्ध हिन्दी बोलें। ग्रामीण जनता की भाषा बिलकुल विकृत नहीं हुई है। जब गाँवों में शिक्षा का प्रसार और प्रचार होगा, और उनका शहरों से सम्पर्क बढ़ेगा, तो ग्रामीण जनता शहरों के शिक्षित समाज की बोलचाल को अपनायेगी। हमें चाहिये कि हम उन्हें शुद्ध हिन्दी बोलचाल दें, नहीं तो वे भी इसी वर्तमान अँगरेजी और अरबी फारसी शब्दों से बोझिल बोलचाल को अपनायेंगे, और इस प्रकार जनता की भाषा का नहीं, शहरों के मुट्ठी भर आदमियों की विकृत भाषा का प्रसार-प्रचार होगा और वही बोलचाल की व्यापक भाषा होगी। फिर उसका बदलना या सुधार करना असंभव हो जायगा।

४. कुछ आक्षेपों के उत्तर

ऊपर पेश किये गये सुझावों और उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों पर जो आक्षेप आमतौर से किये जाते हैं या किये जायेंगे, उनका उत्तर दिये बिना संभव है कुछ लोगों को ये व्यर्थ और पोच जान पड़ें। इसलिये कुछ आम आक्षेपों (वर्तमान अथवा संभावित) का उत्तर नीचे दिया जाता है।

(१) कोई हिन्दी एकाडेमी भाषा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती।

प्रश्न भाषा को बाँधने का नहीं, उसकी मर्यादा रखने का है। स्टैंडर्ड हिन्दी शब्द-कोष के सम्बन्ध में यह पहले कहा जा चुका है (पृष्ठ २२) कि दिन प्रति दिन अधिकाधिक विदेशी शब्द हिन्दी में गृहीत होते ही रहेंगे और स्टैंडर्ड हिन्दी शब्द-कोष में स्थान पाते जायेंगे, परन्तु किसी भी समय यह कहा जा सकेगा कि अब तक की अर्थात वर्तमान हिन्दी का यह कोष है। हिन्दी एकाडेमी भाषा संबंधी प्रत्येक बात में समय और आवश्यकतानुसार अपनी नीति बदलेगी, परन्तु हर समय उच्छृंखलता और धाँधली

राज), मेहरबानी (कृपा), मोहब्बत (प्रेम), कमज़ोर (दुर्बल), इन्तज़ाम (प्रबन्ध), मुश्किल (कठिन), बच्चा (बालक), मदद (सहायता), माफ़ (क्षमा), ज़बान (जीभ), इम्तहान (परीक्षा), खुशबू (सुगन्ध), बदबू (दुर्गन्ध), बू देना (गन्धाना), शक (सन्देह), तालीम (शिक्षा, पढ़ाई), अक़्लमन्द (बुद्धिमान), फ़ायदा (लाभ), नुक़सान (हानि), तक़दीर (भाग्य), जगह (स्थान), वतन (देश), इत्तिफ़ाक़ (संयोग), इत्तिफ़ाक़न (संयोग से), क़र्ज़ (ऋण), पैग़ाम (सन्देश), तरकीब (उपाय), क़ाबिल (योग्य, जोग), तसल्ली (धीरज, सन्तोष), खूबसूरत (सुन्दर), दौलतमन्द (धनी), मदद या इमदाद (सहायता) ।

(इ) हिन्दी प्रदेश की जनता की बोलचाल में प्रचलित अरबी फ़ारसी शब्द जिनके देशज, तद्भव या संस्कृत तत्सम पर्याय जनता की बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं । ऐसे शब्दों को हिन्दी में निःसंकोच ले लेना चाहिये ।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी प्रदेश की बोलचाल का माप-दण्ड हिन्दी प्रदेश के गाँवों, कसबों और शहरों में बसने वाली ९५ प्रति शत जनता की बोलचाल है, शहरों में रहने वाले विशिष्ट वर्गों की बोलचाल नहीं । वास्तव में इन विशिष्ट वर्गों की कोई बोलचाल है ही नहीं । वह राजनीतिक परिस्थितियों के साथ बदलती चलती है । कभी यह हिन्दी थी, फिर उर्दू हुई, आज वह इङ्गलिस्तानी है । कल वह हिन्दी के राजभाषा होने पर फिर हिन्दी हो जायगी । हम इन विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में प्रचलित विदेशी—अरबी फ़ारसी या अँगरेजी—शब्दों को हिन्दी में लेने के लिये बिलकुल बाध्य नहीं । परन्तु जो विदेशी—अरबी फ़ारसी या अँगरेजी—शब्द अपने स्वदेशी पर्यायों के साहित्यिक अस्तित्व के बावजूद हमारे दुर्भाग्य से, हमारी राजनीतिक परतन्त्रता के कारण जनता की बोलचाल में प्रचलित हो गये हैं, उन्हें हमें जनता की भाषा के नाते ले लेना चाहिये । हमारे सौभाग्य से ऐसे शब्दों की संख्या अधिक नहीं है । सिद्धान्ततः हमें इन शब्दों

'हिन्दी' नाम से बोध होता है—मिट जायगी, और उसके साथ हमारी सस्कृति मिट जायगी, हमारा साहित्य मिट जायगा, हम अर्थात वह सब कुछ जिसका 'हम' और 'हमारा' से बोध होता है, मिट जायगा, गहरी धार्मिक हानि होगी और आने वाली पीढ़ियाँ हमें कोसेगी। हमे आज हिन्दी की रक्षा करनी ही है, उसे चाहे प्रतिक्रिया कहा जाय, चाहे सकुचितहृदयता कहा जाय और चाहे रिवाइवलिज्म कहा जाय।

(४) साधारण जनता भाषा के प्रति जागरूक (language conscious) नहीं है।

नहीं है तो करना होगा। जनता तो भेडों के झुन्ड के समान है, उसे नेताओं ने जिधर हाँक दिया उधर चल दी। जनता किसी चीज से 'काशस' नहीं होती, उसे काशस' किया जाता है। जनता को पेट भर खाने और तन भर कपडे के सिवा किसी और चीज की चिन्ता नहीं होती। सस्कृति का निर्माण और उसकी रक्षा जनता नहीं, जननायक किया करते हैं। भाषा के मामले मे भी नेतृत्व साहित्यिक और विद्वान् ही करते हैं, जनता केवल उनका अनुसरण करती है। भारतीय जनता भी न 'लैंगुएज काशस' है और न कभी थी। उसने सैकड़ों साल तक राजभाषा फारसी का पानी भरा फिर भी 'लैंगुएज काशस' नहीं हुई। परन्तु फारसी से जनता की जो व्यावहारिक और सास्कृतिक हानि हुई, वह जननायकों को मालूम है। भला हो अँगरेज बहादुर का जिसने फारसी को हटाकर प्रान्तीय भाषाओं को प्रतिष्ठित किया, वर्ना न 'जनता' ने फारसी को हटाने की माँग की और न उसे (कितने ही जननायकों को भी) फारसी लदे रहने पर कोई उज्र था। आज 'जनता' को राजभाषा अँगरेजी से भी कोई शिकायत नहीं है—यह शिकायत तो उसमें अब नेता पैदा कर रहे हैं, क्योंकि उन्हे, उन्हीं को, मालूम है कि इस अँगरेजी से क्या हानि होगी। 'जनता' तो अब भी खुशी से पैसे देकर अँगरेज़ी में दरख्वास्त लिखाने के लिये तैयार है। हाँ, यदि काग्रेस सरकार उससे उसकी भाषा मे ही

उमर, रोजी, दवा, अन्दाजा, आसमान, आदमी या इंसान, खुशी, सजा, मुकर्रर, फर्ज, नफरत, आबहवा, वायदा, जुल्म, मौका, असल में, कमजोरी, मजबूती, सवाल, बदनामी, नामवरी, मुसीबत, आजादी, ज़रूरत, सिर्फ, फरक, मिसाल, रफ्तार, मजूर, ऐलान, तबदीली, खजाना, चक्र, हद, जिन्दगी, दरखास्त, तनख्वाह, मशहूर, कोशिश, दिमाग, फौज, मेहनत, जवाब, हिम्मत, शहर, शुरू, खतम, मौजूद, मर्द, कैद, कैदी, तसवीर, फैसला, रास्ता, नजर, याद, हिसाब, लायक, बरबाद, शामिल, आमदनी, खुद, पैदा, इस्तीफा, जाहिर, इत्तिला, बुखार, शुरुआत, मुनासिब, कीमत, कीमती, अक्सर, तन्दुरुस्ती, आखिरी, खबर, इशारा, खास, सब्र, आमदनी।

इन अरबी फारसी शब्दों के हिन्दी पर्यायों को सर्वत्र बोलचाल में प्रचलित करने का हमें अधिकार है क्योंकि वे कृत्रिम नहीं कहे जा सकते। अर्थात् ये अरबी फारसी शब्द हिन्दी और हिन्दी-कोष में रहें, परन्तु इनका प्रयोग विशेष अवसरों पर विशेष कारणों से ही किया जाय। साधारणतया अपने हिन्दी पर्यायों का ही प्रयोग होना चाहिए क्योंकि वे सर्वत्र बोलचाल में तभी प्रचलित हो सकते हैं।

(ई) वे अरबी फारसी शब्द जिनके हिन्दी पर्याय हमारे पास हैं ही नहीं या जिनके हिन्दी पर्याय अत्यन्त कठिन, दुरूह और भारी भरकम हैं। इन्हें ले लेना चाहिए और इनके हिन्दी पर्यायों को गढ़-गढ़ा कर प्रचलित करने का प्रयत्न करके हास्यास्पद नहीं बनना चाहिये।

उदाहरण—

कागज, इज्जत, जबर्दस्ती, ज्यादती, जोर, जमाना, शिकायत, सिफ़ारिश, खुशामद, मजा, तबियत, नवाब, कब्र, कमी, गलती, शर्त, मौसम, रियायत, मामला, तखत, फसल, मसलहत, कार्रवाई, मेज, तलाक़, दिलचस्पी, अरमान, फर्श, सफ़ाई, जमानत, तगादा, तखमीना, उम्मीदवार, हिज्जे, क़ानून, मुहावरा, मसविदा, गलत, वकील, करार, माकूल, नागवार, मुखातिब,

कम प्रचलित अरबी फारसी शब्दों की भरमार है (हिन्दी का द्वैतवाद)। इस भरमार को दूर करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है। इस उद्देश्य के सफल होने पर हिन्दी आज की हिन्दी से अधिक संस्कृत-निष्ठ ही होगी, और उसमें अरबी फारसी शब्दों की संख्या और कम होगी। जहाँ तक हिन्दी में प्रचलित संस्कृत शब्दों का सम्बन्ध है वहाँ तक हिन्दी पर कृत्रिमता का आरोप केवल उन संस्कृत शब्दों के कारण किया जा सकता है जो हिन्दी प्रदेश की बोलचाल में कहीं—विशिष्ट शिक्षित वर्गों में या साधारण जनता में—प्रचलित नहीं हैं, परन्तु जिनमें से कुछ के देशज, कुछ के अरबी फारसी और कुछ के देशज और अरबी फारसी दोनों पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं। यदि, जैसा कि होना चाहिये, बोलचाल का माप-दण्ड विशिष्ट वर्गों की बोलचाल नहीं, वरन् हिन्दी प्रदेश की साधारण, बहुसंख्यक जनता की बोलचाल माना जाय, और इन संस्कृत शब्दों में से उन शब्दों को निकाल दिया जाय जिनके किसी भी प्रकार के पर्याय केवल विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में प्रचलित हैं, साधारण जनता की बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं क्योंकि उसे अपने नित्य के काम के लिये अभी तक उनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी, अर्थात यदि इन संस्कृत शब्दों में से उन संस्कृत शब्दों को छोड़ दिया जाय जिन्हें, इँगलिस्तानी में प्रचलित अँगरेजी शब्दों की भाँति विशिष्ट वर्गों में उनके अरबी फारसी पर्यायों के प्रचलित होते हुए, प्रचलित करने का हमें अधिकार है, तो शेष संस्कृत शब्दों की संख्या कुछ सौ से अधिक न होगी, क्योंकि दुर्भाग्यवश या सौभाग्यवश साधारण जनता के जीवन का स्तर इतना ऊँचा ही न हुआ कि उसे अपनी नित्य की बोलचाल के लिये एक लम्बी चौड़ी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती. और यदि उसे कभी आवश्यकता पड़ी भी, तो वह अपने प्राचीन शब्दों और प्राचीन शब्द-स्त्रोतों को छोड़कर अरबी फारसी की शरण लेने के लिये उस प्रकार मजबूर न हुई जिस प्रकार शहरों का शिक्षित समाज

हमें कुछ ऐसे अरबी फारसी शब्द भी लेना पड़ेंगे जिनके अर्थ में और जिनके हिन्दी पर्यायों के अर्थ में ध्वनि का अन्तर है। उदाहरणार्थ, 'अनुभव' में वह ध्वनि नहीं है जो 'महसूस' में है। 'भाग्य' और 'किस्मत', 'लज्जा' और 'शर्म' में ध्वनि और अर्थ का अन्तर है। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। इस मामले में अत्यन्त सतर्कता से काम लेना पड़ेगा। कारणों का निर्देश पहले किया जा चुका है (देखिये पृष्ठ १५-१७)। हमें अपने शब्दों में ही सब ध्वनियाँ और अर्थ रूढ़ करने चाहिये। इन्हीं तीन शब्दों को लें, तो व्यवहार करने से 'अनुभव' में 'महसूस' की ध्वनि बड़ी सरलता से आ सकती है, क्योंकि शब्द में विभिन्न ध्वनियाँ शब्द का प्रयोग करने से ही आया करती हैं। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो चूँकि उर्दू वाले 'अनुभव' नहीं अपनायेंगे और 'महसूस' में ही 'अनुभव' की ध्वनि भी रूढ़ कर लेंगे, बोलचाल में केवल 'महसूस' रह जायगा और इस अर्थ में 'अनुभव' का व्यवहार बिलकुल बन्द हो जायगा। 'भाग्य' के बारे में, यदि अब तक भारत जैसे भाग्यवादी देश का 'भाग्य' और 'प्रारब्ध' से काम चल गया, तो अब 'Luck,' 'Fate,' 'Fortune' और 'Destiny' के अर्थों और ध्वनियों को स्पष्ट करने के लिये 'भाग्य' और 'प्रारब्ध' के अतिरिक्त 'किस्मत,' 'तकदीर,' 'नसीब' और 'मुकद्दर' में से दो शब्द छाँटने की आवश्यकता नहीं—सब काम 'भाग्य' और 'प्रारब्ध' से अब भी चल सकता है और चलना चाहिये, नहीं तो चूँकि उर्दू वाले 'भाग्य' और 'प्रारब्ध' लेंगे नहीं, चारों ध्वनियाँ उन्हीं दो उर्दू शब्दों में रूढ़ हो जायँगी जिन्हें हम ग्रहण करेंगे (क्योंकि बोलचाल में वे ही दो शब्द हिन्दी उर्दू में कामन होने के कारण चलेंगे), और 'भाग्य' और 'प्रारब्ध' हमसे विदा हो जायँगे। 'शर्म' और 'लज्जा' के विषय में, उर्दू वालों को 'लज्जा' की आवश्यकता नहीं। उन्होंने पहले से ही 'शर्म' को 'Shame' और 'Shyness' दोनों अर्थों में रूढ़ कर लिया है—वे यह भी कहते हैं, 'शर्मिन्दा होना पड़ा,'

है ही, तो हिंदी को संस्कृत और प्राचीन हिंदी साहित्य के पास जाने का एक हजार गुना अधिक अधिकार है। तथाकथित 'स्वाभाविकता' या 'हिंदुस्तानी' का कोई भक्त इसके विरुद्ध चूँ कर सकता है ? हिन्दी में इस समय भी लगभग १५ हजार संस्कृत शब्द हैं जो उर्दू के अरबी फ़ारसी शब्दों से सर्वथा भिन्न हैं और जिनके साथ साथ उनके उर्दू पर्याय हिंदी में कभी नहीं आते। १५ हजार ऐसे संस्कृत शब्दों के सामने एक हजार हिंदी शब्दों का, जिनके साथ साथ अरबी फारसी पर्याय हिंदी में आते हैं, कोई विशेष महत्त्व नहीं। इन एक हजार शब्दों के विषय में चाहे जो कुछ निर्णय हो—चाहे सब के सब हिंदी शब्द निकाल दिये जायँ और उनके स्थान में केवल अरबी फ़ारसी शब्द रक्खे जायँ, चाहे थोड़े से हिन्दी शब्द निकाले जायँ और चाहे हिंदी शब्द और अरबी फ़ारसी शब्द दोनों रक्खे जायँ—इससे हिंदी के स्वतन्त्र अस्तित्व और उर्दू से पृथकत्व पर बिलकुल आँच नहीं आती। हमें बाजारू बोलचाल की नहीं, एक समृद्ध साहित्यिक भाषा की आवश्यकता है। हिंदी का भाग्य तो ऐसा फूटा है कि हिंदी के लेखक केवल बोलचाल—साधारण बोलचाल अथवा विशिष्ट वर्गों की बोलचाल—में प्रचलित अरबी फारसी शब्दों को (बोलचाल में प्रचलित अथवा अप्रचलित अपने पर्यायों के होते हुए) लेकर ही सन्तुष्ट नहीं हैं वरन् वे उन शब्दों के मामले में भी जो कहीं बोल-चाल में प्रचलित नहीं हैं, और इसलिये जिन्हें हिंदी और उर्दू दोनो को संस्कृत या अरबी फ़ारसी से उधार लेना है, हिंदी में द्वैतवाद फैला रहे हैं (हिंदुस्तानी-वालों और 'हिंदुस्तानी' के प्रताप से ?), अर्थात् हिंदीवाले अप्रचलित और अनावश्यक उर्दू शब्द हिंदी में घुसेड़ रहे हैं, और हिंदुस्तानीवालों की सिखाई हुई राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता की परिभाषा की लपेट में आकर अपने बहुप्रचलित हिंदी शब्द बोलने से भी शर्माते हैं। लेखक को इसकी अधिक आशा नहीं कि हिन्दीवाले इस पुस्तक को पढकर हिंदी में घुसे हुये इन एक हजार अरबी फ़ारसी शब्दों को यहाँ प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार घटाने

आवश्यकता होती है तो अँगरेजी शब्द को अपनाते हुए सकुचाते हैं, बगलें झाँकने लगते हैं और अन्त में अरबी फ़ारसी को ही गले से लगाते हैं। उदाहरण के लिये, हिन्दी पत्रों में 'मुअत्तल' चलता है। कितने हिन्दी पाठक ऐसे हैं जो 'सस्पेंड' नहीं समझते या पहले से नहीं जानते, परन्तु 'मुअत्तल' समझते और जानते हैं? दोनों में से किसी शब्द को न जानने वालों और अशिक्षितो के लिये दोनों शब्द एक समान अपरिचित हैं, फिर इस 'मुअत्तल' को 'सस्पेंड' से प्रीफर (या 'तरजीह' !) क्यों किया जाय? 'मुहय्या' के बजाय 'सप्लाई' क्यों न कहा जाय? यही बात उन शब्दों के लिये कही जा सकती है जिन्हें ऊपर मोटे अक्षरों में छापा गया है।

(उ) वे अरबी फारसी शब्द जो ऊपर के किसी वर्ग में नहीं आते। इनका हिन्दी से बहिष्कार होना चाहिये। उदाहरण—

मक़सद, सद्र, सदारत, तर्जुमा, ज़बान (भाषा के अर्थ में), वाकई, तलफ्फुस, बाशिन्दा, महदूद, मुख्तलिफ, मुख़ालिफ़, मुख़ालफत, मुताबिक, मुल्तवी, नुमायन्दा, तक़रीर, रहनुमाई, सतर, अहम, अमूमन, गालबन, मुकम्मल, तनख़ा, उसूल, महरूम, फ़ख्र, इलज़ाम, ताकीद, इन्सानियत, हुकूमत, ज़वानी, याददाश्त, मौज़ूँ, वहस, मुवाहसा, मातहत, दरअसल, हासिल, मिकदार, वज़ीफा, वगैरह, ईजाद, एतराज़, तोहमत, नाज, आयन्दा, अफसाना, फसाना, राज़, मुद्दई, मुद्दालह, वालिग, नामजद, मेहनतकश, तबाह, जालिम, जुर्रत, गैर-वाजिब, जमात, बावजूद, दाखिल, बागी, बगावत, लाजमी, कुर्बानी, कुर्बान, वफादारी, एलची, रुख़सत, शुक्रगुज़ार, नज़्ज़ारा, ऐशोआराम, गुरबत, मुफीद, निस्बत, रद्दोबदल, यानी, बेजा, गुमराह, सुलह, कौमी, गैर-मुनासिब, उल्फत, माली हालत, गद्दार, अहलकार, अमला, शराफत, तहज़ीब, माहिर, खाविन्द, मानी, रुकवा, हामी, हिमायत, ख़िलाफ़, दरियादिल, मामू या मामू जान, चचा या चचा जान, भाई जान, सिपहसालार, बादशाह

वे हिन्दुस्तानी को जिस प्रदेश की भाषा बनाना चाहते हैं उस सम्पूर्ण प्रदेश की बोलचाल में एक शब्द के प्रचलित विभिन्न पर्यायों में से उस पर्याय को हिंदुस्तानी में लेंगे जिसे सब से अधिक व्यक्ति बोलते हों, और उन शब्दों के मामले में जिनकी अभी तक नित्य की साधारण बोलचाल में आवश्यकता ही नहीं पड़ी, अर्थात् जो बोलचाल में हैं ही नहीं, वे हिंदुस्तानी के लिये हिंदुस्तान के अपने स्रोतों की शरण लेंगे। बोलचाल में प्रचलित सभी अरबी फ़ारसी शब्द हम लेते हैं (और एक बार को हम बोलचाल में प्रचलित उनके स्वदेशी पर्यायों को, चाहे वे अपेक्षाकृत कम प्रचलित हों अथवा अधिक, बिलकुल छोड़ने को भी तैयार हैं), बोलचाल में अप्रचलित सभी आवश्यक शब्द उर्दूवाले और हिंदुस्तानीवाले हिंदुस्तानी स्रोतों से लें। यही सीधी और सच्ची बात है, और 'बोलचाल की भाषा सबसे पहले', इस सिद्धांत का यही अर्थ हो सकता है। यदि हिंदुस्तानीवाले इस बात के लिये, अर्थात् बोलचाल में अनुपस्थित शब्दों के लिये हिंदुस्तान के पुराने 'मुर्दा' स्रोतों को प्राथमिक महत्त्व देने को तैयार नहीं, तो हम कहते हैं कि बोलचाल में अनुपस्थित शब्द वे उस प्रदेश, जिसकी भाषा वे हिंदुस्तानी बनाना चाहते हैं, में प्रचलित साहित्यिक भाषाओं से लें, और एक शब्द के विभिन्न पर्यायों में से उसको लें जिसे सबसे अधिक व्यक्ति लिखते हों। (उदाहरण के लिये यदि इन्तजार, बाट, प्रतीक्षा में से 'बाट' सब से अधिक व्यक्तियों की बोलचाल में आता है तो 'बाट' लें, आसमान, आकाश में से 'आसमान' अधिक चलता है तो 'आसमान' लें, एतराज, आपत्ति में से 'एतराज' बोलचाल में अधिक आता है तो 'एतराज़' लें, तहजीब, सभ्यता में से 'सभ्यता' अधिक व्यक्तियों की बोलचाल में आता है तो 'सभ्यता' लें, और 'अन्तर्राष्ट्रीय' 'राजनीतिक,' 'दशमलव', 'बैनुलअकवामी', 'स्यासी', 'आशार्या' में से 'अन्तर्राष्ट्रीय', 'राजनीतिक', 'दशमलव' लें, क्योंकि ये शब्द या उनके उर्दू पर्याय कहीं बोलचाल में नहीं आये, परन्तु साहित्य में इन शब्दों को उर्दू पर्यायों की

और इस समय जब कि हिन्दी अपने जीवन के सबसे नाज़ुक दौर में से गुजर रही है और उस पर चारों ओर से प्रहार हो रहे हैं, ऐसे लेखकों को साहित्यिक दण्ड देना अनुचित न होगा।

ऊपर प्रत्येक वर्ग के शब्दों के उदाहरण-स्वरूप जो शब्द पेश किये गये हैं, उनके विषय में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। कुछ विद्वान् एक शब्द को निकालने की सलाह देंगे, कुछ उसको रखने की सलाह देंगे। कुछ विद्वान् एक शब्द को किसी वर्ग में रक्खेंगे, कुछ विद्वान् किसी दूसरे वर्ग में। ऊपर अरबी फारसी शब्दों के जिन वर्गों को बहिष्कार-योग्य बतलाया गया है, उनमें से प्रत्येक वर्ग के कुछ शब्दों को शायद सिद्धान्त के अपवाद-स्वरूप लेना भी आवश्यक होगा। इन सब बातों के विषय में लेखक को अपनी ओर से बिल्कुल आग्रह नहीं है। उसका उद्देश्य तो केवल विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना है कि हिन्दी में प्रचलित अरबी फारसी शब्दों की मर्यादा निश्चित होनी चाहिये, और हिन्दी में नये नये अनावश्यक अरबी फारसी शब्दों की जो बाढ़ आ रही है, उसे रोकने का प्रयत्न होना चाहिए। कौन सा शब्द रखना चाहिये और कौन सा शब्द निकालना चाहिये (और किन सिद्धान्तों के अनुसार), इसका अन्तिम निर्णय तो हिन्दी के विद्वानों की एक सभा ही कर सकती है। परन्तु इतना फिर कहना पड़ेगा कि जिन शब्दों का बहिष्कार करना है, उनका प्रयोग कभी नहीं होना चाहिए। यदि हिन्दी पर्याय के साथ बहिष्कृत अरबी फारसी शब्द का भी प्रयोग होगा तो हिन्दी पर्याय बोलचाल में कदापि प्रचलित न हो सकेगा, और यदि पहले से प्रचलित होगा तो अप्रचलित हो जायगा। कारण पहले बतलाये जा चुके हैं। दूसरे शब्दों में, हिन्दी को एक दृढ़ नीति पर दृढ़ता के साथ चलाना होगा। उसमें झूठी 'उदारता', घातक 'हजम'-वाद या शब्दों के द्वैतवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं रक्खी जा सकती। या तो सदैव हिन्दी शब्द, वह बोलचाल में चाहे अप्रचलित

अब रही मातृ-भाषा की बात। सो खड़ी बोली ही कितने व्यक्तियो की मातृ-भाषा है ? खड़ी बोली केवल डेढ जिलो की मातृ-भाषा है। यहाँ भी सब लोग एक ही प्रकार की खड़ी बोली नही बोलते और एक ही शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। कोई 'बोली' एक विशाल प्रदेश की और बहु-सख्यक जनता की मातृ भाषा नहीं हो सकती। जो खडी बोली उत्तरी भारत के शहरो में बोली जाती है, वह उसके बोलने वालो की मातृ-भाषा तो नही है ही, उसका स्वरूप भी सब जगह एक सा नहीं है। फिर किस खड़ी बोली को आदर्श मानें, अर्थात् किस खड़ी बोलचाल को साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार मानें ? यह कहना बिलकुल गलत और बेकार है कि किसी स्थान विशेष की हिन्दुस्तानी बोलचाल ऐसी है कि वह पेशावर से पटना तक के विशाल प्रदेश में सब जगह एक समान 'आमफहम' है, और इसलिये उसी को साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार बनाया जाय। पेशावर से पटना तक के विस्तृत प्रदेश मे स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न प्रकार की खड़ी बोली बोली जाती है, अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दो का प्रयोग होता है। हाँ, हिन्दी और उर्दू का रूप सब जगह एक सा है, क्योंकि वे साहित्यिक, लिखित भाषायें हैं और सब जगह एक ही रूप में पढाई जाती हैं, और उन्हें जो पढ़ते हैं, वे उन्हें समझते हैं—सब अपने आप नहीं समझने लगते। इसी प्रकार जो भी साहित्यिक हिन्दुस्तानी बनाई जायगी वह भी पटना से पेशावर तक सब जगह सबकी समझ में अपने आप नही आ जायगी। उसे भी हिन्दी उर्दू के समान पढाना पडेगा। फिर किसी खास, छोटे से स्थान या वर्ग की हिन्दुस्तानी बोलचाल को उस साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार क्यो बनाया जाय ? यदि हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली उत्तरी दोआब की मातृ-भाषा है और इसलिये उत्तरी दोआब का विशेष महत्त्व है, तो भी एक जिले की हिन्दुस्तानी बोलचाल को (जो स्वयम् जले में भी सब जगह एक सी नहीं है) इतने विशाल प्रदेश या सम्पूर्ण

को खड़ी बोली में बोले जाने वाले हिन्दी संस्कृत शब्दों से कोई सरोकार नहीं), अन्त में खड़ी बोली में केवल उर्दू-कोष ही लक्षित होगा, और फिर लिखित हिन्दी में भी केवल वही दिखाई देगा। सिनेमा, रेडियो, आदि में भी वही दिखाई देगा—कोई जाकर यह देखने का कष्ट नहीं करेगा कि हिन्दी-कोष में उन उर्दू शब्दों के, जो उर्दू कोष में हैं और सब जगह चल रहे हैं और जिन्हें सब समझ रहे हैं, और कौन कौन से पर्याय भी सँजोये हुये हैं *। 'तकरीर' को ही लें। चूँकि उर्दू वाले 'तकरीर' छोड़कर 'भाषण' स्वप्न में भी नहीं लिखेंगे, हिन्दी में 'भाषण' के साथ साथ 'तकरीर' घुसेड़ने का केवल यही परिणाम होगा कि हिन्दी वाले 'तकरीर' भी सीख जायँगे और फिर बोल-

---

* पं॰ रामनरेश त्रिपाठी एक जगह लिखते हैं "...हिन्दी के कितने ही शब्द, जो उर्दू में लिखे नहीं जा सकते, हमेशा के लिए हमसे छूट जायँगे—जैसे भाग्य, संदिग्ध, आवश्यक, प्रमाण, साहित्य और विद्वान के स्थान पर हमें क़िस्मत, मशकूक, ज़रूरी, सबूत, अदब और आलिम लेना पड़ेगा। लेने के हम विरोधी नहीं, क्योंकि नए शब्दों से हमारा शब्द-कोष बढ़ता ही है, घटता नहीं..."। स्पष्ट है, इस प्रकार शब्द लेने से हिन्दी शब्द-कोष का बढ़ना तो अलग रहा, 'हिन्दी शब्द-कोष' नाम की कोई चीज़ ही न रह जायगी। उर्दू वाले स्वप्न में भी क़िस्मत, मशकूक, ज़रूरी, सबूत, अदब और आलिम के रहते भाग्य, संदिग्ध, आवश्यक, प्रमाण, साहित्य और विद्वान नहीं लिखेंगे—उनकी लिपि में लिखना संभव हो तो भी नहीं (वे लिखें भी क्यों? एक एक शब्द के दो दो पर्यायों की ज़रूरत?)। हिन्दी में क़िस्मत, मशकूक ... आलिम घुसेड़ने से आज हिन्दी बालकों को दूना बोझ, कोष-प्रकाशकों को दूना कागज़ और छपाई का ख़र्चा, आदि तो उठाना ही पड़ेगा, कल तक भाग्य, संदिग्ध ... विद्वान का हिन्दी से टिकट ही कट जायगा। क़िस्मत, मशकूक ... आलिम ही कामन भाषा, राष्ट्र भाषा के शब्द कहे जायँगे, और वास्तव में होंगे भी। भाग्य, संदिग्ध ... विद्वान उर्दू लिपि की अपूर्णता और अवैज्ञानिकता के कारण नहीं, अपने ही कर्मों (या 'उदारता', 'हज़मवाद'!) के कारण हमसे सदैव के लिये छूट जायँगे।

२

हिन्दुस्तानी की बला

अब तक हिन्दी के परिष्कार को, अर्थात् अपने घर की बात कही गई। जब किसी बाहरी शत्रु से मुकाबला करना होता है, तो पहले अपने घर की स्थिति ही ठीक करनी होती है। आज हिन्दी को एक नये शत्रु 'हिन्दुस्तानी' का मुकाबला करना है, इसलिये पहले इसी पर विचार किया गया कि हिन्दी को अन्दर से मजबूत बनाने के लिये हिन्दी मे क्या क्या सुधार करने की आवश्यकता है। अब यह देखना होगा कि इस शत्रु का क्या स्वरूप है, उसकी क्या चाल है, उसमें कितनी शक्ति है, उसका क्या अभिप्राय है और उसका दमन किस प्रकार करना चाहिये।

जहाँ तक राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी-वाद के सैद्धान्तिक पहलुओं का सम्बन्ध है, वहाँ तक उनका विवेचन लेखक अपनी पुस्तक 'राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन'* मे कर चुका है। उस पुस्तक में हिन्दुस्तानी वालों के सब तर्कों का समुचित उत्तर दे दिया गया है, और उनके आन्दोलन की पोल भी खोल दी गई है। परन्तु यह शक्ति का युग है, तर्क का नहीं। जिसकी लाठी, उसकी भैंस। इसी युग-धर्म को पहचान कर हिन्दुस्तानी वाले अपने हिन्दुस्तानी-वाद को तर्क-सगत और न्याय-सगत सिद्ध करने की चिंता किये बिना एक ओर अपने विरोधियों—हिन्दी, और हिन्दी साहित्य सम्मेलन—को नेस्तनाबूद करने मे व्यस्त हैं और दूसरी ओर येन केन प्रकारेण जनता को झाँसा देकर, उसकी राष्ट्रीय भावना, गाधीजी और काग्रेस के नाम से लाभ उठाकर शक्ति प्राप्त

* प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला, लाटूश रोड, लखनऊ।

एक बात और। अरबी फारसी का जो भी प्रचलित शब्द हिन्दी में लिया जाय, उसे तद्भव रूप में ही लिया जाय। जब एक ऐसे शब्द को ग्रहण करने का कारण यही है कि वह प्रचलित है, तो जिस रूप मे वह प्रचलित है उसी रूप मे उसे न लेने का कारण ? हम एक ऐसे शब्द को इस लिये नही लेते कि वह अरबी फारसी का शब्द है, वरन् इसलिये लेते हैं कि हिन्दी भाषी जनता ने उसे अपना लिया है, हिन्दी ने उसे अपने में खपा लिया है और अपने साँचे में ढाल लिया है, वह चाहे जहाँ मे आया हो। जब ऐसी बात है, तो उसे उसके हिन्दी रूप में ही लेना चाहिए और उसे उसका पुराना अरबी फारसी जामा पहनाने का प्रयत्न करके अपनी भाषा की हीनता प्रकट नहीं करनी चाहिए। सभी उन्नत भाषायें परकीय शब्दों के साथ ऐसा करती हैं। उर्दू वाले भी जब किसी प्रचलित हिन्दी शब्द को ग्रहण करने पर मजबूर हो जाते हैं, तो उसे उसके चलते रूप में ही ग्रहण करते हैं (उदाहरण—'वैपार', 'गाहक', 'समन्दर', 'देस'), परन्तु हिन्दी के लेखक या तो उर्दू की पुरानी गुलामी के कारण या अपना पाण्डित्य दिखाने के लिये 'ज्यादह', 'वेजह', 'दर्जह', 'तबीअत', 'मुआमला' 'मुआफी', आदि भी लिखते देखे जाते हैं, 'शुरुआद', 'कसूर', 'तगदीर', 'तगादा', 'जवाब' आदि, आदि के बजाय 'शुरुआत', 'तकदीर', 'क़ुसूर', 'तक़ाजा', 'जवाब', आदि की तो कोई बात ही नहीं। शायद कोई हिन्दी लेखक हिन्दी में 'टिकट', 'लालटैन', या 'अस्पताल' छोड़ कर 'टिकेट', 'लैन्टन' या 'हास्पिटल' लिखने की धृष्टता न करेगा, परन्तु हिन्दी के बहुतरे लेखक ढूँढ ढूँढ कर, कोष देख देख कर उर्दू शब्दों को उनके तत्सम अरबी फारसी रूप में लिखने का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। यह प्रवृत्ति घोर हीनता और दीनता की द्योतक है। ऊपर ग्रहण करने योग्य अरबी फारसी शब्दों के जो उदाहरण दिये गये हैं, (वर्ग (इ) और (ई) के शब्द) उन्हें उसी रूप में लिखा गया है जिस रूप में उन्हें लेना चाहिये।

(जिसकी वे अभी तक केवल कल्पना कर रहे हैं उसे वृटिश सरकार ने प्रत्यक्ष कर दिखाया !)

रेडियो का मामला हमें हिन्दुस्तानी-आन्दोलन के दूसरे पहलू पर ले आता है। वह है इस 'हिन्दुस्तानी' का स्वरूप। आखिर वह 'हिन्दुस्तानी' जो सब जगह से—केन्द्र से और प्रान्तों से—हिन्दी को निकाल रही है और उसका स्थान लेना चाहती है, कैसी होगी ? रेडियो की हिन्दुस्तानी को हम जानते हैं। उसे कांग्रेस और हिन्दुस्तानी वालों का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। इसे सिद्ध करने के लिये हमे यह देखने की जरूरत नहीं कि कांग्रेस वाले और हिन्दुस्तानी वाले क्या कहते हैं, वरन् यह देखने की जरूरत हैं कि वे क्या करते हैं। कांग्रेस ने अपने उच्च आसन से क्या किया अथवा क्या करना चाहती है, इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अन्य हिन्दुस्तानी वालों ने क्या किया है, इसे सुन लीजिये। सम्मेलन द्वारा सचालित आंदोलन में उन्होंने कभी सहायता तो नहीं दी ही, उन्होंने सम्मेलन के मार्ग में रोडे अटकाये हैं, और सम्मेलन की मॉग को अराष्ट्रीय घोषित किया है। इस सम्बन्ध में प० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द जैसे हिन्दुस्तानी के दिग्पालो का नाम लेना काफी है। रेडियो वाले इन्हीं हिन्दुस्तानी वालों के बल पर कूद रहे हैं, और इन्हीं का सहारा पाकर अपनी नीति पर दृढ हैं। पिछले दिनों सर सुलतान अहमद ने अपनी नीति के समर्थन में गाधी जी का नाम लिया, परन्तु गाधी जी फिर भी चुप रहे। इस सबसे सिवाय इसके कि कांग्रेस और हिन्दुस्तानी वालों को रेडियो की हिन्दुस्तानी मान्य है (ऊपरी मन से ईद बकरीद चाहे जो कुछ कह दिया करते हों) और क्या निष्कर्ष निकल सकता है ? अच्छा, यदि जरा

नहीं, वे ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि स्वयम् उनकी हिन्दुस्तानी के कोई सिद्धांत नहीं हैं। (यदि होते तो 'शिक्षा' के स्थान में 'तालीम' और 'साहित्य' के स्थान में 'अदब' कैसे आ बैठता ?) वे रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू तो केवल हिन्दी वालों को फुसलाने के लिये बतलाते हैं।

का प्रयोग करना लगभग उतना ही बुरा है जितना एक स्वदेशी शब्द के होते हुये एक विदेशी शब्द का प्रयोग करना। ऐसा करने से भाषा कठिन और जनसाधारण के लिये अपरिचित सी भी बनती है। देशज शब्दों के विषय में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। सोचने की बात है कि ऊपर जिन शब्दों को मोटे अक्षरों में छापा गया है, उनको क्या आवश्यकता थी? उनसे भाषा को क्या लाभ हुआ? संस्कृत हिन्दी की माता है, हिन्दी को संस्कृत से उधार लेने का अधिकार है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी को संस्कृत बना दिया जाय। हमें नये शब्द गढते समय भी सबसे पहले देशज शब्दों और धातुओं पर नजर डालनी चाहिये। यदि उनसे काम न चले, तभी संस्कृत या अन्य स्वदेशी और विदेशी भाषाओं को टटोलना चाहिये। तद्भव शब्द होते हुये तत्सम शब्द का प्रयोग भी अवाञ्छनीय है और भाषा को कठिन बनाता है। अशिक्षितों द्वारा बिगाडे हुये शब्दों जैसे 'देस', 'लछमीनरायन', 'लच्छमी', 'गनेस', 'गाहक', 'बेपार', 'बैपारी', 'सकत' (शक्ति), 'समन्दर', आदि को सुधारना और बात है, और सर्वमान्य 'नींद', 'लाख', 'जीभ', 'रात', आदि के बजाय 'निद्रा', 'लक्ष', 'जिह्वा', 'रात्रि', आदि का लिखना और बात है। वास्तव में देशज और तद्भव शब्द ही हिन्दी के निजी, असली हिन्दी शब्द हैं, शेष तो उधार लिये हुये ही कहे जायेंगे। हिन्दी अपनी निजी सम्पत्ति की उपेक्षा करके एक धनी और स्वतन्त्र भाषा नहीं बन सकती। एक बात और है। संस्कृत के शब्द प्रायः नुकीले और बोलने में कठिन होते हैं, परन्तु देशज और तद्भव शब्द हिन्दी की ध्वनि प्रणाली में ढले हुये, बोलने में सरल, मधुर, छोटे और गोलमटोल होते हैं, क्योंकि असंख्य प्राणियों के मुख में तुलते तुलते उनके कोने झड़ चुके होते हैं। भाषा पर ये शब्द भार स्वरूप नहीं मालूम देते। वास्तव में यही भाषा को गति और प्रवाह प्रदान करते हैं।

वलिज्म है', आदि। बस, एक हजार साल से गुलामी का बोझा ढोने वाले हिन्दू चुपचाप सहन कर लेते हैं। वे भाषा का महत्व कैसे समझें? हिन्दुस्तानी वाले तर्क भी बहुत सुन्दर उपस्थित कर देते हैं। एक प्रेस प्रतिनिधि के प्रश्न के उत्तर में प० सुन्दरलाल ने बताया, "अदालतों की भाषा ऐसी होनी चाहिये जिसे हिन्दू मुसलमान दोनों समझें, परन्तु दोनों लिपियों में काम करने की छूट होनी चाहिये" (क्योंकि अभाग्यवश उन्होंने कोई लिपि तो कामन बनाई नहीं!)। चूँकि अदालतों की भाषा पिछले सौ वर्षों से उर्दू है और इसलिये चूँकि जिन्हें—हिन्दू और मुसलमान—अदालतों से काम पड़ता है वे सब इसी को समझते हैं, प० सुन्दरलाल के कथन का सीधा अर्थ यह है कि वही भाषा बनी रहे। अदालतों की भाषा के विषय में एक हिन्दी वाले से बातचीत के सिलसिले में प० गोविन्दवल्लभ पंत ने कहा, "आप 'अदालत' रक्खेंगे, 'मुकदमा', 'वकील', 'मुद्दई', 'मुद्दालह' रक्खेंगे या नहीं? आपका सिद्धान्त तो ठीक है, परन्तु जब जनता के एक भाग की भावना प्रतिकूल हो तो क्या किया जाय?" हिन्दीवाले यह आशा त्याग दें कि पंत का मन्त्रिमंडल अदालतों, दफ्तरों, पुलिस, म्यूनिसपैलटी, आदि की भाषा में कोई परिवर्त्तन करेगा *। कांग्रेसी मन्त्रि-मंडल लीगी

---

* पंत जी के राजनीतिक भाषा-शास्त्र का एक और नमूना देखिये। बातचीत के सिलसिले में उनसे कहा गया कि युक्त-प्रान्त में एक भाषा और लिपि को कामन बनाना ही पड़ेगा, क्योंकि जिन प्रांतों में एक से अधिक भाषायें और लिपियाँ हैं वहाँ सब की सब राजभाषा भी नहीं बनाई जा सकतीं, और प्रांतीय जीवन को एक सूत्र में बाँधने के लिये भी एक कामन भाषा और लिपि की आवश्यकता पड़ेगी ही, और वह प्रांत की मुख्य भाषा और लिपि ही हो सकती है, जैसे हैदराबाद में तेलगू, मराठी, कन्नड़ और तामिल हैं, चारों भाषायें और लिपियाँ राजभाषा नहीं हो सकतीं, और यद्यपि प्रत्येक हैदराबादी को अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होगा, हैदराबाद की राजभाषा और कामन भाषा वहाँ की मुख्य

प्रणाली में नहीं खपेंगे या तो बिलकुल नहीं चलेंगे या, यदि उनके मुकाबले पर दूसरे शब्द न हुए तो, हिन्दी की ध्वनि-प्रणाली में ढलन, ढल जायेंगे और लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा में भारी अन्तर पड़ जायगा। हिन्दी में 'टिकेट' नहीं खप सकता था, इसलिये वह 'टिकट' हो गया, 'लैन्टर्न' 'लाल-टेन' हो गया। अँगरेजी में 'बम्बई' नहीं खपता था, इसलिये वह 'बाम्बे' हो गया, 'कलकत्ता' 'केलकटा' हो गया, 'मथुरा' 'मटरा' हो गया, इत्यादि। हिन्दीवालों को अपनी भाषा की ध्वनि-प्रणाली पहचानना चाहिये और उसके अनुसार चलना चाहिये। तुलसी और हिन्दी के अन्य प्राचीन कवियों की रच-नाओं में संस्कृत शब्दों को हिन्दी के साँचे में ढालकर ही लिया गया है। उनकी लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण यही है। गाँववाले आनन्द के साथ कबीर की साखियाँ गाते हैं और गा पाते हैं। 'प्रसाद', पन्त या 'निराला' की कविता का प्रवाह भी क्या उनके कण्ठ से इसी स्वच्छन्दता के साथ निकल सकता है? संस्कृत शब्दों की व्यर्थ की तोड़-मरोड़ अच्छी नहीं (इस मामले में प्राचीन हिन्दी कवि भी निर्दोष नहीं कहे जा सकते), परन्तु संस्कृत शब्दों को सदैव अपने मूल तत्सम रूप में लेने का मोह भी अच्छा नहीं।

(इ) हिन्दी में यौगिक और समास-युक्त शब्दों का कम से कम प्रयोग होना चाहिये। जहाँ तक हो सके, शब्द लम्बे न हों।

(ई) विषय चाहे गम्भीर हो चाहे हल्का, भाषा सरल से सरल होनी चाहिये। जो बात कम शब्दों में, सरल शब्दों में, और सीधी तरह कही जा सकती है, उसे शब्दाडम्बर के साथ, कठिन शब्दों में, घुमा फिराकर कहने की प्रवृत्ति कभी अच्छी नहीं कही जा सकती। आधुनिक हिन्दी को 'आमफहम' बनाने के लिये उसे कांग्रेस की या वर्धा की हिन्दुस्तानी बनाने की जरूरत नहीं और न वह इस प्रकार आमफहम हो सकती है परन्तु उसे अभी और सरल अवश्य बनाया जा सकता है। सदैव सरल से सरल शैली का प्रयोग होना चाहिये।

को जहाँ होना चाहिये वहाँ तो उर्दू रहेगी ही, बस जहाँ हिन्दी को होना चाहिये वहाँ ही 'हिन्दुस्तानी' होगी जो ६० प्रतिशत उर्दू और कालान्तर में शुद्ध उर्दू होगी, और होगी उनकी उर्दू लिपि। 'हिन्दुस्तानी' केवल हिन्दी की जड काटेगी, भारत के कोने कोने में उर्दू और उर्दू लिपि को ले जायगी जहाँ उन्हे एक हजार वर्ष का मुस्लिम शासन भी न ले जा सका, और प्रत्येक हिन्दू को उर्दू लिपि और उर्दू सीखने के लिये विवश करेगी। भला ऐसा 'पैक्ट' उन्हें क्यों न भायेगा॰॰? बस, केवल हिन्दुओं के गले के नीचे इस पैक्ट को उतारना बाकी है। सो 'राष्ट्रीयता' में भली भाँति सान कर उतारा जा रहा है। बेचारे हिन्दू तो कांग्रेस की जेब में हैं। भाषा तो भाषा है, यदि कल गांधीजी यह कहने लगें कि स्वराज्य-प्राप्ति का सबसे सरल उपाय यह है कि भारत में एक ही धर्म के अनुयायी हों और चूँकि मुसलमान हिन्दू हो नहीं सकते इसलिये सब हिन्दू मुसलमान हो जायँ, तो जैसे आज कांग्रेस वालों को उर्दू पढाने के लिये मौलवी ढूँढे नहीं मिलते, कल से हिंदुओं को कलमा पढाने के लिये मुल्लाओं की कमी पड जायगी। परन्तु फिर भी क्या स्वराज्य मिल जायगा? मिले या न मिले, गांधी-दर्शन के अनुसार विरोधी के हृदय को पिघलाने का शुद्ध अहिंसात्मक उपाय तो यही है, और भाषा के मामले में इसी का हिंदुओं को उपदेश दिया जा रहा है। यदि वे उपदेश मानें तो 'राष्ट्रीय' हैं, यदि न मानें तो उन्हें "स्वराज्य की इच्छा नहीं है।"

॰ श्री श्रीमन्नारायण अपने हिन्दुस्तानी-वाद की सफ़ाई यह कह कर देते हैं कि जिस प्रकार हिन्दी पत्रों में 'हिन्दुस्तानी' के विरुद्ध प्रचार हो रहा है, उसी प्रकार उर्दू पत्र 'हिन्दुस्तानी' का विरोध कर रहे हैं और कह रहे हैं कि यह धोखा है, हिन्दुस्तानी का अर्थ हिन्दी-प्रचार है, (कहाँ कहाँ?) आदि। ठीक है, उर्दू पत्र ऐसा क्यों न कहें? उन्हे इस प्रकार कहते रहने में ही लाभ है। मुसलमानों को अपनी ब्लैकमेल की नीति से किस क्षेत्र में लाभ नहीं हुआ है?

का भी मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है। वास्तव में हिन्दी के कवियों को अत्यन्त प्रशस्त और प्राचीन परम्परायें विरासत में मिली हैं। यदि वे उससे लाभ न उठायें, तो यह हिन्दी का दुर्भाग्य है। आधुनिक युग में बंगाल में रवीन्द्र ने जनता को जन-कविता दी, फलस्वरूप बंगाल के एक एक बच्चे की जबान पर टैगोर के गीत विराजमान हैं। इस प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्र ने साहित्य और जनता के बीच की खाई को पाटा, परन्तु हिन्दी के कवि साहित्य और जनता के बीच की खाई को और चौड़ा कर रहे हैं। हिन्दी के कवियों को तुरन्त अपनी भाषा पर ध्यान देना चाहिये। उन्हें राष्ट्र की कविता का निर्माण करना है। यदि हिन्दी कवि अपनी भाषा को सरल कर लें, तो कवि-सम्मेलनों द्वारा हिन्दी-प्रचार में भी बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। कवि-सम्मेलनों की लोकप्रियता भी बढ़ेगी और उनसे जनता के सांस्कृतिक जीवन का स्तर भी ऊँचा होगा और जनता की रुचि परिमार्जित होगी।

(३) उच्च विषयों के लिये पारिभाषिक शब्द बनाये जायँ और उन्हें निश्चित (standardise) किया जाय। इन शब्दों की अन्य भारतीय भाषाओं को भी आवश्यकता है। अच्छा हो यदि सभी भारतीय भाषाओं के विद्वान् मिलकर पारिभाषिक शब्दों के एक 'स्टैंडर्ड' कोष का निर्माण करें। उर्दू के प्रतिनिधि न बुलाये जायँ, क्योंकि उर्दू वाले अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाने पर तुले हुये हैं। उन्हें बुलाने से केवल व्यर्थ का विवाद होगा, और जो काम हो सकता है वह भी न होगा *।

* पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दावली गढ़ने के विषय में डा० रघुवीर के आधीन इंटरनेशनल एकाडेमी आफ इंडियन कलचर, लाहौर, का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है। डा० रघुवीर देश और विदेश के विद्वानों की सहायता और सहयोग से आधुनिक ज्ञान और विज्ञान की लगभग ६०० विशिष्ट शाखाओं के लगभग २० लाख अँगरेजी तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओं के पारिभाषिक शब्दों के स्वदेशी पर्याय गढ़ने में संलग्न हैं। ये सब पर्याय संस्कृत

यह है 'जनता की भाषा हिन्दुस्तानी', 'राष्ट्र भाषा हिन्दुस्तानी' की सेवा! हिन्दुस्तानी वाले गांधीजी के नाम और उनके साथ अपने सम्पर्क से लाभ उठाकर सरकार द्वारा अपनी 'हिन्दुस्तानी' और उर्दू-लिपि अनिच्छुक जनता के ऊपर लादना चाहते हैं—यह सब राष्ट्रीयता की ओट में! ऊपर से कहते यह हैं कि हिन्दुस्तानी का स्वरूप तो करोड़ों जनता निश्चित करेगी! उन्हें यह भी सह्य नहीं कि सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति स्वतन्त्रता-पूर्वक अपना काम करती रहे और वे अपना कार्य करें। उन्होंने साम दाम दण्ड भेद से सम्मेलन के राष्ट्र-भाषा प्रचार के पूरे संगठन को अपनी मुट्ठी में करने का और सम्मेलन के कार्य-कर्त्ताओं को फोड़ने का दृढ निश्चय कर लिया है। उन्हें भय है कि यदि राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति भी मैदान में रही तो जनता हिन्दुस्तानी को पूछेगी ही नहीं, इसलिये उनका प्रथम ध्येय राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के संगठन को ध्वस्त करना है और इसकी पूर्ति में उन्होंने अपनी समस्त 'राष्ट्रीय' शक्ति लगा दी है। अस्तु, वे इस प्रकार गांधीजी के इस वाक्य का पालन कर रहे हैं कि "सम्मेलन के खिलाफ़ कुछ काम न होगा।" कुछ लोग शायद कहेंगे कि स्वयम् गांधीजी को अपने अनुयायियों के ये ढंग पसंद नहीं आयेंगे। परन्तु क्या गांधीजी को अपने अनुयायियों की करतूतों का पता नहीं है? और फिर क्या स्वयम् गांधीजी ने दक्षिण में हिन्दी प्रचार बन्द कराके हिन्दुस्तानी प्रचार कराने के लिये सब कुछ नहीं किया, अथवा क्या महाराष्ट्र में जो कुछ हुआ वह उनके सामने नहीं हुआ? रही सरकारों पर जोर डालने की बात, सो क्या स्वयम् गांधीजी ने कांग्रेसी मन्त्रि मण्डलों पर अपने सिद्धान्तों पर चलने के लिये जोर नहीं डाला है? मद्य-निषेध ही का उदाहरण दिया जा सकता है। अस्तु, काका कालेलकर ने आसाम में जो कुछ किया और करना चाहते हैं, वह हिन्दुस्तानीवालों की नीति का एक प्रमुख अंग है। उनकी नीति में यह भी शामिल है कि यह सब हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में ही किया जाय। काका

अँगरेजी का या अरबी फारसी का शब्द उठा कर धर दिया जाता है और फिर भी एक अर्थ में सदैव एक ही शब्द का प्रयोग नहीं होता। साधारण से साधारण शब्द के मामले में यही हाल है (उदाहरण के लिये 'Dead-lock' के लिये 'जिच', 'अड़गा', 'गति-अवरोध' आदि, आदि चलते हैं जिनमें से कोई भी ठीक अर्थ को व्यक्त नहीं करता)। इसमें समाचार-पत्रों का अधिक दोष नहीं। उनके सामने कोई स्टैंडर्ड और पूर्ण पारिभाषिक शब्दावली है ही नहीं। कारण जो भी हों, 'भाषा' की सत्ता का दावा करने वाली किसी भाषा के लिये यह अत्यन्त लज्जा की बात है।

(४) एक हिन्दी एकाडेमी की स्थापना होनी चाहिये जो भाषा-विषयक सब विवादों का फैसला करे, ऊपर भाषा सबन्धी जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनके अनुसार भाषा में परिवर्तन, संशोधन करके भाषा का स्वरूप निश्चित करे और उसका आदर्श सामने रक्खे। यही हिन्दी हमारी 'आदर्श हिन्दी' या 'किंग्स हिन्दी' होगी। अब तक जो कार्य हिन्दी के कुछ लेखकों ने व्यक्तिगत रूप से किया है, वह अब एक हिन्दी एकाडेमी ही कर सकती है। अब एक हिन्दी एकाडेमी ही हिन्दी पर उचित नियंत्रण रख सकती है और हिन्दी लेखकों पर यथेष्ट और व्यापक प्रभाव डाल सकती है। यही एकाडेमी अरबी फारसी शब्दों की मर्यादा निश्चित करे और हिन्दी का स्टैंडर्ड कोष प्रकाशित करे जिसमें केवल वे ही अरबी फारसी शब्द हों जिन्हें हिन्दी में रखना है। इस कोष में सब शब्द अपने निश्चित रूपों में हों। इस स्टैंडर्ड कोष को अपटुडेट रखना अर्थात समय समय पर उसके परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित करना भी इसी एकाडेमी का काम होगा। इस एकाडेमी को एक स्टैंडर्ड और परिपूर्ण अँगरेजी-हिन्दी कोष भी प्रकाशित करना चाहिये। यह एकाडेमी उन अरबी फारसी शब्दों की एक अलग तालिका भी प्रकाशित करे जिनका हिन्दी से बहिष्कार होना चाहिये, और आगे के लिये भी उचित कार्रवाई करे जिससे हिन्दी अरबी-

हिन्दी ने राष्ट्रीय भावना और स्वातन्त्र्य प्रेम को जागृत करने में जो सहायता दी है और सम्मेलन के राष्ट्र-भाषा प्रचार ने अहिन्दी भाषियों को हिन्दी भाषियों के साथ भाषा के बन्धन में बाँधकर देश में जो ऐक्य स्थापित किया है, वह कहने की नहीं, अनुभव करने की चीज है। और सम्मेलन के कार्यक्रम और सिद्धान्तों से देश को कोई हानि तो पहुँची ही नहीं। फिर सम्मेलन अराष्ट्रीय कैसे हो सकता है? देखना यह है कि सम्मेलन को अराष्ट्रीय घोषित करने वाले कितने गहरे में हैं, उनका कार्यक्रम और उनके सिद्धान्त कहाँ तक राष्ट्रीय हैं। जहाँ तक उनके कार्यक्रम का सम्बन्ध है, वहाँ तक उनकी कारगुजारी पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। जो बात सबसे अधिक स्पष्ट है वह यह है कि जिनको खुश करने के लिये हिन्दी छोड़ 'हिन्दुस्तानी' का नारा बुलन्द किया गया है वे, अर्थात् मुसलमान, हिन्दुस्तानी के कार्यक्रम से रत्ती भर प्रभावित नहीं हुये हैं और न हो सकते हैं। हिन्दुस्तानी का प्रचार केवल हिन्दुओं और हिन्दू-प्रान्तों तक सीमित है और रहेगा। सोचने की बात है कि हिन्दुओं और हिन्दी प्रान्तों में तो भाषा-ऐक्य हिन्दी ही स्थापित कर सकती है, कहीं अच्छी तरह और आसानी से स्थापित कर सकती है और सफलता के साथ स्थापित कर ही रही थी। हिन्दुस्तानी आन्दोलन ने केवल हिन्दुओं में भी फूट डाल दी, और जो कार्य हिन्दी कर रही थी उसमें भी बाधा उपस्थित कर दी। हिन्दुस्तानी आन्दोलन का केवल इतना ही परिणाम हुआ है। हिन्दुस्तानी आन्दोलन केवल आर्य समाज, नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के करे कराये पर पानी फेर रहा है। यह कैसी 'राष्ट्रीयता' है? हिन्दुस्तानी वालों को चाहिये तो यह था कि वे यह कहते कि जो हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानकर हिन्दी पढ़ना चाहें वे हिन्दी पढ़ें, और जो उर्दू पढ़ना चाहें वे उर्दू पढ़ें। यह कदम हमें और आगे ले जाता। इसके बजाय उन्होंने हिन्दी उर्दू दोनों और दोनों लिपि अनिवार्य करके उनको भी राष्ट्र-भाषा पढ़ने से रोक दिया जो राष्ट्र-भाषा

(५) एक हिन्दी समाचार एजेन्सी की स्थापना की जाय जो हिन्दी पत्रों को शुद्ध, आदर्श, स्टैंडर्ड हिन्दी अर्थात 'किंग्स हिन्दी' में समाचार सप्लाई करे। इससे भाषा का स्वरूप निश्चित करने में सहायता मिलेगी, भाषा विषयक धाँधलीबाजी दूर होगी, पत्रों का स्तर और स्टैंडर्ड ऊँचा होगा, पत्रों के अनुवाद-सम्पादकों की कठिनाइयाँ दूर होंगी और हिन्दी पत्र अँगरेजी पत्रों का स्थान ले सकेंगे। पढने में आया है कि कोई सज्जन देवनागरी का टेलीप्रिंटर बना रहे हैं जिससे हिन्दी में समाचार अँगरेज़ी में समाचारों की भाँति भेजे जा सकेंगे, परन्तु जब तक वह नहीं बनता तब तक हिन्दी समाचार एजेन्सी को डाक और तार से ही काम निकालना चाहिये। यह एजेन्सी कांग्रेस नेताओं के 'हिन्दुस्तानी' भाषण और वक्तव्य भी स्टैंडर्ड हिन्दी में भेजे जिससे हिन्दी पत्रों द्वारा भाषा कलुषित न होने पावे। (आज-कल कितने ही पत्र कांग्रेस नेताओं के हिन्दुस्तानी उर्फ उर्दू के भाषण ज्यों के त्यों छाप देते हैं ; नेताओं को उपस्थित जनता के ६५ प्रतिशत के बजाय मुसलमानों को अपनी बात समझाने की ज्यादा चिन्ता होती है, पर हिन्दी पत्र तो हिन्दी का न सही, कम से कम हिन्दी पाठकों का ख्याल रक्खें।) जब आल इन्डिया रेडियो हमारी न्यायोचित माँग पूरी करने के लिये विवश होगा, तो जिस प्रकार बी. बी सी. अँगरेज़ी भाषा का और उसके शुद्ध उच्चारण का आदर्श संसार के सामने रखता है, उसी प्रकार हिन्दी समाचारों के प्रसार द्वारा अच्छी हिन्दी का आदर्श सामने रक्खा जा सकेगा।

(६) हिन्दी और देवनागरी के माध्यम से उर्दू प्रचार बिलकुल बन्द हो जाना चाहिये। कुछ विशेष बातें जिनकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, निम्नलिखित हैं—

(अ) पहला कर्त्तव्य हिन्दी पत्रों के सम्पादकों का है। उन्हें सब समाचार, वक्तव्य, आदि शुद्ध और अच्छी हिन्दी में छापना चाहिये। कांग्रेस नेताओं की 'हिन्दुस्तानी' को ज्यों का त्यों छापने का मोह

"देशी नरेशों के प्रश्न की तरह सम्पादक सम्मेलन के कुछ लोग हिन्दुस्तानी नहीं जानते, यह प्रश्न भी सामने लाया गया"। क्या यह बात झूठ थी? अवश्य ही, क्या सम्मेलन मे कोई ऐसा सम्पादक भी था जो अँगरेजी न जानता हो? अँगरेजी के भाषण, अँगरेजी की कार्रवाई तो सम्मेलन मे उपस्थित प्रत्येक सम्पादक ने समझ ली। अब प्रश्न यह है कि अखिल भारतीय सभाओ और सम्मेलनो में उपस्थित प्रत्येक भारतीय एक भारतीय भाषा समझ सके, यह परिस्थिति हिन्दी उर्दू दोनो और दोनों लिपि अनिवार्य करने से शीघ्रतर उत्पन्न होगी या एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि की शिक्षा अनिवार्य करने से? प्रस्ताव का विरोध 'नेशनल हेरल्ड' के सम्पादक श्रीरामा राव ने भी किया। उनके विषय मे इदूरकरजी लिखते हैं, "आपने टूटी फूटी हिन्दुस्तानी मे भाषण यह दिखाने के लिये ही किया कि हिन्दुस्तानी गभीर विचारो का प्रतिपादन नहीं कर सकती। आपने अन्त में यह भी कहा कि मैं हिन्दुस्तानी नहीं बोल सकता"। इस पर इदूरकर जी टिप्पणी करते हैं, "मेरी समझ में नही आया कि १० साल यू० पी० में रहने के बाद भी श्रीरामा राव हिन्दुस्तानी क्यों न सीख सके?" ठीक है, यदि कोई यू० पी० में रहने के कारण ही गभीर विचारों के प्रतिपादन करने योग्य 'हिन्दुस्तानी' सीख सकता होता तो यू० पी० में पैदा होने वाले किसी बालक को तो स्कूल में 'हिन्दुस्तानी' पढाने की आवश्यकता ही न होती! जिन १८ करोड व्यक्तियों की 'मातृ-भाषा' गाधीजी 'हिन्दुस्तानी' बताते हैं, उनको भी 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' मे पारगत करने के लिये हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को क ख ग और अलिफ बे के सिवा और कुछ पढ़ाने का कष्ट न करना पड़ता! और विलायत का एक अपढ देहाती बिना किसी स्कूल में अँग्रेजी पढे चर्चिल का भाषण समझ लेता और ऐटली के समान बोलकर पार्लामेन्ट को मुग्ध कर लेता! वास्तव में श्रीरामा राव के कथन से श्री इदूरकर को सोचना तो यह चाहिये था कि एक अहिन्दी

भाषा के इस पाकिस्तान और वर्ण-भेद के विषय में कुछ कहना अनावश्यक है। यह दोष बहुत हद तक ऊपरवाले दोष (आ) के अन्तर्गत है। यह उर्दू की गुलामी के सिवा और कुछ नहीं। अँगरेजी में इस प्रकार लिख कर कोई नाम पैदा करना नहीं चाहेगा:—'Patriotism of Christians, desh-bhakti of Hindus, hubbulvatni of Muslims', 'Christian religion, Hindu dharma and Muslim mazhab', 'English poems, Hindi kavitas, Urdu nazms'. आदि।

दूसरे शब्दों में, हिंदी की एक निश्चित सस्कृति होनी चाहिये। प्रत्येक भाषा की एक सस्कृति होती है, अर्थात् प्रत्येक भाषा एक विशिष्ट सस्कृति का प्रतीक होती है, और उसमें उसी सस्कृति का वातावरण लक्षित होता है तथा उसी की विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग होता है। अँगरेजी की सस्कृति ईसाई अँगरेजों की सस्कृति है। उसमें प्रत्येक धर्म का पात्र अँगरेजी में बात करता है, सब को 'मिस्टर' कहा जाता है (किसी को 'श्री' या 'जनाब' नहीं), सबके धर्म को 'रेलीजन', सब के पिता को 'फ़ादर', सब की माता को 'मदर', इत्यादि कहा जाता है। हिन्दी की सस्कृति क्या हो? उर्दू की सस्कृति मुसलमानी संस्कृति है। तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' की सस्कृति भी वही है। डा० ताराचन्द और प० सुन्दरलाल की प्रयागवाली 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी' की 'हिन्दुस्तानी कलचर' की परिभाषा है शिक्षित समाज के आदावअर्ज और पैजामा वाले वर्ग की सस्कृति। उनके लिये वही हिन्दू-मुस्लिम सम्मिलित सस्कृति का आदर्श है, और उसी वर्ग की भाषा आदर्श 'हिन्दुस्तानी' है। उनकी नजर मे न नमस्ते और धोती वाले वर्ग की सस्कृति का कोई महत्त्व है, और न शहरों और गाँवों मे बसनेवाली करोड़ों हिन्दू और मुसलमान जनता की सस्कृति का—जिस प्रकार उनकी नजर में इनकी 'हिन्दुस्तानी' का कोई महत्त्व नहीं। परन्तु हम तो आदावअर्ज और पैजामा वाले वर्ग की सस्कृति को गुड मार्निंग और पतलून वाले वर्ग की सस्कृति से

सस्कृत निष्ठ और दूसरी ओर मुसलमानों ने फारसी-निष्ठ किया। यदि वे सच्ची बात अर्थात् यह कि सस्कृत-निष्ठ हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी को बाद मे बदल कर मुसलमानों ने उसे फारसी-निष्ठ किया, कहने लगें, तो उनकी 'असाम्प्रदायिक' ९५ प्रतिशत उर्दू + ५ प्रतिशत हिन्दी=हिन्दुस्तानी का आधार जो नष्ट हो जाय।

हिन्दुस्तानी वालों का साम्प्रदायिकता-प्रचार लिपि के मामले में और भी प्रत्यक्ष है। हम हिन्दी वाले तो चाहते हैं और प्रयत्न करते हैं कि राष्ट्र-भाषा ही नहीं, वरन् सारी भारतीय भाषायें एक ही लिपि देवनागरी में लिखी जायँ (इस प्रयत्न मे हमें अहिन्दियों से भी सहयोग मिला है), परन्तु हिन्दुस्तानी वाले राष्ट्र-भाषा की भी दो लिपियाँ रखना चाहते हैं, और 'देवनागरी हिन्दुओं की लिपि है, फारसी लिपि मुसलमानों की', यह नारा लगा कर भारत के कोने कोने में लिपि-साम्प्रदायिकता का प्रचार कर रहे हैं, और सब जगह देवनागरी-फ़ारसी लिपि का झगड़ा पैदा कर रहे हैं। वे शायद समझते हैं कि ऐसा करने से उनके 'हिन्दुस्तानी की दो लिपि' वाले सिद्धात के लिये रास्ता साफ हो जायगा। वे इस सिद्धात को स्वीकृत कराने के लिये देवनागरी और फारसी लिपि को केवल साम्प्रदायिक लिपियाँ ही घोषित नहीं करते हैं, वरन् देवनागरी और फारसी लिपि को एक दूसरे के समकक्ष रख देते हैं। उन्हे स्वदेशी, पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि देवनागरी और विदेशी, अपूर्ण और अवैज्ञानिक फारसी लिपि में कोई अन्तर नहीं दीखता। उनके लिये यह कहना फैशन हो गया है कि हिंदुस्तानी की दो लिपियाँ हैं, इसलिये दोनों मान्य होनी चाहिये। यदि वे सच्ची बात अर्थात् यह कि हिन्दुस्तानी की लिपि केवल एक देवनागरी थी, और बाद में मुसलमानों ने उसे फारसी लिपि में लिखना शुरू किया, तो उनके दोनों लिपि वाले सिद्धान्त का साम्प्रदायिक आधार जो नष्ट हो जाय। आश्चर्य नहीं यदि दोनों लिपि के साम्प्रदायिक नारे के फल-स्वरूप प्रत्येक भारतीय भाषा की दो दो लिपियाँ

उर्दू प्रचार में सहायक तो है ही, हिंदीवालों की मूर्खता और हीनता और हिन्दी की अपमानजनक स्थिति का द्योतक भी है। इस पाकिस्तान को तुरत दूर करना चाहिये।

(ई) हिंदी मे उर्दू के अवतरण, शेरें, इत्यादि प्रायः इस प्रकार उद्धृत की जाती हैं मानो वे हिंदी की ही हों। कुछ और हिंदी लेखक हिंदी और देवनागरी द्वारा उर्दू प्रचार के पुण्य कार्य को पूर्ण करने के लिये उर्दू शब्दों के आगे कोष्ठकों मे उनके हिंदी पर्याय लिख देते हैं जिससे हिंदी पाठकों को उर्दू सीखने में किसी प्रकार की असुविधा न हो ! यह एक अत्यन्त शोचनीय अवस्था है जिसे तुरन्त दूर होना चाहिये। उर्दूवाले उर्दू में हिंदी के अवतरण देवनागरी से उलथा करके उर्दू लिपि मे ज्यों के त्यों धरने की मूर्खता करके उर्दू पाठकों के कोप-भाजन नहीं बनते और न अपनी मूर्खता को छिपाने के लिये (या उसे पूर्णतया सिद्ध करने के लिये !) फिर हिन्दी शब्दों के आगे कोष्ठकों मे उर्दू शब्द लिखते हैं। यदि वे ऐसी मूर्खता करने की सोचें भी, तो उनकी लिपि उन्हें तुरन्त ठीक रास्ता दिखा देगी। अँगरेजी में जब किसी दूसरी भाषा का अवतरण उद्धृत किया जाता है तो उसका मूल न देकर उसका अँगरेजी अनुवाद दिया जाता है। यदि मूल देना आवश्यक ही होता है, तो उसके साथ उसका अँगरेजी अनुवाद अवश्य दिया जाता है। ऐसा ही हिन्दी मे होना चाहिये। उर्दू से हिंदी मे अनुवाद करना तो फिर अपेक्षाकृत सरल है। जिस हिन्दी लेखक को उर्दू का अवतरण उद्धृत करना हो वह यदि मूल को उर्दू लिपि से ज्यों का त्यों देवनागरी में रखने के बजाय देवनागरी मे उसका हिंदी अनुवाद लिखता चले, तो उसे तो कोई विशेष कष्ट नहीं होगा, परन्तु पाठक पर उसकी बड़ी कृपा होगी और हिन्दी की रक्षा भी हो जायगी। यदि मूल देना आवश्यक ही हो तो उसे उर्दू लिपि में दिया जाय। उर्दू हिंदी की एक शैली ही सही, परन्तु उसकी अपनी अलग लिपि भी तो है। जिस प्रकार हिन्दी मे आवश्यकता पड़ने पर अँग-

के ज्ञान के अनुरूप शैली बदला ही करती है, परन्तु इस कारण न भाषा का नाम बदलता है और न उसकी शब्दावली। हिन्दी में भी ऐसा ही होता है। जिस प्रकार अँगरेजी का 'लिटरेचर' शब्द नहीं बदल जाता, उसी प्रकार हिन्दी मे उच्च साहित्य में आने वाला शब्द 'साहित्य' समाचार पत्रो में जाकर 'अदब' नहीं हो जाता। प्रचार के मामले में भी वही बात है। जो अँगरेजी अँगरेज बच्चो को पढाई जाती है, वह अँगरेजी साहित्य वाली अँगरेजी से भिन्न नहीं होती, और जो अँगरेजी गैर-अँगरेज बच्चों को पढ़ाई जाती है, वह अँगरेज बच्चों को पढाई जानेवाली अँगरेजी से भिन्न नहीं होती। जैसी अँगरेजी इङ्गलैंड की भाषा है वैसी बृटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा है, और वैसी ही ससार-भाषा है। इसी प्रकार हिन्दी प्रान्तों मे पढ़ाई जानेवाली हिन्दी साहित्य की हिन्दी से भिन्न नहीं हो सकती, और अहिन्दी प्रान्तो मे प्रचारित की जानेवाली हिन्दी हिन्दी प्रान्तों की हिन्दी से भिन्न नहीं हो सकती, अर्थात् राष्ट्र-भाषा हिन्दी प्रान्त-भाषा हिन्दी या मातृ-भाषा हिन्दी से भिन्न नही हो सकती (देखिये परिशिष्ट १२)। और, हिन्दी प्रान्तो की वह बोलचाल की भाषा क्या है, कैसी है, सब जगह एक सी है अथवा नहीं, उसका सबसे अधिक सुलभ स्वरूप क्या है, और वह किस लायक है, इन सब बातो पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। वास्तव मे बात यह है कि हिन्दुस्तानी के समर्थक अन्य राजनीतिक नेताओ की भाँति बाबू राजेन्द्रप्रसाद भी राष्ट्र-भाषा की समस्या पर अपने राजनीतिक दृष्टि-कोण को अलग रखकर विचार करने में असमर्थ हैं।* इसका एक

* बाबू राजेन्द्रप्रसाद की राजनीतिक उलझन के कुछ और नमूने देखिये—
(१) अपने भाषण में पहले उन्होंने कहा, "भाषा के स्वरूप निर्धारण पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भाषा बनाने की चीज़ नहीं है। वस्तु, काल, आदि से प्रभावित होकर वह स्वयं बनती है और स्वयं भू राष्ट्र-भाषा हो सकती है", और आगे चलकर कहा, "आज इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि बंगाल, पंजाब, मद्रास, आदि देश के विभिन्न

द्वारा हँसने हँसाने मे उन्हें आनन्द नहीं आता। जब तक वे हास्य के स्तम्भ में 'हमारी न्यायशीला सरकार ने हमें न्याय प्राप्त करने की जो सुविधायें प्रदान की हैं' लिखने के बजाय 'हमारी इन्साफ़पसन्द सरकार ने इन्साफ़ हासिल करने की जो सहूलियतें हमे बख्शी हैं' न लिखेंगे, तब तक उनकी समझ में इस वाक्य मे हास्य का पुट नहीं आ सकता। उदाहरण के लिये, हिंदी के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'देशदूत' को लीजिये। उसके सबसे पहले पृष्ठ पर ही 'सीधी टेढी खरी मजेदार' शीर्षक हास्य का स्तम्भ रहता है। ऐसा मालूम होता है कि इस स्तम्भ के लेखक की राय मे, और सम्पादक की राय मे भी, इस स्तम्भ की मुख्य विशेषता और आकर्षण अरबी फ़ारसी शब्दो का प्रयोग ही है। केवल एक ही अंक में इस स्तम्भ के अन्तर्गत चुटकुलों में प्रयुक्त कुछ अरबी फ़ारसी शब्दों के नमूने देखिये—खसूसियत, शाया, तनज्जुली, जुर्रत, मुतफ़न्नी, महरूम, इलहाम, निजात, फिरकापरस्ती, तरमीम, अखबारनवीस, बाशिन्दा, हुब्बुलवतनी, राज, पैगाम, मुखलिफ़, मौजूँ, खाविन्द, महदूद, वाकई, शिगूफ़ा, इमदाद, इत्यादि।

हास्य के कवियों का भी यही हाल है। हास्य-जगत के दो प्रमुख कवियों 'बेधड़क' और 'बेढब' बनारसी की हास्यपूर्ण कवितायें या तुकबन्दियाँ प्रायः साप्ताहिक 'ससार' और 'देशदूत' मे छपती हैं। इन कविताओं और तुकबदियों की एक विशेषता यह है कि इनकी भाषा में किसी अरबी फ़ारसी शब्द के प्रवेश करने पर कोई रोक-टोक नहीं—हिंदी के शब्दों की संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में अनाधिकारी अरबी फ़ारसी शब्द इन कविताओं और तुकबन्दियो में विराजमान रहते हैं।

हास्य की यह परिभाषा हिंदी को छोड़कर ससार की किसी दूसरी भाषा मे नहीं मिलेगी। उर्दू मे तो कदापि नहीं।

(७) कांग्रेस की ओर से देश भर में प्रचार किया जाता है कि युक्त-प्रान्त की भाषा 'हिंदुस्तानी' है जिसका अर्थ हुआ कि 'हिंदी' किसी प्रदेश

रहा है और नही बिगाडेगा, अथवा उसके स्वरूप को विकृत नहीं करेगा और उसकी प्राचीन परपरा को नही तोड़ेगा ? क्या 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी की ही एक विकृत शैली नहीं है, और क्या 'हिन्दुस्तानी' लिखने, बोलने और प्रचार करने का प्रयास मिशनरियो द्वारा विकृत मराठी लिखे और बोले जाने के समान नहीं है ? जैसा घोर विरोध श्री काका कालेलकर के सहभापियो ने मिशनरियों का किया, क्या हिन्दुस्तानी वालो का वैसा ही घोर विरोध करना हम हिन्दी वालो के लिये उचित नही, जिससे उनकी हिन्दी के प्रति ऐसा अपराध करने की फिर हिम्मत न हो ?

मामले के इस पहलू को अच्छी तरह से समझ लेना अति आवश्यक है। हिन्दी वालो के लिये तो आवश्यक है ही, उन हिन्दुस्तानी वालों के लिये भी आवश्यक है जिनके चित्त मे वास्तव मे यह धारणा जम गई हो कि हिन्दुस्तानी से हिन्दी को हानि नहीं पहुँचेगी, और जो इस प्रकार हिन्दी की ओर से निश्चिन्त हो एक झूठी राष्ट्रीयता का लबादा ओढे हुये आन्दोलन के प्रभाव में आकर हिन्दुस्तानी वालों के गिरोह मे जा मिले हो। 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी से भिन्न कोई भापा नहीं। यदि वह हिन्दी से उसी प्रकार एक भिन्न भाषा होती जिस प्रकार बॅगला या मराठी हैं, तो उसके प्रचार से हम हिन्दी वालों को उससे अधिक चिन्ता न होती जितनी बॅगला या मराठी या गुजराती या अन्य सस्कृत-निष्ठ भापा-भापियों को इस समय है। परन्तु 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी की ही एक भ्रष्ट शैली है, और वह राजनीतिक और साम्प्रदायिक हेतुओ को सिद्ध करने के लिये और एक झूठे राष्ट्र-धर्म का प्रचार करने के लिये हिन्दी की स्वाभाविक शैली को ही मनमाने तौर से बिगाड़ कर, परिवर्तित और तोड़-मरोड़ कर बनाई जा रही है। वह हिन्दी की 'सगी' दुश्मन है। हिन्दी पर 'हिन्दुस्तानी' का हमला दो प्रकार से हो रहा है, और होगा। एक का उद्दश्य हिन्दी के अस्तित्व को अर्थात् हिन्दी की स्वाभाविक शैली के अस्तित्व को एकदम मिटा

सुन्दरलाल खुशी के लड्डू बाँटें !) बँगला के आधार पर बगाल, मराठी के आधार पर महाराष्ट्र, गुजराती के आधार पर गुजरात, तामिल के आधार पर तामिलनाद, तेलगू के आधार पर आन्ध्र और इसी प्रकार अपनी अपनी मातृ-भाषाओं के आधार पर अन्य प्रान्त बन जायँगे जिनमें उनकी अपनी अपनी मातृ-भाषायें और मातृ-लिपियाँ राजभाषा और राजलिपि बनेंगी और फलेंगी-फूलेंगी (स्कूलों में द्वितीय भाषा के रूप में अँगरेजी की भाँति 'हिन्दुस्तानी' या किसी दूसरी भाषा को भले ही पढ़ाया जाय), परन्तु हिन्दी के पल्ले पड़ेगा 'हिन्दुस्तानी भाषी प्रदेश' जहाँ हिन्दी को नहीं, 'हिन्दुस्तानी' को प्रतिष्ठित किया जायगा, अर्थात् उर्दू को इसी प्रकार अखण्ड राज्य करने दिया जायगा। 'हिन्दी' का, 'हिन्दी भाषी' कोई प्रदेश या प्रान्त ही नहीं होगा, जिसका अर्थ होगा कि भारत में 'हिन्दी' कहीं बोली ही नहीं जाती। यह है युक्त-प्रान्त की भाषा को 'हिन्दुस्तानी' बताने का रहस्य। कांग्रेस के इस प्रचार का युक्त-प्रान्त के निवासियों पर भी प्रभाव पड़ा है। युक्त-प्रान्त के निवासी किसी शिक्षित व्यक्ति से पूछिये, 'आपकी मातृ-भाषा क्या है ?', उत्तर मिलेगा, 'हिन्दुस्तानी'। अपनी मातृ-बोली गई, जिस भाषा की वह बोली है वह भी गई, रह गई बस 'हिन्दुस्तानी'! ब्रज-वासी भी 'हिन्दुस्तानी' बोलते हैं, अवध-निवासी भी 'हिन्दुस्तानी' बोलते हैं, काशी-वासी भी 'हिन्दुस्तानी' बोलते हैं! हिन्दी गई सो गई, 'ब्रज' और 'अवधी भी उठ गई जिनके साहित्य का इस 'हिन्दुस्तानी' का साहित्य अभी सैकड़ों साल तक पानी भरे! जब तक 'हिन्दी' थी तब तक ब्रज और अवधी का भी अस्तित्व था, 'हिन्दुस्तानी' में उन्हें स्थान कहाँ ? कांग्रेस प्रचार के मारे हुये शिक्षित सज्जन कहते हुये सुनाई देंगे, 'अँगरेजी में नहीं, हिन्दुस्तानी में बात कीजिये'। अपने मुँह मे 'हिन्दी' कहना उन्हें साम्प्रदायिकतापूर्ण और ओछा मालूम पड़ेगा क्योंकि कांग्रेस ने उन्हें यही सिखाया है कि हिन्दी का अर्थ है साम्प्रदायिकता, 'क्योंकि हिन्दी साम्प्रदायिक भाषा है, विशुद्ध राष्ट्रीयता की दुगली तो 'हिन्दुस्तानी'

स्तानी' चल रही है, ऐसी अवस्था मे हिंदी की स्वाभाविक शैली का क्या होगा ? यहाँ इतिहास से कुछ मदद मिल सकती है, यद्यपि आज के युग में राज्याश्रय पहले मे भी अधिक महत्वपूर्ण है। जब तक फारसी राजभाषा रही, तब तक फ़ारसी का बोलबाला रहा—उसी प्रकार जिस प्रकार आज अँगरेज़ी का है, 'पढे फारसी बेचें तेल, यह देखो विधना के खेल', यह कहावत बनी*, तेल बेंचने से बचनेवालों ने फ़ारसी पढ़ी, संस्कृत और देशी भाषाओं की पूछ न रही, खूब फ़ारसी का प्रचार हुआ और देशी भाषाओं पर फारसी का खूब प्रभाव पड़ा। फ़ारसी का यह घटाटोप कब हटा ? जब १८३७ मे फ़ारसी से राज्याश्रय हटा। फारसी से राज्याश्रय हटाकर जब देशी भाषाओं को राज्याश्रय दिया गया, तब देशी भाषाओं की पूछ शुरू हुई—उससे पहले नहीं। हिन्दी प्रान्तों में दुर्भाग्यवश उर्दू और उर्दू लिपि को राज्याश्रय मिला, हिन्दी और देवनागरी को नहीं। उसका जो परिणाम हुआ है, वह इस समय जीवित बहुत से हिंदीवालों ने अपने जीवन मे ही अनुभव किया है। खूब उर्दू का प्रचार हुआ, वही शिष्ट-समाज की भाषा समझी जाने लगी, अँगरेजों और विदेशियों ने भी उर्दू ही सीखी, विदेशों में उर्दू का ही प्रचार हुआ हिंदी गँवारू हो गई, उर्दू लिपि के कारण खूब शब्दों का उच्चारण भ्रष्ट, हुआ, हिंदुओं ने हिंदी को त्यागा, हिंदी साहित्य को त्यागा, हिंदी साहित्य रचना त्यागा, अपने आचार विचार और वेश-भूषा को त्यागा, हिंदू अपनी सभ्यता और संस्कृति से दूर होते चले गये, रामायण तक उर्दू मे पढने लगे, एक मामूली सा पत्र भी देवनागरी में लिखना भूल गये, और उर्दू का पंडित होने मे गर्व का अनुभव करने लगे। यह है राजभाषा और राज्याश्रय का प्रभाव ! उस पीढी के

* उसी परिस्थिति में जिसमे आज अँगरेज़ी पास ग्रेजुएट को जूतों पर पालिश करते देखकर महान आश्चर्य होता है और हम धारोधार आँसू बहाते हैं, परन्तु एक हिंदी साहित्य रत्न को भूखों मरते देख कर हमें कुछ आश्चर्य नहीं होता।

उलटे 'हिन्दुस्तानी' के नाते उर्दू और उर्दू लिपि का युक्त-प्रान्त पर इतना ही अधिकार हो गया जितना हिन्दी और देवनागरी का, और यह कहने की गुंजाइश और यह बतलाने का साधन भी न रहा कि युक्त-प्रान्त में इतनों की मातृ-भाषा हिन्दी है और केवल इतने अपनी मातृ-भाषा उर्दू बताते हैं। सब प्रकार से हिन्दी की घोर हानि हुई, और इसी कारण मुसलमान तहेदिल से युक्त-प्रान्त की भाषा को 'हिन्दी' के बजाय 'हिन्दुस्तानी' कहे जाने के साथ हैं।

हिन्दी की रक्षा के निमित्त इन बातों की आवश्यकता है.—

(अ) स्पष्ट घोषणा की जाय और प्रचार किया जाय कि १. युक्त-प्रान्त की प्रादेशिक या देशज भाषा अर्थात् मातृ भाषा हिन्दी है, 'हिन्दुस्तानी' नहीं, क्योंकि यहाँ की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं। हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली स्वयं हिन्दी की एक बोली है जो युक्त-प्रान्त के एक डेढ़ जिले में बोली जाती है, इसलिये युक्त-प्रान्त की भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' कदापि नहीं हो सकता। 'लैंगुएज सरवे आफ इन्डिया' में युक्त-प्रान्त की भाषा को 'हिन्दी' ही बताया गया है और यही नाम अब तक बराबर जन-गणना की रिपोर्टों में प्रयुक्त होता आया है ; २. युक्त-प्रान्त विशुद्ध हिन्दी प्रान्त है, और यहाँ की जनता की मातृ-भाषा और बोल-चाल की भाषा हिन्दी है, 'हिन्दुस्तानी' नहीं, इसलिये यहाँ हिन्दी का ही एकाधिकार हो सकता है। उर्दू किसी प्रदेश की जन-भाषा या मातृ-भाषा नहीं। वह एक साहित्यिक भाषा है, और युक्त-प्रान्त में उर्दू पढ़ने पढ़ाने और उसमें काम करने की छूट उसी हद तक और उसी प्रकार दी जा सकती है जिस प्रकार किसी अन्य साहित्यिक भाषा जैसे अँगरेजी, बँगला, इत्यादि में, ३. साहित्यिक दृष्टि से भी आधुनिक, साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी ही युक्त प्रान्त की साहित्यिक भाषा हो सकती है, क्योंकि यहाँ की विभिन्न बोलियों के साहित्य की और लोक-साहित्य की आधुनिक हिन्दी साहित्य से एका-कारता और एकरूपता है, उर्दू साहित्य या किसी 'हिन्दुस्तानी' साहित्य से नहीं।

वालो 'हिन्दुस्तानी' का क्या स्वरूप है और होगा, यह पहले बतलाया जा चुका है)।

हिन्दी पर 'हिन्दुस्तानी' के दूसरे प्रकार का हमला भी साधारण नहीं है। हिन्दुस्तानी की शैली हिन्दी की स्वाभाविक शैली पर अवश्य धीरे धीरे प्रभाव डालेगी और उसे विकृत करेगी। एक भाषा की दो शैलियों (वे परस्पर विरोधी ही क्यों न हों) का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। नितान्त भिन्न भाषाये तक परस्पर सम्पर्क में आकर एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं (उदाहरण—फारसी का हिन्दी पर प्रभाव, अँगरेजी का सब देशी भाषाओं पर प्रभाव), फिर एक भाषा की दो शैलियों या दो रूपों का कहना ही क्या है। जो 'हिन्दुस्तानी' शैली वर्धा मे, 'नया हिन्द' के सम्पादकीय कमरे* ने और

* असल में 'एडीटोरियल', 'एडीटरी' या 'एडीटरीय' कमरा या 'कमरा ए-एडीटरान' होना चाहिये, क्योंकि 'नया हिन्द' के हिन्दुस्तानी विशेषज्ञों ने 'एडीटर' शब्द को हिन्दुस्तानी माना है, 'सम्पादक' को नहीं। पाठकों को शायद मालूम न हो, पुण्य-तीर्थ प्रयाग की स्वनामधन्य 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी' ने 'हिन्दुस्तानी बोली' और 'दोनों लिखावटों' में एक 'माहवारी' 'नया हिन्द' निकालने का निश्चय किया है। 'एडीटर बोर्ड' के दो माननीय 'मेम्बर' हैं पं० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द। 'हिन्दुस्तानी बोली' में लिखी हुई 'हि० कलचर सोसाइटी' के 'सेक्रेटरी' पं० सुन्दरलाल की 'नया हिन्द' विषयक सूचना, जिसे ज्यों का त्यों छापकर हिन्दी पत्रों ने 'हिन्दुस्तानी बोली' के प्रचार का पुण्य कमाया, से अनुमान होता है कि 'हिन्दुस्तानी बोली' से अभिप्राय है उर्दू—उर्दू की शैली, उर्दू के मुहावरे, उर्दू का वाक्य—जिसमें कहीं कहीं उर्दू 'लिखावट' में लिखे जाने योग्य हिन्दी शब्द धर दिये जायँ। नमूना देखिये: ".. यह माहवारी हिन्दुस्तान की पूरी आज़ादी का हामी होगा जिसे मुल्क की सभी पार्टियाँ हासिल करना चाहती हैं। साथ ही हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी के मक़सद को सामने रखते हुये यह पार्टियों के छोटे छोटे और दो दिन के आपसी झगड़ों से अलग रहने की कोशिश करेगा। गुत्थियों का सुलझाना भी इसका काम होगा सिर्फ इसलिये कि कुछ बने और

जिस प्रकार पंजाब में यह कहने का कोई साहस नहीं कर सकता कि पंजाब की मातृ-भाषा उर्दू है, पंजाबी नहीं))। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान हिंदी की कम से कम एक प्रांतीय भाषा की सी स्थिति होगी और केंद्रीय प्रकरणों में उसकी उपेक्षा करना संभव न होगा। बंगालियों, गुजरातियों, तामिलों, आदि की भाँति हिन्दियों को भी अनुभव होगा कि उनकी भी एक विशिष्ट भाषा और संस्कृति है, और उनमें भ्रातृ-भाव, एकभाषा-भाव उत्पन्न होगा और उनका अपनी मातृ-भाषा हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत होगा। जिस प्रकार अन्य प्रांतवाले अपनी अपनी मातृ-भाषा या प्रांत-भाषा से प्रेम करते हैं, उसी प्रकार हिंदी-जन अपनी मातृ-भाषा और प्रांत-भाषा हिंदी से प्रेम करना सीखेंगे और उसकी रक्षा के लिये कटिबद्ध होंगे। आज युक्त-प्रांत में हिंदी के प्रति जनता में जो उपेक्षा भाव पाया जाता है उसका कारण यही है कि उन्हें अपनी मातृ-भाषा का असली नाम ही साफ साफ नहीं बताया जाता जिससे उनमें उसके प्रति प्रेम, उसकी उन्नति करने और उसके स्वरूप को विशुद्ध रखने की इच्छा उत्पन्न होसके। उलटे उन्हें 'हिंदुस्तानी' नाम द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह पाठ पढ़ाया जाता है कि उनकी भाषा गन्दी दुगली तो है ही, और यदि नहीं है तो उसे अब बनाया जाय। 'हिन्दुस्तानी' के चक्कर में फँस कर हिंदी-जनता हिंदी की उपेक्षा करती है। इस नाम के कारण उसे हिंदी और उर्दू में अन्तर भी दिखाई नहीं देता, हिंदी शब्द और उर्दू शब्द में अन्तर दिखाई नहीं देता और हिंदी उर्दू दोनों एकसी जान पड़ती हैं। फलतः 'हिन्द' में हिंदी की वैसी प्रतिष्ठा नहीं हो पाती जैसी एक भाषा को अपने निजी प्रदेश में होनी चाहिये। 'हिंदी' नाम के बजाय 'हिंदुस्तानी' नाम से यही अन्तर हो जाता है। 'हिंदी' नाम यदि शुद्धता की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है तो 'हिंदुस्तानी' नाम बरबस गन्दगी की ओर धकेलता है। जब तक 'हिंद' नाम और हिंद की भाषा के नाम की प्रतिष्ठा नहीं होगी तब तक हिंदी को शुद्ध करने और शुद्ध रखने की स्वाभाविक प्रेरणा उत्पन्न नहीं होगी।

दीक्षा दी जा रही है। एक हिन्दी पत्र 'विश्ववाणी' ने ही अपनी भाषा हिन्दी बदल कर डंके की चोट 'हिन्दुस्तानी' कर दी। इत्यादि, इत्यादि।

"'हिन्दुस्तानी' का उद्देश्य हिन्दी की शैली को नष्ट करना या विकृत करना नहीं है," यह हिन्दी वालों को मोह-निद्रा में सुलाने के लिये एक अफीम की गोली है, अथवा यों कहिये, पीछे से हिन्दी का शिकार खेलने के लिये एक धोखे की टट्टी है। इस टट्टी को खड़ा करने वाले हिन्दुस्तानी के सेना-नायक हिन्दी पर 'फ़ाटल अटैक' न करके (या इतना साहस न होने के कारण) उसे 'फ्लैंक मूवमेन्ट' द्वारा घेरना चाहते हैं।*

४. क्या करें ?

हिन्दुस्तानी की बला का स्वरूप भली भाँति देख लिया। हिन्दी वालों को इस बला का अपनी पूरी शक्ति से मुकाबला करना ही है। परन्तु किस प्रकार ? यह बला साधारण नहीं है। इसने अपने पीछे राष्ट्रीय आन्दोलन की समस्त शक्ति को लगा लिया है, इसलिये बिना किसी संगठन और योजना के 'हिन्दुस्तानी' का विरोध करना केवल शक्ति का अपव्यय सिद्ध होगा। शत्रु जितना अधिक बलशाली हो, उतनी ही अधिक अपनी शक्ति को संगठित और केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है। इस समय जरूरत इस बात की है कि सब हिन्दी-प्रेमी एकत्र होकर समस्या पर गहरा विचार करें, और 'हिन्दुस्तानी' का मुकाबला करने के लिये संगठित रूप से उचित कदम उठायें। ये कदम क्या होने चाहिये, इस विषय में लेखक अपने विचार अन्यत्र प्रकट कर चुका है। यहाँ केवल कुछ मुख्य बातों का उल्लेख करना यथेष्ट होगा।

---

*श्री श्रीमन्नारायण का यह कथन कि हिन्दी उर्दू वाले अपनी-अपनी भाषा को चाहे जैसा रक्खें पर उन्हें हिन्दुस्तानी रूपी एक मिली जुली शैली का विरोध करने की आवश्यकता नहीं, भी इसी कोटि का है और उसका भी यही उत्तर है।

(अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के सभापति पद से दिये भाषण में) इसके बाद कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। हमें इस इँगलिस्तानी से पीछा छुडाना ही होगा, और इसके लिये शिक्षित समाज में जोरदार आन्दोलन करना चाहिये। अब दूसरी बीमारी—अरबी फ़ारसी शब्दों की भरमार—लीजिये जो अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है और जो 'उर्दू' नाम से साहित्य में भी स्थान पा चुकी है और इस कारण जिसे बहुत से लोग अब बीमारी नहीं मानते (इँगलिस्तानी को अभी तक सब—हिंदुस्तानी वाले भी—बीमारी मानते हैं)। यह बीमारी कहीं अधिक भयकर है क्योंकि यह उर्दू साहित्य में और पुष्ट होती है और एक दल इसको (एक अलग लिपि में) लिख कर और बोल कर फैलाने में यत्नशील है जब कि इँगलिस्तानी को अपने किसी विशेष साहित्य का सहारा नहीं है और कोई दल उसका प्रचार नहीं चाहता। हिंदी वालों ने बोलचाल का महत्व बिलकुल नहीं समझा है। वे समझते हैं, लिखो हिंदी, बोलते रहो चाहे उर्दू। उर्दू के प्रसिद्ध लेखक और कवि श्री रघुपति सहाय 'फिराक' ने कुछ दिन हुये गोरखपुर में कहा, "उर्दू हिंदीकी अपेक्षा बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। हिन्दी के लेखक और साहित्यिक स्वयं वह भाषा नहीं बोलते जिसे वे लिखते हैं।" मियाँ बशीर अहमद का कथन है, "युक्त प्रान्त की लिखी जाने वाली भाषा हिन्दी है और बोली जाने वाली भाषा उर्दू है।" यदि हम केवल शिक्षित समाज के विशिष्ट वर्गों की बोल-चाल को लें, तो दोनों कथनों में बहुत कुछ सच्चाई है। यह बात तो सोलह आने सच है कि हिन्दी के लेखक और साहित्यिक नित्य बोलचाल में वह भाषा नहीं बोलते जिसे वे लिखते हैं। स्टेशन पर, रेल में, बाजार में—चाहे जहाँ उनकी बातचीत सुन लीजिये। पर उर्दू के लेखक और साहित्यिक वही भाषा बोलते हैं जिसे वे लिखते है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता—भले ही उर्दू वाले प्रयत्न करके ही ऐसा करते हों या कर

भी केन्द्र को 'हिंदुस्तानी' प्रान्तों की राजभाषा 'हिंदुस्तानी' (अर्थात् उर्दू) से भिन्न नहीं रही है)। ऐसी अवस्था में यदि हमारी हिन्दी में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति हुई, और उसमें राष्ट्र-सुलभता भी हुई, तो वह मध्यदेश की भाषा होने के कारण अपने आप फैलते फैलते वास्तविक राष्ट्र-भाषा हो जायगी, हिंदुस्तानी वाले उसके विरुद्ध चाहे जितनी चिल्ल पों मचावें। हमें भी हिंदुस्तानी पर 'फ्राटल अटैक' करने की जरूरत नहीं, बस 'फ्लैंक मूवमेन्ट' को विफल कर अपने हिंदी-प्रान्तों में सर्वत्र हिंदी को प्रतिष्ठित करें, और केन्द्र में प्रान्त-भाषा के नाते हिंदी के लिये अन्य प्रान्तीय भाषाओं जैसे अधिकार प्राप्त करें (उदाहरण के लिये, रेडियो मे, सरकारी फ़िल्मों में, आदि)। लेखक दावे से कह सकता है कि इतना होने पर हिंदुस्तानी वाले लाख सिर पटकने पर भी अपनी 'हिन्दुस्तानी' को बाल भर भी आगे न बढ़ा सकेंगे—या तो राष्ट्र-भाषा केवल हिन्दी होगी, या हिन्दी और उर्दू दोनों राष्ट्र-भाषा होंगी।

स्पष्ट है, सब प्रकार से हिंदी का भविष्य स्वयं हिन्दीवालों के हाथ में है। हमें राष्ट्र-भाषा हिन्दी के पचड़े में पड़कर प्रान्त-भाषा हिन्दी को हाथ से नहीं जाने देना चाहिये। इस कड़ी के हाथ में रहते पूरी श्रृंखला अनायास खिंचती चली आयेगी, और यदि यह कड़ी हाथ से छूट गई तो सर्वनाश निश्चित है। यदि देश को हमारी हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में मान्य नहीं है, तो राष्ट्र-भाषा जाय भाड़ चूल्हे में। हम अपनी हिन्दी क्यों बिगाड़ें ? और कौन अपनी प्रान्तीय भाषा को बिगाड़ रहा है ? या तो देश हमारी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करे, हिन्दी की वर्तमान शैली (और केवल देवनागरी लिपि) से आरम्भ करे, काम होते-होते हिन्दी राष्ट्र की दृष्टि से आवश्यक शब्द, धातु, मुहावरे, आदि अन्य भारतीय भाषाओं से अपने आप आत्मसात करती चली जायगी, और नहीं तो हम अहिन्दियों से प्रार्थना करेंगे कि ख़ुदा के वास्ते वे हमारी हिन्दी को बख्श दें और किसी अन्य भाषा पर (मिसाल के

उल्टे शर्म आती है और इसलिये उर्दू की शरण लेते हैं। वे अपनी चेष्टाओं से सिद्ध करते हैं कि मुसलमानों की मातृ-भाषा तो उर्दू ही है और वे उर्दू के सिवा और कुछ नहीं बोलते या समझते। उर्दू वाले तिलकधारी पंडित-जी से भी शुद्ध उर्दू में बोलेंगे। कोई समझे या न समझे, उनकी बला से। उन्हें जो आता है, जो वे लिखते हैं वही बोलेंगे, चाहे कोई मौजूद हो। उन्हें अपनी उर्दू में बोलने में कोई अस्वाभाविकता या झिझक प्रतीत नहीं होती। वे अपनी स्वाभाविक शैली छोड़कर क्यों इधर उधर ताकें? मौलाना आजाद (या पं० नेहरू) किसी अखिल भारतीय सभा के सम्मुख शुद्ध उर्दू में बोलने के लिये किसी की क्षमा-याचना नहीं करते, परन्तु पं० गोविन्द वल्लभ पन्त, डा० राजेन्द्रप्रसाद, यहाँ तक श्री टंडनजी भी या तो शुद्ध हिन्दी में बोलेंगे ही नहीं (बिना आधे पौने उर्दू शब्दों को मिलाये वे अपने आप को 'विशुद्ध राष्ट्रीयता से च्युत समझेंगे—गांधीजी का भी तो डर है कि कहीं कांग्रेस की 'इनर काउन्सेल्स' में वे 'साम्प्रदायिक,' 'संकुचित हृदय,' 'तंग खयाल', 'महासभाइट' न घोषित कर दिये जायँ!), और यदि बोलेंगे तो चेहरे से मालूम होगा कि बड़ी बहादुरी तो की है, परन्तु अपराध हुआ, आशा है उपस्थित सज्जन क्षमा करेंगे। यह हिन्दी वालों की सबसे बड़ी कमजोरी है जो उन्हें पग पग पर नीचा दिखाती है।*

शिक्षित समाज की साधारण बोलचाल का भी वही हाल है। उसके विषय में पहले बतलाया जा चुका है। नेताओं की देखा देखी कांग्रेस के छोटे भाई भी उर्दू में बोलना स्वराज्य-प्राप्ति का सीधा रास्ता समझते हैं।

अब प्रश्न होता है, बोलचाल का सुधार किस प्रकार होना चाहिये? सबसे पहली आवश्यकता है हिन्दी के परिमार्जन और संशोधन की। उसके विषय में सभी आवश्यक बातें पहले कही जा चुकी हैं। जिन सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दी का परिमार्जन संशोधन होना है, उनका निर्देशन भी किया जा चुका

*परिशिष्ट २ भी देखिये।

मुसलमान होंगे) किसी भिन्न भाषा के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। कारण, १ ऐसा करना अव्यावहारिक होगा, २. जहाँ एक ओर प्रत्येक को मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, वहाँ किसी को अपनी मातृ-भाषा छोड़कर भिन्न भाषा की माँग करने का भी अधिकार नहीं है (उदाहरण के लिये दक्षिण का मुसलमान नहीं कह सकता कि मैं तामिल के बजाय उर्दू के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करूँगा)। जन पद की सीमा वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थात् भाषा-विज्ञान की दृष्टि से निर्धारित की जानी चाहिये।

(३) व्यावहारिक दृष्टि से यह वाञ्छनीय है कि प्राथमिक शिक्षा के माध्यमों की संख्या कम से कम हो। अत. यदि किसी जनपद या क्षेत्र का बहुमत जनपदीय बोली के बजाय हिन्दी या उर्दू मे प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना चाहे, तो उस समस्त जनपद मे हिन्दी तथा उर्दू प्राथमिक शिक्षा के माध्यम बनाये जायँ। प्रत्येक स्कूल में, यदि हिन्दी या उर्दू माध्यम लेने वाले छात्रों की संख्या एक निश्चित सीमा से कम न हो, दोनों माध्यमों का प्रबन्ध होना चाहिये। हिन्दी स्कूल अलग और उर्दू स्कूल अलग भी खोले जा सकते हैं (जैसे बम्बई शहर में गुजराती स्कूल अलग और मराठी स्कूल अलग हैं)।

(४) माध्यमिक और उच्च शिक्षा के माध्यम हिन्दी और उर्दू हो। जिन स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों मे दोनों माध्यमों का प्रबन्ध होगा, उनमें हिन्दी माध्यम वालों के अलग और उर्दू माध्यम वालों के अलग क्लास लेना पड़ेंगे। इस व्यवस्था से छात्रों की संख्या के अनुसार प्रत्येक नगर में हिन्दी और उर्दू स्कूल या कालेज अलग अलग स्थापित करना कहीं श्रेयस्कर होगा। विश्वविद्यालयों के साथ भी यही बात लागू है। उदाहरण के लिये इस समय युक्त प्रान्त में लखनऊ और प्रयाग विश्व-विद्यालय दोनों मे दोनों माध्यमों का प्रबन्ध करने से यह कहीं अच्छा,

यही दशा रहेगी तब तक हिन्दी के पाठक हिन्दी उर्दू दोनों के पर्याय सीखते रहेंगे और ऐसी अवस्था में हिन्दी पर्याय बोलचाल में कभी प्रचलित न हो सकेंगे। उर्दू वालों के साथ मामला बिलकुल उल्टा है। उन्होंने साहित्य से ही नहीं, अपनी बोलचाल से भी हिन्दी शब्दों को मतरूक कर दिया है, जब कि हिन्दी वाले साहित्य में तो उर्दू शब्दों को मतरूक करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु बोलचाल में वही उर्दू शब्द बोलते रहते हैं। उर्दू वालों को कुत्ते ने थोड़े ही काटा है जो वे उर्दू शब्दों को, जिन्हें वे स्वयम् चौबीसों घन्टे बोलते हैं और दूसरों को बोलते सुनते हैं, छोड़ कर हिन्दी शब्द लिखें। इसलिये उर्दू में शब्दों का द्वैतवाद दिखाई नहीं देता। हिन्दी वाले 'उद्देश्य' लिखते लिखते 'मकसद,' लिख जायँगे क्योंकि वे स्वयम् 'मकसद' बोलते हैं, 'उद्देश्य' नहीं बोलते। उर्दू वाले 'मकसद' छोड़ कर 'उद्देश्य' क्यों लिखें? यह सच है कि उर्दू से कितने ही प्रचलित देशज और तद्भव शब्दों को मतरूक कर दिया गया है, परन्तु उर्दू वालों ने उन शब्दों को अपनी बोलचाल से भी मतरूक कर दिया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्दी वालों ने उन उर्दू शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द धर दिये परन्तु बोलते रहे वही उर्दू शब्द। या वे अपनी बोलचाल से भी उन उर्दू शब्दों को मतरूक करें और अपने संस्कृत शब्द बोलें, या फिर प्रचलित देशज और तद्भव शब्द लिखें और वही बोलें, और जिन उर्दू शब्दों को लेना है उन्हें निश्चित रूप से अपना लें और उनके स्थान में संस्कृत शब्द लिखने या बोलने का प्रयत्न न करें। जिन प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों को उर्दू वालों ने अपने साहित्य या बोलचाल से मतरूक कर दिया है, उन्हें बोलने में तो हिन्दी वालों को अवश्य ही गर्व अनुभव करना चाहिये और उनके उर्दू पर्यायों को भूलकर भी नहीं लिखना या बोलना चाहिये। जैसा पहले कहा जा चुका है, बोलचाल की एक कामन भाषा या हिन्दुस्तानी तो बन कर रहेगी। यदि हिन्दी वाले अपने हिन्दी शब्द बोलेंगे (उर्दू वाले

हिन्दियों को जिस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है वह यह है कि

उदू दोनों को राष्ट्रभाषा मानने को तैयार हैं, और प्रत्येक को स्वतन्त्रता देना चाहते हैं कि वह इनमें से चाहे जिसको राष्ट्रभाषा के रूप में पढने के लिये चुन ले, मगर शर्त यह है कि जो सुविधा हिन्दू प्रान्तों में सरकार की ओर से राष्ट्रभाषा उदू पढने वालों को दी जाय, वही सुविधा मुस्लिम प्रान्तों—पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध, बलूचिस्तान और बंगाल—मे ईमानदारी के साथ, राष्ट्रभाषा हिन्दी पढ़ने वालों को दी जाय। हमारी बात व्यावहारिक होगी, उसमें सत्य होगा, धोखे की कोई गुंजाइश नहीं होगी, और संभव है हमारा उदू वालों से समझौता हो जाय। हिन्दुस्तानी वालों से उनका या हमारा समझौता होना असंभव है। हिन्दुस्तानी वालों के आधारभूत सिद्धान्त ग़लत हैं, बनावटी और दिखाऊ हैं और वास्तविकता से बहुत दूर हैं। 'हिन्दुस्तानी' धोखे की टट्टी है। हिन्दुस्तानी प्रचार से हम जितने रुष्ट और असन्तुष्ट हैं, उतने ही उदू वाले उससे सशंकित हैं। हिन्दी और उदू दोनों राष्ट्रभाषा मान ली जाने पर इनमें से जिसमें अधिक जान होगी, राष्ट्रीयता की अधिक अभिव्यक्ति होगी, अधिक राष्ट्र-सुलभता होगी, वह कालान्तर मे अपने आप प्रधान हो जायगी और एक समय आ सकता है जब उदू वाले भी हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार कर लें। विज्ञान और यथार्थ की उपेक्षा अधिक समय तक संभव नहीं। परन्तु इस समय हिन्दी और उदू दोनों को राष्ट्रभाषा मान लेना ही राष्ट्र-भाषा की समस्या के समाधान का एकमात्र सच्चा और ईमानदारी का रास्ता है, अन्य कोई नहीं। प्रत्येक प्रान्त की एक कामन भाषा तो होगी ही, जिसके द्वारा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार संभव होगा। केवल अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की और केन्द्रीय सरकार की दो भाषायें हिन्दी और उदू होंगी। जो चाहेंगे जिन्हें फ़ुरसत होगी अथवा जिन्हें आवश्यकता पडेगी, वे अपने आप हिन्दी और उदू दोनों सीख लेंगे।

(भारत के विभाजन से परिस्थिति बिलकुल बदल गई है। इसमें हिन्दी वालों और उदू वालों के बीच में समझौते का प्रश्न ही नहीं उठता। भारत के विभाजन का राष्ट्र-भाषा की समस्या पर क्या प्रभाव पडता है, इसे उत्तर-परिशिष्ट २ (पृष्ठ ६६) में देखिये, और हिन्दी प्रान्तों मे शिक्षा के माध्यम के प्रश्न पर क्या प्रभाव पडता है, इसे परिशिष्ट १७ मे देखिये।)

बोलकर केवल हास्यास्पद बनेंगे। जो भाषा सब लोग बोलेंगे वही कामन भाषा 'हिन्दुस्तानी' कहलायेगी, लिपि चाहे जो कुछ जाय। यदि बोलचाल में हिन्दी

मित्र से (या बाजार में) खड़ी बोली में बात करते समय बोलेगा, 'ख़त्म', 'जिस्म', 'रिश्ता', 'ज़बान', 'फ़र्ज़', 'आदमी या शख्स', 'तरजुमा', क्योंकि अपने चारों ओर की खड़ी बोलचाल में—हिन्दी वालों की अथवा उर्दू वालों की—वह नित्य इन्हीं शब्दों को सुनता है, लिखित हिन्दी में 'शेष', 'शरीर' 'सम्बन्ध', 'भाषा', 'कर्त्तव्य', 'मनुष्य', 'अनुवाद' उसने भले ही देखे हों। (भाषा के साथ संस्कृति का भी यही हाल है। लखनऊ में बसा हुआ एक हिन्दू बंगाली दूसरे हिन्दू बंगाली से सदैव 'नमस्कार' करेगा, परन्तु दूसरी ही सांस में अपने लखनौआ हिन्दू मित्र से 'आदाबअर्ज़' करेगा। कारण वही है।) हाँ, यदि लखनऊ की खड़ीबोली बोलचाल में उसे 'ख़त्म' 'जिस्म', 'रिश्ता', 'ज़बान', 'फ़र्ज़', आदि के साथ साथ 'शेष', 'शरीर', 'सम्बन्ध', 'भाषा', 'कर्त्तव्य', आदि भी—नि सन्देह हिन्दी वालों के मुख से—सुनने को मिलेंगे तो उसके मुँह से भी खड़ी बोली में यही हिन्दी शब्द अधिक सुगम और परिचित होने के कारण निकलेंगे (और जब वह हमें आपस में एक दूसरे को 'नमस्कार' करते देखेगा तब वह हमें भी 'नमस्कार' करेगा, जो भाषा हम स्वयम् नहीं बोलेंगे, बस केवल लिखेंगे, उसके लिये हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि अन्य भाषा भाषी उसे—उस लिखित भाषा को—बोलें ? पहले हम स्वयम् अपनी लिखित भाषा को इसी रूप में बोलकर आदर्श उपस्थित करें, फिर अहिन्दी भाषी उसे अपेक्षाकृत अधिक सुगम, परिचित और सरल होने के कारण अपने आप अपनायेंगे। उर्दू या वर्धा की हिन्दुस्तानी अपने आप धरी रह जायगी, क्योंकि प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक प्राणी सबसे सरल मार्ग (line of least resistance) अपनाता है। इस नियम की अवहेलना अधिक समय तक कदापि नहीं हो सकती, चाहे गांधीजी, कांग्रेस और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा एड़ी चोटी का जोर क्यों न लगा दें।

(यही बात लिखित हिन्दी के साथ लागू है। हम सदैव शुद्ध हिन्दी लिखें, झूठी राष्ट्रीयता और 'हिन्दुस्तानी' के चक्कर में आकर उसमें उर्दू शब्द न भरें, फिर देखेंगे अहिन्दी भाषी इस हिन्दी को छोड़कर वर्धा की $\frac{\text{हिन्दी + उर्दू}}{२}$ =

हो सकेगा। हम हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को जो स्थान देने को तैयार हैं, वह उदारता की सीमा है, उर्दू के न्यायोचित प्राप्य से कहीं अधिक है। उससे और आगे जाना हमारे लिये अत्यन्त हानिकारक है, हमारी उन्नति में बाधक है। हिन्दी की विशुद्धता और अबाध विकास के लिये भी यह आवश्यक है कि वह अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान हिंदी प्रान्तों में एकमात्र राजभाषा हो और कामन भाषा हो, जिसका पढ़ना प्रत्येक के लिये अनिवार्य हो (जिस प्रकार पंजाब में प्रत्येक के लिये उर्दू पढ़ना अनिवार्य है), अन्यथा वह दूषित और विकृत होती चली जायगी, हिंदुस्तानी के रोलर के नीचे दबती चली जायगी और उन अधिकारों से भी वञ्चित होती चली जायगी जो अन्य प्रांतीय भाषाओं को प्राप्त हैं। उर्दू प्रान्तों में उर्दू का अखण्ड साम्राज्य है, और वह विशुद्ध रहेगी, हिंदी चाहे अपने आपको मिटा डाले।

हिन्दियों को इससे अधिक करना है। उर्दू प्रांतों में, अन्य प्रांतों में, मुस्लिम रियासतों में और केन्द्र में 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर या बिना किसी आड़ के हिंदी के साथ जो अन्याय हो रहा है, उसका भी प्रतिकार उन्हें करना है, और हिंदी रियासतों पर ध्यान देना है। घर की राज्य-व्यवस्था सँभाल कर साम्राज्य की व्यवस्था ठीक करना है। इसके लिये हिंदीवालों को उर्दू प्रांतों, अन्य प्रांतों और रियासतों में प्रबल आन्दोलन तो करना ही पड़ेगा, एक और उपाय का अवलम्बन करना पड़ेगा। जब तक उर्दू प्रान्त अपने यहाँ हिंदी को न्यायोचित स्थान न दें, तब तक हमें भी हिन्दी-प्रान्तों में उर्दू के साथ वही व्यवहार करना पड़ेगा जो उर्दू प्रान्त हिंदी के साथ करेंगे। हम कायरों की अहिंसा और दिल-पिघलाव-योग में विश्वास नहीं कर सकते। हम उर्दू प्रांतों में मुसलमान आकाओं के सामने बहुत नाक रगड़ चुके, परन्तु बदले में मिला केवल तिरस्कार और अवज्ञा। मुसलमान केवल एक ही तर्क समझते हैं, और वह है शक्ति का। उर्दू प्रान्तों ने यदि अपनी हिन्दी-द्रोही नीति न त्यागी, तो हम भी युक्त-प्रान्त और बिहार से उर्दू को

में ही बोलें। यदि कोई हिन्दी मुसलमान किसी हिन्दी शब्द को न समझे तो तो वह उसका अर्थ पूछ ले। यदि हिन्दी मुसलमान उर्दू में बोले (जैसा कि वह बोलता है), तो हमें इस पर आपत्ति करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु हम भी उससे उर्दू में क्यों बोलें? हम अपनी मातृ-भाषा, जो उसकी भी मातृ-भाषा है यद्यपि वह इससे इन्कार करता है, क्यों छोड़ें? जिस प्रकार हम उसकी उर्दू समझने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार वह हमारी हिन्दी समझने का प्रयत्न करे। यदि कोई हिन्दी भाषी उर्दू भी जानता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह किसी हिन्दी मुसलमान से उर्दू में बोले। वह अपनी उर्दू विशेष अवसरों और उपयोगों के लिये (जैसे सीमा-प्रान्त में भ्रमण करते समय) उठा रक्खे। गांधीजी कहते हैं कि मैंने अपनी अँगरेजी अँगरेजों और विदेशियों के लिये रिजर्व कर रक्खी है, सब हिन्दुस्तानियों के लिये मेरे पास 'हिन्दुस्तानी' है। हिन्दी वालों को इससे शिक्षा लेनी चाहिये। वे अपना उर्दू-ज्ञान पाकिस्तान निवासियों के लिये रख छोड़ें, परन्तु सब हिन्दियों से, धर्म का कोई भेद भाव किये बिना, हिन्दी में बोलें, जिस प्रकार एक बंगाली या मराठी या गुजराती किसी भी धर्म के अनुयायी बंगाली या मराठी या गुजराती से क्रमश बँगला, मराठी और गुजराती में बात करता है। ऐसा होने पर ही हिन्दी हिन्द-प्रान्त और हिन्दी प्रान्तों की वास्तविक मातृ-भाषा या प्रान्त-भाषा कहलाने की अधिकारिणी होगी। हिन्दी वाले हिन्दी मुसलमानों से उर्दू में बोलकर स्वयम् हिन्दी की इस स्वभाव-सिद्ध व्यापकता में अविश्वास उत्पन्न करते हैं। उन्हें अपने प्रान्तों की सीमा के अन्दर और अपने प्रान्त-निवासियों के साथ या उनके बीच में निसकोच, बिना झिझक या हिच-किचाहट के हिन्दी में बोलना चाहिये। यदि वे चाहें तो इस मामले में अपने पड़ोसी शिक्षित हिन्दी मुसलमान से ही, जो हिन्दी शब्द जानते हुये भी सदैव उर्दू में बोलता है या बोलने का प्रयत्न करता है, शिक्षा ले सकते हैं*।

* भाषा के साथ संस्कृति का अटूट संबंध है। हिन्दी बोलचाल के साथ

उन्नति को मूल" भूल नहीं सकते। यदि हमारे मुकाबले में कांग्रेस अपनी समस्त शक्ति से डट जाय तो भी हमें खम ठोंक कर भिड़ जाना चाहिये। इस संघर्ष में यदि हम सफल हुये, तो हम केवल अपनी मातृ भाषा के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे, और यदि हम पीस डाले गये तो आने वाली पीढ़ियाँ हमें कापुरुष न ठहरा सकेंगी—यह न कह सकेंगी कि उन्होंने बुद्धि होते हुये, भविष्य को जानते हुये भी बाप दादों की दी हुई भाषा को नष्ट होने से बचाने का प्रयत्न नहीं किया। हो सकता है, हमें अन्त में गांधीजी के विरुद्ध उन्हीं के दिये हुये हथियार सत्याग्रह का प्रयोग करना पड़े। हमें इसके लिये भी तैयार हो जाना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि यदि अबकी हिन्दी डूबी तो फिर नहीं उबरने की। पीछे पछताने से कुछ हाथ न आवेगा। यह समय चुप बैठे रहने का नहीं, मर मिटने का है। हमें वर्त्तमान कांग्रेसी सरकारों से आशा त्याग देनी चाहिये। शायद हमें इन्हीं का मुकाबला करना पड़े। अपनी भाषा की रक्षा स्वयं अपने हाथों से करनी होगी।

कुछ और कहने से पहले 'हम' से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट करना उचित होगा। 'हम' से अभिप्राय समस्त हिन्दी प्रेमियों से है। विशेष रूप से 'हम' से अभिप्राय हिन्दी लेखकों और साहित्यिकों से है। हिन्दी का नेतृत्व सदैव हिन्दी के साहित्यिकों ही ने किया है। अब भी उन्हें ही करना है। अब तक उन्हें विदेशी सरकार के उर्दू-प्रचार से लड़ना पड़ा, अब उन्हें कांग्रेस के 'हिन्दुस्तानी'-प्रचार से लड़ना है। हिन्दी को राजनीतिक नेताओं से न कभी सहायता मिली, और न अब मिल सकती है। वास्तव में 'हिन्दुस्तानी' की जड़ में राजनीतिक नेता ही हैं जो हिन्दी को अपनी हिन्दू मुस्लिम राजनीतिक दाँव-पेंचों का शिकार बनाना चाहते हैं। 'हम' में अगर कोई शामिल नहीं है, तो बस यही राजनीतिक नेता।

हिन्दी प्रान्तों में कुछ ख़ास काम जो हमें तुरत करने चाहिये ये हैं—

साहित्य का बहुतेरा प्रचार हो चुका, हो रहा है और शिक्षा के प्रसार के साथ अपने आप होगा, अब हिन्दी बोलचाल के प्रचार की आवश्यकता है जिसे गैर-सरकारी तौर से ही किया जा सकता है। हिन्दी बोलचाल की स्थापना और प्रचार के बिना हिन्दी की दशा एक पहिये के रथ के समान हो जायगी—वह आगे बढ़ ही न सकेगी और अन्त में वह मुर्दा समझ ली जायगी। हिन्दी बोलचाल को अँगरेजी और उर्दू दोनों के पंजों से मुक्त करना है। अभी हाल में पत्रों में यह समाचार छपा था कि प्रयाग के वकीलों ने एक 'हिन्दुस्तानी बोलो क्लब' की स्थापना की है, और यह नियम बनाया है कि इस क्लब का जो सदस्य बोलचाल में अनावश्यक अँगरेजी शब्द प्रयुक्त करेगा उस पर प्रति अँगरेजी शब्द एक पैसा जुर्माना किया जायगा। पता नहीं उस क्लब का क्या हुआ, परन्तु उसकी राय में 'वाइफ', 'पालिटिक्स', 'मिनिस्टरी', 'रिटिन', 'प्लैंटिफ', 'कल्पेबिल होमीसाइड', 'मूवेबिल प्रापर्टी', आदि बोलने पर जुर्माना किया जायगा, क्योंकि ये शब्द अँगरेजी के और 'विदेशी' हैं पर 'बीबी', 'स्यासत', 'वजारत', 'तहरीरी', 'मुद्दई', 'कत्ल इन्सान मुस्तलिजम सजा', 'जायदाद मनकूला, आदि बोलना स्वाभाविक समझा जायगा क्योंकि ये 'हिन्दुस्तानी' हैं! हिन्दी बोलो क्लब 'वाइफ' और 'बीबी', 'पालिटिक्स' और 'स्यासत', 'मिनिस्टरी' और 'वजारत', 'रिटिन' और 'तहरीरी', 'प्लैंटिफ' और 'मुद्दई', 'कल्पेबिल होमीसाइड' और 'कत्ल इन्सान मुस्तलिजम सजा', 'मूवेबिल प्रापर्टी' और 'जायदाद मनकूला' दोनों को विदेशी और त्याज्य समझेगा। 'हिन्दुस्तानी बोलो क्लब' का शर-संधान शिक्षितों की इँगलिस्तानी के विरुद्ध होगा, 'हिन्दी बोलो क्लब' का शर-संधान शिक्षितों की इँगलिस्तानी और उर्दू-हिन्दुस्तानी दोनों के विरुद्ध।

जो भाषा सभ्य-समाज बोलता है उसी का अनुकरण और लोग करते हैं। इसलिये हमारे नेताओं, राज-मन्त्रियों, शिक्षकों, समाज-व्यवस्थापकों, धारा-सभाओं के सदस्यों, आदि पर इस बात का विशेष उत्तरदायित्व है कि

सरकारी अधिकारियों के पास भेजना, ८ जनता में और विशेष रूप से सरकारी अधिकारियों, धारा सभाओं के सदस्यों और नेताओं में 'हिंदी बोलो' प्रचार करना (देखिये पृष्ठ ६६-८१), ६. जनता में, विशेष रूप से कायस्थों और काश्मीरियों में, यह आन्दोलन करना कि वह अपने बच्चों को स्कूलों में हिंदी ('वर्नाक्यूलर' के रूप में) दिलावे, १०. जनता में जोरदार आन्दोलन करना कि वह केवल हिंदी के चित्र देखे और उर्दू तथा 'हिंदुस्तानी' के चित्रों का, जो अधिकतर गन्दे और अश्लील भी होते हैं, बहिष्कार करे, आदि।

हिंदी प्रान्तों के बाहर अन्य प्रान्तों में भी हिंदुस्तानी प्रचार के विरुद्ध नेतृत्व हिंदियों को ही ग्रहण करना पड़ेगा, क्योंकि हिंदुस्तानी से सबसे अधिक हानि हिंदियों को ही है। इस सम्बन्ध में कुछ खास खास बातें जो हमें करनी चाहिये ये हैं:—

(१) अहिंदियों को 'हिंदुस्तानी' का ऊँच-नीच समझाया जाय, यह बतलाया जाय कि जैसा हिंदुस्तानी-प्रचार हो रहा है उसका परिणाम केवल यह होगा कि उर्दू और उर्दू लिपि वास्तविक राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि बन जायँगी। ऐसा होने पर हमसे कहीं अधिक असुविधा उन्हीं को होगी। उससे राष्ट्र का कल्याण कदापि न होगा।*

(२) *अहिन्दियों को समझाया जाय कि ऐसी बात नहीं है कि हिन्दुस्तानी से केवल हिंदी को खतरा है। 'हिंदुस्तानी' से अन्य संस्कृत-निष्ठ प्रांतीय भाषाओं को भी घोर हानि पहुँचेगी। परस्पर सम्पर्क होने पर दो भाषाओं का एक दूसरे की शब्दावली को प्रभावित करना अनिवार्य है। कालान्तर में राष्ट्र-भाषा का भारत की सबसे प्रमुख, शक्तिशाली और प्रभावशाली भाषा हो जाना भी अनिवार्य है। सब से ज्यादा साहित्य राष्ट्र-भाषा का ही होगा, और देश के सब बड़े बड़े काम राष्ट्र भाषा में ही होंगे और उसका पढ़ना व्यवहार में प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के लिये अनिवार्य होगा (जैसे आज कल

* उत्तर-परिशिष्ट २ भी देखिये।

बाजी का दमन कर भाषा की मर्यादा रक्खेगी। उदाहरण के लिये, व्याकरण सदैव भाषा के बाद आता है और भाषा के पीछे पीछे लँगड़ाता हुआ चलता है, परन्तु प्रत्येक समय पर भाषा की मर्यादा बताने के लिये और भाषा को एक सीमा के भीतर रखने के लिये उस समय के व्याकरण की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार हिन्दी एकाडेमी प्रत्येक समय पर स्टैंडर्ड हिन्दी का आदर्श रक्खेगी, यद्यपि वह आदर्श स्वयम् समय के अनुसार बदल सकता है। दूसरे शब्दों में, हिन्दी एकाडेमी भाषा पर स्थिर नियंत्रण नहीं, गतिशील नियंत्रण रक्खेगी।

(२) ये सब बातें प्रतिक्रियावादी हैं।

होगी। जबर्दस्ती विदेशी अरबी फारसी शब्द मिलाकर 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने, देवनागरी की छाती पर विदेशी फारसी लिपि बैठाने और उसे देश पर लादने जैसे प्रतिक्रियावादी कार्यों की प्रतिक्रिया अपने आप होगी। अगर एक ओर भाषा को 'हिन्दुस्तानी' के नाम से अरबी-फ़ारसीमय बनाने का जोरदार और जानबूझ कर प्रयत्न किया जा रहा है, तो देश की भाषा और संस्कृति के अभिमानियों को हिन्दी के नाम से भाषा विशुद्ध रखने और करने का प्रयत्न जानबूझ कर करना ही होगा। अगर 'हिन्दुस्तानी' की सर्व-भक्षी दानवी ने जन्म न लिया होता, अथवा उसके जन्म के लिये वर्षों में यज्ञ न हो रहा होता, तो हिन्दी को क़िलेबन्दी करने की जरूरत न पड़ती। अगर 'हिन्दुस्तानी' की बाढ़ न आई होती, तो हिन्दी पर मेंढ़ बाँधने की आवश्यकता न होती। ऊपर जितनी बातें कही गई हैं उनके पीछे 'प्रतिक्रिया' और 'साम्प्रदायिकता' की भावना नहीं, आत्म-रक्षा की भावना है। अपने को बचाना हमारा धर्म है। भारत के इतिहास में एक समय संस्कृत को भी यावनी भाषा के प्रभाव से बचाने की जरूरत पड़ चुकी है। आज मराठी, जिसका अपने प्रदेश मे अखण्ड राज्य है, का अरबी फारसी शब्दों का बहिष्कार-कोष छप चुका है। आज अँगरेज़ी जैसी विकसित और शक्तिशाली

है कि मुसलमान माँग करेंगे कि प्रान्तीय जीवन मे भी प्रान्तीय भाषा की दोनों लिपियों को एक सा स्थान दिया जाय (जैसा आज मुसलमान हिन्दी प्रान्तों मे कहते हैं, और दयालु कांग्रेसी सरकार इस माँग को ही पूरा नहीं करती, वरन् हिन्दुओं को भी 'अपनी मातृ-भाषा की दोनो लिपियाँ' सीखने के लिये मजबूर करती है)। इस सबके लिये भी स्वयं अहिन्दी जन जिम्मेदार होंगे जो आज गांधीजी के इशारे से अपने पैसे से उर्दू लिपि का प्रचार करना परम राष्ट्रीय कार्य समझते हैं। उर्दू लिपि के कारण प्रान्तीय भाषाओं मे उच्चारण की भी जो दुर्दशा होगी, वह हम हिन्दी वाले प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं।

प्रान्तीय भाषाओं की लिपि का विभाजन होने के बाद उनकी शैली का विभाजन होना भी अनिवार्य है। प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की दो दो शैलियाँ हो जायँगी—एक 'हिन्दू शैली' और एक 'मुस्लिम शैली'—बिलकुल हिन्दी उर्दू की तरह (फिर क्या गांधीजी प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की 'सरस्वती' प्रकट करने का भगीरथ प्रयत्न करेंगे ?)। उर्दू शैली हिन्दी शैली से लिपि भिन्न होने के कारण ही भिन्न हुई , 'मुस्लिम बँगला' का आन्दोलन अब तक लिपि एक रहने के कारण ही सफल न हो सका है (आगे की राम जाने—सम्भवतः बंगाल की लीगी सरकार अब 'मुस्लिम बँगला' फारसी लिपि में लिखेगी)। पारसियों की गुजराती रोमन लिपि में लिखी जाने के कारण ही हिन्दुओं की गुजराती से सर्वथा भिन्न है, और गोआ के ईसाइयों की कोंकणी रोमन लिपि में लिखी जाने के कारण ही हिन्दुओं की कोंकणी (देवनागरी मे लिखित) से सर्वथा भिन्न है। लिपि और भाषा का अटूट सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार रोमन लिपि के प्रभाव से अँगरेजी शब्द पारसी गुजराती और ईसाई कोंकणी में अनायास घर करते चले जाते हैं, उसी प्रकार फारसी लिपि के प्रभाव से उर्दू शब्द प्रान्तीय भाषाओं को मुस्लिम शैली में (फारसी लिपि में लिखित) अनायास घर करते चले जायँगे*। 'हिन्दुस्तानी' की शब्दावली

*फारसी लिपि के प्रभाव से सिन्धी अरबी फारसी में ऐसी रँगी है और

रहे हैं। हम आज अँगरेजियत, अँगरेजी भाषा और कोट पतलून का ही विरोध क्यों करते हैं? क्या ये सब बातें समाज में, समाज की चोटी की श्रेणियों के जीवन में नहीं घुस गई हैं, और उर्दू के समान नहीं लद गई हैं? राजभाषा अँगरेजी को ही निकालने की बात क्यों की जाती है? क्या अँगरेजी पिछले दो सौ वर्षों से राजभाषा नहीं है? क्या शिक्षित समाज के लिये आज अँगरेजी मातृ-भाषा से भी बढ़कर नहीं है? फिर उसकी जगह मातृ-भाषा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न क्यों किया जा रहा है? क्या अँगरेजी के शब्द शिक्षितों की भाषा में अरबी फारसी के शब्दों के समान नहीं घुस गये हैं? उन्हीं को मातृ-भाषा में क्यों बहिष्कृत किया जाता है*? जब मनुष्य चेतता है और 'स्व' को पहचानने की योग्यता प्राप्त करता है, और अपने पिछले ऐश्वर्य को याद कर उसे पुनः प्राप्त करना चाहता है, तभी उसमें कुछ करने की शक्ति आती है और तभी वह महानता की ओर अग्रसर होता है। "मैं बड़ा होता हूँ तो अपनी शक्तियों से।" मुझे प्रेरणा मिलती है, जीवनी शक्ति मिलती है तो अपनी भाषा से, अपने शब्दों से, इसलिये मैं अपनी भाषा को शुद्ध करना और रखना चाहता हूँ। आज फारस तो फारसी में से घुले मिले अरबी शब्द निकाल रहा है, और तुर्की अपनी भाषा में से घुले मिले अरबी और फारसी शब्द निकाल रहा है। फिर यदि हम हिन्दी में से उन विदेशी शब्दों को निकालना चाहते हैं जो उसमें जबर्दस्ती या अज्ञानतावश घुसेड़े जा रहे या घुस गये हैं, तो हमीं को दोष क्यों दिया जाता है? यह संस्कृति का प्रश्न है, और भाषा संस्कृति को प्रधान पोषक है। यदि हम आज हिन्दी की विशुद्धता की रक्षा नहीं करेंगे तो हिन्दी—वह भाषा जिसका

*श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल लिखते हैं कि जब कोई गांधीजी से 'हिन्दुस्तानी' में बात करते समय किसी अँगरेज़ी शब्द का व्यवहार करता है तो वे उसका मज़ाक उड़ाते हैं। हिन्दू मुसलमानों में समान भाव से प्रचलित अँगरेज़ी शब्दों के प्रति हिन्दुस्तानी वालों का यह रुख है, परन्तु अरबी फारसी शब्द बढ़ाये बिना 'हिन्दुस्तानी' हिन्दुस्तानी नहीं कहला सकती!

साहित्य का सच्चा दिग्दर्शक होता चला जायगा। शुरुआत हिन्दी वालों को करनी है। उन्हे प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिको से सम्पर्क बढ़ाना चाहिये, उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिये। प० बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों मे उन्हे 'साहित्यिक सगाइयाँ' करनी चाहिये। हर्ष का विषय है कि हिन्दी साहित्य सभा, नई दिल्ली ने इस दिशा में कदम उठाया है। परन्तु काम बहुत बड़ा है। सब हिन्दीवालों को मिलकर प्रान्तीय भाषाओं से साहित्यिक मेलजोल बढ़ाने की योजना बनानी चाहिये। एक काम जो हिन्दी वाले तुरन्त कर सकते हैं वह है भारतीय साहित्य परिषद की पुनः स्थापना और 'हस' जैसे पत्र का पुनः सचालन। हमारी हार्दिक अभिलाषा है कि श्रीमुन्शी की 'सर्व-भाषा-मदिर योजना' शीघ्र कार्य रूप मे परिणत हो।

ऊपर के काम से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा-पद प्राप्त करने में भी वह सहायता मिलेगी जो किसी अन्य उपाय द्वारा सभव नही। अन्य भाषा-भाषियों पर हिन्दी का महत्व अपने आप प्रकट हो जायगा। 'हाथ कगन को आरसी क्या'! वे देख लेंगे कि जो काम हिन्दी कर सकती है, वह न उर्दू कर सकती है और न 'दोनों लिपि' वाली 'हिन्दुस्तानी'।

(४) एक हिन्दी प्रचार विद्यालय खोलना चाहिये जो हिन्दी प्रचारक तैयार करे। इस विद्यालय मे केवल वे ही लिये जायें जिनकी मातृ-भाषा हिंदी हो। इस विद्यालय की परीक्षा पास करके प्रचारक विभिन्न अहिन्दी प्रान्तों में जाकर राष्ट्र-भाषा हिंदी का सगठित रूप से प्रचार करें। अच्छा हो यदि यह विद्यालय सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के तत्वावधान में खोला जाय। (हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा भी हिन्दुस्तानी प्रचारक तैयार करने के लिये वर्धा में एक विद्यालय खोल रही है)। इस समय हिन्दियो का कर्त्तव्य है कि वे विभिन्न प्रांतों मे राष्ट्र-भाषा हिंदी के प्रचार के काम में हाथ बटावें। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के सगठन पर हिन्दुस्तानी वालो के जो प्रहार हो रहे हैं, उनका प्रतिकार हिन्दियो को करना होगा। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति

लिखी हुई दरख्वास्त मंजूर कर ले तो उसे खुशी अवश्य होगी, परन्तु 'अँगरेजी निकालो' की जो और जैसी भावना गांधीजी या अन्य नेताओं के दिमाग में काम कर रही है, उसकी बू भी 'जनता' को नहीं छू गई है। उसे तो यह अब बताया जा रहा है कि अँगरेजी विदेशी है, उसका बहिष्कार करो, अँगरेजी में भाषण मत दो, पत्रव्यवहार मत करो, आदि। यह सब जनता को 'लैंगुएज काशस' करना ही तो है। जनता को इँगलिस्तानी से भी कोई चिढ़ नहीं, वह खुशी खुशी अँगरेजी शब्द बोलने के लिये भी तैयार है, बल्कि वह उसे बड़प्पन का चिन्ह समझती है। चाहिये तो यह कि जनता से शिक्षित समाज की इँगलिस्तानी की नकल न करने के लिये भी न कहा जाय। अँगरेजी शब्दों के मामले में ही उसे 'काशस' क्यों किया जाय? यदि 'हिन्दी बोलो क्लब' से साधारण जनता को दिलचस्पी नहीं हो सकती, तो प्रयाग के 'हिन्दुस्तानी बोलो क्लब' से भी उसे कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती, ऐसा क्लब भी नहीं स्थापित होना चाहिये। यदि 'हिन्दुस्तानी बोलो' का आन्दोलन हो सकता है, तो 'हिन्दी बोलो' का आन्दोलन भी हो सकता है। यदि हम जनता से अपनी प्राचीन संस्कृति और भाषा के अनुरूप अपनी भाषा सुधारने के लिये कहते हैं, तो इस पर किसी को क्यों आपत्ति होती है? जनता के लिये क्या अच्छा है, और भाषा की कौन सी प्रवृत्ति त्याज्य है और कौन सी ग्राह्य, इस पर तो जननायकों में मतभेद हो ही सकता है। यदि हम यह समझते हैं कि हिन्दी में 'हिन्दुस्तानी' के नाम से या किसी और नाम या 'वाद' की आड़ में अरबी फारसी शब्द भरने की प्रवृत्ति उतनी ही बुरी है जितनी अँगरेजी शब्द भरने की, और भाषा में से अनावश्यक अरबी फारसी शब्द उसी प्रकार निकालना चाहिये जिस प्रकार अनावश्यक अँगरेजी शब्द, तो क्या गलत समझते हैं? इस पर तर्क हो सकता है और विरोधियों को हम तर्क के लिये आमंत्रित करते हैं, परन्तु यह बात कि जनता 'लैंगुएज काशस' नहीं है फिर क्या महत्व रखती है?

देते हैं, जनता बेचारी जाकर उस 'हिन्दुस्तानी' को समझे चाहे न समझे। अब तक जितने तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' चित्र बने हैं, उनमें से अधिकांश की भाषा 'अच्छी उर्दू', खराब उर्दू, भद्दी उर्दू, खराब हिन्दी या भद्दी हिन्दी' है, अच्छी हिन्दी के चित्र शायद ही कुछ बने हैं। यदि चित्र-समालोचक सब चित्रों की भाषा को इस 'हिन्दुस्तानी' का पासपोर्ट न देकर चित्र की भाषा को इन्ही विशेषणों से सम्बोधित करें, तो जनता का भी लाभ हो और फिल्म निर्माताओं का भी। हिन्दी जनता या तो एक 'उर्दू' चित्र देखने ही न जायगी (वे ही जायँगे जो उर्दू समझ सकते हैं), और यदि जायगी भी तो उसे मालूम रहेगा कि वह किस भाषा का चित्र देख रही है। हिन्दी जनता को भी सभायें करके चित्रों की भाषा के विरुद्ध अपना असंतोष प्रकट करना चाहिये। यह सब होने पर सिनेमा के मालिक पूँजीपतियों को हवा का रुख पहचानते देर न लगेगी। जब वे हमारे पैसे से ही मोटे होते हैं, तो उन्हें वह देना पड़ेगा जो हम चाहते हैं। हम क्या चाहते हैं, यह हम बतलावें तो।

हिन्दी वालों को अधिकाधिक संख्या में सिनेमा कम्पनियाँ खोलनी चाहिये, जो चित्रों में हिन्दी और हिन्दी संस्कृति की रक्षा करें और सुरुचि का पूरा ध्यान रक्खें। जनता का सांस्कृतिक स्तर उठने वाला है, जनता शीघ्र ऐसे चित्रों की माँग करेगी। हिन्दी साहित्यिकों और लेखकों को भी अधिकाधिक संख्या में सिनेमा में प्रवेश करना चाहिये, और सिनेमा की दुनिया पर अधिकार करना चाहिये। सिनेमा दुरदुराने से नहीं, अपनाने से सुधरेगा। सिनेमा का राष्ट्र की शिक्षा और सांस्कृतिक उत्थान के कार्य-क्रम में इतना ऊँचा स्थान है कि वह अच्छे से अच्छे साहित्यिक के सर्वथा योग्य है, और यदि इस समय नहीं है तो अब हमें बनाना है। परन्तु सिनेमा के वर्त्तमान या भविष्य के हिन्दी लेखकों से हमारा एक नम्र निवेदन है। वे अपनी कला को सिनेमा की टेकनीक के अनुकूल अवश्य बनावें,

सलाह दी कि हिन्दी वाले जितने ही अधिक अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग करेंगे उतना ही वे हिन्दी को अच्छा बनायेंगे। जो 'हिन्दुस्तानी' जैसी कृत्रिम भाषा गढ़ने वालों के एक अगुआ हैं, जिन्होंने कृत्रिम रूप से 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने के लिये कमेटियाँ बैठाई हैं और जो स्वयम् हिन्दुस्तानीगढ़सभाओं के एक मुखिया हैं, उन्हें हिन्दी पर 'कृत्रिमता' का लाञ्छन लगाना शोभा नहीं देता। हम उनसे यह भी पूछना चाहेंगे कि जिस 'हिन्दुस्तानी' को उन्होंने बिहार पर लदवाया और अब फिर लदवाना चाहते हैं, वह ही कितने बिहारियों की 'मातृ-भाषा' है, और उन महमूद सीरीज और राजेन्द्र सीरीज की रीडरों की 'हिन्दुस्तानी' जिसने सीता को 'बेगम' और वाल्मीकि को 'मौलवी' बना दिया, कहाँ तक अकृत्रिम और स्वाभाविक है, और फारसी लिपि जिसका सीखना वे सब बिहारियों के लिये अनिवार्य करना चाहते हैं, कहाँ तक किसी 'हिन्दुस्तानी' की, और कितने बिहारियों की स्वाभाविक लिपि है? यदि अधिकाधिक अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग ही अकृत्रिमता लाने का सबसे सरल नुस्खा है, तो क्यों नहीं उन्होंने रवीन्द्र को अरबी-फारसीमय बँगला लिखने की सलाह दी, और क्यों नहीं वे गांधी जी से अरबी-फारसीमय गुजराती लिखने के लिये कहते? हिन्दी पर ही उनकी कृपा-दृष्टि क्यों है, उसी को वे अरबी-फारसीमय क्यों बनाना चाहते हैं? अस्तु, डा० राजेन्द्र प्रसाद के विचारों का तो उचित मूल्यांकन फिर होगा, परन्तु क्या हिन्दी वास्तव में कृत्रिम है?

हाँ, हिन्दी कृत्रिम है। यह कृत्रिम इसलिये नहीं है कि उसमें बहुत से अवाञ्छनीय या बोलचाल में अप्रचलित संस्कृत शब्द हैं—उर्दू में अवाञ्छनीय या बोलचाल में अप्रचलित अरबी फारसी शब्दों की संख्या और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में अवाञ्छनीय या बोलचाल में अप्रचलित संस्कृत शब्दों की संख्या इससे कम नहीं है, वरन् यह कृत्रिम इसलिये है कि उसमें अनावश्यक, अवाञ्छनीय, या बोलचाल में अप्रचलित, या हिन्दी शब्दों की अपेक्षा

परिशिष्ट

मजबूर हुआ। ये बचे हुये कुछ सौ संस्कृत शब्द ऐसे हैं जो कहीं बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं, परन्तु जिनके देशज या अरबी फारसी पर्याय या दोनों प्रकार के पर्याय साधारण जनता की बोलचाल में प्रचलित हैं। इनमें से कुछ ऊपर के (२) (अ) वर्ग (पृष्ठ ४७) में आजाते हैं और शेष के अरबी फारसी पर्याय ऊपर के (१) (इ) (1) वर्ग (पृष्ठ ३५) में आ जाते हैं। इनके साथ क्या होना चाहिये, यह पहले बतलाया जा चुका है। यदि हिन्दी को कृत्रिमता या अकृत्रिमता की दृष्टि से नहीं, वरन् शुद्ध जनता की सुविधा की दृष्टि से देखा जाय, तो इन कुछ सौ संस्कृत शब्दों में उन संस्कृत शब्दों को और जोड़ना पड़ेगा जो शिक्षित समाज की बोलचाल में तो प्रचलित हैं परन्तु जनता की बोलचाल में जिनके अरबी फारसी पर्याय प्रचलित हैं (इनके अरबी फारसी पर्याय ऊपर के (१) (इ) (11) वर्ग (पृष्ठ ३५) में आ जाते हैं, इनके साथ क्या होना चाहिये, यह भी वहीं बताया जा चुका है)। इस प्रकार इन शब्दों की संख्या लगभग ५०० हो जायगी। यदि इन शब्दों में उन संस्कृत शब्दों को भी जोड़ ही दिया जाय जिन्हें छोड़ने के लिये ऊपर कहा गया है, अर्थात उन संस्कृत शब्दों को भी जोड़ दिया जाय जो शिक्षित समाज की बोलचाल में भी प्रचलित नहीं हैं परन्तु जिनके अरबी फारसी पर्याय केवल शिक्षित समाज की साधारण बोलचाल में प्रचलित हैं—साधारण जनता को उनकी या उनके अरबी फारसी पर्यायों की अब तक जरूरत ही नहीं पड़ी (और इसलिये जिन्हें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रचलित करने का और उनके अरबी फारसी पर्यायों का बहिष्कार करने का हमें अधिकार है), अर्थात यदि, जहाँ तक बोलचाल का संबंध है, हिन्दी के केवल वे ही संस्कृत शब्द सब प्रकार से अकृत्रिम और अधिकारी समझे जायें जो या तो साधारण जनता की बोलचाल में प्रचलित हैं या, यदि उनकी या उनके अरबी फारसी पर्यायों की आवश्यकता जनता को नहीं पड़ी—केवल शिक्षित समाज को पड़ी, तो

आश्चर्य तो इस बात का है कि इस 'लोकल-कलर' का सबसे अधिक ख्याल हिन्दी वालों को है। आज तक कोई अँगरेजी का लेखक अँगरेजी की कृतियों में अँगरेजी को छोड़कर हिन्दुस्तानी पात्रों से किसी भारतीय भाषा में या चीनियों से चीनी भाषा में बातचीत कराता हुआ देखने मे नहीं आया। यही बात ससार की अन्य भाषाओं के विषय मे कही जा सकती है। दूर जाने की जरूरत नहीं, उर्दू के लेखक भी ऐसी गलती नही करते कि हिन्दू पात्रों से हिन्दी मे बातचीत करावें। कुछ ऐसे शब्दो की बात दूसरी है जो एक देश विशेष अथवा जाति विशेष से ही सम्बन्ध रखते हैं और किसी विशेष गुण या वस्तु को जताने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं और जिनका उनकी ध्वनि नष्ट किये बिना सरलता से अनुवाद नहीं हो सकता। ऐसे शब्दों का अर्थ प्रायः कोष्ठकों मे या पाद-टिप्पणियों मे स्पष्ट कर दिया जाता है, और अँगरेजी मे प्रायः ऐसे शब्दो को इटैलिक्स (italics) मे यह जताने के लिये लिखा जाता है कि ये विदेशी शब्द हैं, और किसी विशेष कारण से ही प्रयुक्त किये गये हैं। लेकिन हिन्दी की कृतियों मे मुसलमानों की बातचीत उर्दू में बेखटके और बेरोकटोक कराई जाती है, और उर्दू शब्दों के अर्थ को भी स्पष्ट नहीं किया जाता, बल्कि यह समझा जाता है कि यह तो हिन्दी ही है और हिन्दी-पाठक इसे समझते ही होंगे, और यह लेखक की मेहरबानी है कि उसने आदि से अन्त तक सब जगह ऐसी हिन्दी नही लिखी!

इस सम्बन्ध में दो एक बातें और विचारणीय हैं। 'नई दुनिया' शीर्षक कहानी में चिरागी और गजरा समाज की बहुत ही निम्न श्रेणी के व्यक्ति हैं। इन निम्न श्रेणियों में शुद्ध, साहित्यिक, खड़ी बोली उर्दू नहीं बोली जाती, फिर इनका साहित्यिक उर्दू में बोलना ही कहाँ तक स्वाभाविक है और कहाँ तक वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है? ये दोनो व्यक्ति बनारस के रहनेवाले दिखाये गये हैं। तो क्या इनसे पूर्वी या किसी और देहाती बोली में बुलवाना कहीं

तियों को विश्वास दिलाते हैं कि इन सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दी में से जितने संस्कृत शब्दों को निकालना पड़ेगा, उनसे इन अरबी फारसी शब्दों की संख्या कई गुना अधिक होगी जिन्हें हिन्दी में से इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार निकालना पड़ेगा। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि हिन्दी में आने वाले जिन अरबी फारसी शब्दों के विरुद्ध इस पुस्तक में आवाज उठाई गई है, उनकी संख्या भी इस समय एक हजार से अधिक नहीं है। इस पुस्तक को पढ़कर कोई यह कहने का साहस न करे कि हिंदी कोई भाषा नहीं, उसमें तो उर्दू के सभी शब्द आते हैं। ये एक हजार अरबी फ़ारसी शब्द वही हैं जिन्हें हिंदी लेखक हिंदी प्रदेश में अपने चारों ओर बोलचाल में सुनते हैं (देशज, संस्कृत तत्सम या तद्भव शब्दों के साथ साथ या अकेले), और असावधानी के कारण हिन्दी में स्थान दे देते हैं अथवा, यों कहिये, लिख जाते हैं। बोलचाल में बहुत अधिक शब्द हैं ही नहीं। एक गुलाम और पिछड़े हुये देश के निवासियों की जिन पर पिछले एक हजार वर्षों से विदेशी शासकों ने सब गम्भीर कार्यों और व्यवहारों के लिये विदेशी भाषाओं को लाद रक्खा हो, बोलचाल की शब्दावली समृद्ध हो ही कैसे सकती है। बोलचाल की शब्दावली से मध ही कितने काम सकते हैं? यदि हिंदी में आनेवाले बोलचाल में प्रचलित इन एक हजार अरबी फ़ारसी शब्दों को रहने ही दिया जाय, और उनके देशज और बोलचाल में प्रचलित अथवा अप्रचलित संस्कृत पर्यायों का हिंदी से पूर्ण बहिष्कार कर भी दिया जाय, तो कौन सी समस्या हल हो जायगी? यह प्रश्न तो फिर भी रह जायगा कि उन शब्दों को जिनकी गंभीर कार्यों के लिये आवश्यकता है (और जिनकी संख्या बहुत अधिक है और दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है) परन्तु जो बोलचाल में कहीं नहीं पाये जाते, कहाँ से और किन सिद्धांतों के अनुसार लाया जाय। ऐसे शब्दों के लिये उर्दू अरबी और फ़ारसी, अरब और फ़ारस की शरण क्यों लेती है? यदि ऐसे शब्दों के लिये उर्दू को अरबी फ़ारसी का दरवाजा खटखटाने का कोई अधिकार

पूर्ण और संसार की सभी भाषाओं के नियमों के विरुद्ध है। भाषा विचारों को प्रकट करने का एक साधन है, और भाषा यह तभी कर सकती है जब उसका एक प्रचलित, सर्वमान्य और निश्चित स्वरूप हो। जब हम किसी भाषा में अपने विचार प्रकट करने बैठते हैं तो हम काल के अनुसार या व्यक्ति के अनुसार भाषा नहीं बदलते चल सकते। बात चाहे आज की हो, चाहे हजार वर्ष पहले की, व्यक्ति चाहे किसी भी देश, जाति या धर्म का हो, भाषा का स्वरूप वही रहता है। फिर हिन्दी मे ही मुसलमानों से या विदेशियों से उर्दू में कथोपकथन क्यों कराये जाते है ? आशा है विद्वान लेखक इस ओर ध्यान देंगे, और हिन्दी को इस दोष से बचायेंगे। कम से कम पत्रों के सम्पादक यह कर सकते हैं कि इस दोष से दूषित लेखों को लौटाने का कारण बताते हुये वापस कर दें, या उनके उर्दू संवादों को हिन्दी मे अनुवाद करके छापे।

(सितम्बर, १६४५ की 'माधुरी' से)



का प्रयत्न करेंगे। उसे केवल थोड़ी सी आशा यह है कि हिंदीवाले शायद आगे के लिये सावधान हो जायँ और अपने ही हाथों हिंदी की कब्र तैयार करना छोड़ दें। हिंदुस्तानीवाले इस पुस्तक को पढ़कर भड़कें नहीं।

जब हिंदी की कृत्रिमता का सवाल उठा है तब उर्दू की हालत पर भी सरसरी नजर डालना असंगत न होगा। उर्दू डेढ़ सौ साल से अधिक से हिंदी शब्द मतरूक करती आरही है। उर्दू ने जनता की बोलचाल में प्रचलित सैकड़ों देशज, और संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों को मतरूक कर दिया है और उनके स्थान में अरबी फ़ारसी शब्दों को भर लिया है। इन अरबी फ़ारसी शब्दों में से कुछ जनता की बोलचाल में प्रचलित होगये हैं, कुछ केवल शिक्षित समाज की बोलचाल में प्रचलित हैं, कुछ विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में प्रचलित हैं, और शेष कहीं बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं। हिंदी में बोलचाल में प्रचलित किसी देशज या संस्कृत तत्सम या तद्भव शब्द को मतरूक करने का कभी प्रश्न ही नहीं उठा और न कभी उठ सकता है। इतना ही नहीं, हिंदी में बोलचाल में प्रचलित सभी अरबी फारसी शब्द भी, बोलचाल में प्रचलित हिंदी पर्यायों के होते हुये, आते हैं, परन्तु उर्दू में बोलचाल में प्रचलित हिन्दी शब्द, यदि बोलचाल में उनके उर्दू पर्याय प्रचलित हों तो, कभी नहीं आते। उर्दू के ऐसे अरबी फारसी शब्दों की संख्या भी जो साधारण बोलचाल में कहीं प्रचलित नहीं हैं परन्तु जिनके हिन्दी पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं, उन संस्कृत शब्दों की संख्या से कहीं अधिक है जो बोलचाल में कहीं प्रचलित नहीं हैं परन्तु जिनके अरबी फारसी पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं। हिन्दी में जहाँ ऐसे बोलचाल में अप्रचलित संस्कृत शब्दों के साथ उनके बोलचाल में प्रचलित अरबी फारसी पर्याय भी आते हैं, वहाँ उर्दू में बोलचाल में अप्रचलित अरबी फारसी शब्दों के साथ उनके बोलचाल में प्रचलित हिन्दी पर्याय कभी नहीं आते। हिन्दी के जितने संस्कृत शब्दों के विरुद्ध हमें यह शिकायत है कि उनके देशज पर्याय प्रचलित होते हुए उन्हे क्यों

this province in the various dialects bears close affinities with modern Hindi literature and is a part and parcel of 'Hindi' literature and not of Urdu literature or of any 'Hindustani' literature

HIND AND HINDUSTAN

All the provinces or, more correctly, territorial divisions of India with the exception of U P, C P and N W F. P. have got their distinctive names which signify the spoken, indigenous mass language or 'vernacular' of the area as also the indigenous people inhabiting the area For the Madras province has been recognised, particularly by the Congress, as consisting of Andhra, i e the Telegu speaking part, Tamil Nad i e, the Tamil speaking part and Carnatic i e, the Kannada speaking part Bombay province is similarly regarded as consisting of Gujarat i e, the Gujarati speaking part and Maharashtra i e, the Marathi speaking part Even in C P, thanks to the efforts of Pt. Dwarka Prasad Misra, a Minister in the present as well as in the last Congress Ministry of C P, the old name of the Hindi speaking part, viz, Mahakoshal (Koshali or Eastern Hindi is the mass language of the Hindi speaking C P) has been officially recognised. The Marathi speaking part of the C P. is, linguistically speaking, a part of Maharashtra 'N W. F P' is more a political phrase than a name, and is bound to be appropriately renamed soon So the U P is the only province which has no name signifying the distinctive language, culture and the people of the province. During the previous Congress regime the name 'Hind' was

हिन्दी शब्द—देशज, संस्कृत तत्सम या तद्भव—भी आवें, और यदि उर्दू इस लेनदेन को नहीं अपना सकती तो ऊपर प्रतिपादित जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अरबी फारसी शब्द हिन्दी में रखना चाहते हैं कम से कम उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार उर्दू में हिन्दी संस्कृत शब्द आवें—यह हमारा उन उर्दू वालों को जवाब है जो हिन्दी से अरबी फारसी शब्दों का बहिष्कार करने का नाम ले ऊपर प्रतिपादित सिद्धान्तों पर उँगली उठाना चाहें। जिन सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार हिन्दी के संस्कृत शब्दों को साधारण बोलचाल में अप्रचलित, परन्तु उनके अरबी फारसी या देशज पर्यायों को साधारण बोलचाल में प्रचलित बताया जाता है और जिन सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार हिन्दी के संस्कृत शब्दों को उनके अरबी फारसी या देशज पर्यायों की अपेक्षा साधारण बोलचाल में कम प्रचलित बताया जाता है उन्हीं सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार उर्दू पहले ऐसे अरबी फारसी शब्दों का त्याग करे जो साधारण बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं परन्तु जिनके संस्कृत या देशज पर्याय साधारण बोलचाल में प्रचलित हैं, और ऐसे अरबी फारसी शब्दों का त्याग करे जो संस्कृत या देशज पर्यायों की अपेक्षा साधारण बोलचाल में कम प्रचलित हैं, और यदि उर्दू ऐसा नहीं कर सकती तो काम से कम यह अपने आपत्तिजनक अरबी फारसी शब्दों के साथ वैसा व्यवहार करने को तैयार हो जैसा हिन्दी के आपत्तिजनक संस्कृत शब्दों के साथ करने के लिये ऊपर जोर दिया गया है—यह हमारी उन उर्दू वालों को चुनौती है, जो हिन्दी को कृत्रिम बताते हैं।

अब 'हिन्दुस्तानी' की अकृत्रिमता (!) को लीजिये। 'हिंदुस्तानी' के भक्तों के सामने दो ही रास्ते हैं। वे 'हिंदुस्तानी' का ढाँचा खड़ी बोली को आधार मान कर या तो बोलचाल की भाषा की दृष्टि से खड़ा कर सकते हैं या लिखित भाषा की दृष्टि से। पहले बोलचाल को लीजिये। हम हिन्दुस्तानी वालों को आमन्त्रित करते हैं कि वे इस सिद्धान्त को रक्खें कि

the teaching of Urdu It may even grant the same facilities to other language groups in the province, but let the vernacular of the province remain what it is, i. e. Hindi Truth must not be sacrificed. Urdu or Hindustani is certainly not the vernacular of this province A time may come when those who want Urdu and its script to-day may take kindly to the vernacular of this province, i. e, their real mother tongue, and to its natural script, thus ushering in the era of complete linguistic unity in this province; just as in the Punjab where Urdu too is medium of instruction, language of administration, etc, a time may come when adherents of Urdu, despite late Sir Sikandar Hayat Khan's frantic declaration regarding Urdu being the 'national language of Punjab', may take kindly to and adopt Punjabi, their mother tongue and the vernacular of Punjab, provided that Punjab remains 'Punjab' and Punjabi is not renamed 'Hindustani' or something like that Thus 'Hindi' has got seeds of unity in it. But 'Hindustani', besides being an untruth, will, with its shifty and shifting meaning and its concomitant, the 'two scripts' clause, never allow this province to be one in the matter of language and script, will be a permanent obstacle on the way of progress and thus defeat the very purpose for which this untruth is (probably) sought to be imposed on this province We appeal to the Congress that plumes itself in truth to do away with this palpable untruth, which seems to be inspired by political opportunism but which has infinite potentialities for permanent wrong-doing and injustice, It must give up its attempt to give a habitation to its concoction 'Hindustani' at the cost of

अपेक्षा अधिक व्यक्ति लिखते हैं।) यदि वे हिंदुस्तानी को हिंदी प्रदेश की भाषा बनाना चाहते हैं, तो वे इन सिद्धातों को, जो किसी स्वदेशी-भावना पर नहीं, वरन् शुद्ध प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र पर अवलम्बित हैं, सपूर्ण हिंदी प्रदेश की बोलचाल और हिदी प्रदेश की साहित्यिक भाषाओं अर्थात् हिंदी और उर्दू पर लागू करके हिंदुस्तानी गढे। यदि वे हिंदुस्तानी को सम्पूर्ण भारत की भाषा अर्थात् राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं, तो वे इन सिद्धान्तों को सपूर्ण भारत की बोलचाल और संपूर्ण भारत की साहित्यिक भाषाओं पर लागू करके हिंदुस्तानी गढें। हम दावा करते हैं कि इस प्रकार जो हिंदुस्तानी बनेगी वह दोनों ही प्रकरणों—हिंदी प्रदेश के अथवा समूचे राष्ट्र के—में आधुनिक हिंदी से केवल इतनी भिन्न होगी कि उसमें आधुनिक हिंदी की अपेक्षा अरबी फारसी शब्दों की सख्या और भी कम होगी—वह बिलकुल वही होगी जो ऊपर प्रतिपादित सिद्धातो के अनुसार हिन्दी का परिष्कार करने के बाद हिंदी हो जायगी। यदि हिंदुस्तानीवाले दूसरे रास्ते से अर्थात् लिखित भाषा की दृष्टि से चलना चाहते हैं, तो वे हिंदी प्रदेश के प्रकरण में हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषाओं अर्थात् आधुनिक हिंदी और आधुनिक उर्दू में से उन शब्दों को लें जिन्हें हिंदी प्रदेश में अधिक व्यक्ति लिखते हों, और राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में खड़ी बोली को आधार मान कर सपूर्ण भारत की साहित्यिक भाषाओं में से उन शब्दों को लें जिन्हें अधिक व्यक्ति लिखते हों। हम दावा करते हैं कि इस प्रकार जो हिंदुस्तानी बनेगी उसमें हिंदी प्रदेश के प्रकरण में आधुनिक हिंदी की अपेक्षा एक भी अरबी फ़ारसी शब्द अधिक न होगा, और राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में वे वह आधुनिक हिंदी से भी अधिक संस्कृत-निष्ठ होगी। परन्तु हिंदुस्तानीवाले कहीं ठहरे, अपने श्रीमुख से किसी सिद्धात का प्रतिपादन करें तब तो। सिद्धात का तो यह भी तक़ाजा है कि एक भाषा हिंदुस्तानी एक ही लिपि मे लिखी जाय*, और वह लिपि ऐसी हो

* पं० राधेश्याम कथावाचक ने एक बार 'उर्दू' हिन्दी से अधिक बोली

कर बडे बडे भारतीय नेताओं और विद्वानों तक को भ्राति मे डाल देनेवाले 'हिन्दुस्तानी' शब्द के छद्म रूप का भण्डाफोड किया, लेकिन आल इ डिया रेडियो की नीति अब भी जहाँ की तहाँ है—उसके अधिकारियों ने हिन्दी-भाषा को वहिष्कृत करने का बीड़ा सा उठा लिया है। हिन्दुस्तानी के जाल में फॅसे हुए लोग अभी स्वतत्र हुये हैं कि नहीं, यह हमे अभी देखना है। उससे मुक्त होने का सबसे अच्छा उपाय है कि वे पण्डित रविशकरजी की पुस्तकों को पढ लें। मैं तो प्रत्येक हिन्दी प्रेमी और देश-भक्त का यह कर्तव्य समझता हूँ कि वह इन पुस्तकों को पढे और हिन्दुस्तानी के धोखे से शीघ्र से शीघ्र सावधान हो जाय।

परन्तु, क्या हम हिन्दीवालो ने कभी यह भी सोचा है कि हमारी भाषा पर होनेवाले इन अत्याचारों के लिये स्वयं हमारा उत्तरदायित्व कहाँ तक है ? हमारे किन अपराधों और हमारी किन त्रुटियों और निर्बलताओ के कारण हिन्दी इस अपमानित स्थिति में आ पड़ी है ? हमने हिन्दी का मस्तक ऊँचा करने के लिये अभी तक क्या किया है ? इन प्रश्नो का उत्तर हिन्दी प्रदेशों के केन्द्र सयुक्त-प्रान्त पर ही नज़र डालने से मिल जायगा—

(१) पॉच प्रचलित अँगरेजी के समाचार-पत्र—लेकिन क्या इनमे से किसी का भी सम्पादक हिन्दी की गोद मे तुतलाया और पला हुआ व्यक्ति है ? यदि होता तो आल इ डिया रेडियो की हिन्दी-विरोधी नीति एक पग भी आगे न बढ सकती। इनमें से किस समाचार पत्र ने किसी हिन्दी-विरोधी नीति के विरुद्ध आन्दोलन किया है ? यह विश्वास करने को मेरा जी नहीं चाहता कि अब तक अँगरेजी समाचार-पत्रो के सम्पादन की योग्यता रखनेवाला कोई हिन्दी का लाड़ला पैदा ही नहीं हुआ।

(२) हमारे प्रात के सबसे बडे जगद्विख्यात नेता को हमारी प्रमुख प्रान्तीय भाषा हिन्दी के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं—शायद वह टूटी फूटी ही हिन्दी लिख सकता हो। और उसकी इस उदासीनता ने हमारे अन्य

आरोप करनेवाले डा० राजेन्द्रप्रसाद ने विहार पर लादा और अब फिर लादना चाहते हैं। यदि वे वास्तव में हिंदी को कृत्रिम भाषा समझते हैं, और उर्दू को अकृत्रिम भाषा समझते हैं, तो समझ में नहीं आता वे हिंदुस्तानी क्यों गढ़ना चाहते हैं, उर्दू को ही वे वास्तविक हिंदुस्तानी और विहार की भाषा क्यों नहीं घोषित कर देते? यदि वे उर्दू को भी कृत्रिम समझते हैं, तो समझ में नहीं आता कि वे दो कृत्रिम भाषाओं हिंदी और उर्दू से कृत्रिम उपायों से एक अकृत्रिम हिंदुस्तानी किस प्रकार मथ कर निकाल लेंगे। हाँ, यदि हिंदुस्तानी, श्री आनन्द कौसल्यायन के शब्दों में, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की नहीं, हिंदू-मुस्लिम पैक्ट की भाषा है, तो बात दूसरी है। और वह पैक्ट भी कैसा जिसकी नींव में पानी मरता है, जो बनावटी और अस्थाई है, और जिस पर एक फरीक़ तो जान देने को तैयार है, दूसरा दस्तखत करने को भी तैयार नहीं—जिसे मान कर अपनी ईमानदारी दिखाने के लिये एक तो अपनी गर्दन काटने को तैयार है (बल्कि काट रहा है), दूसरा अपनी मूँछें नीची करने को भी तैयार नहीं! यह याद रहे कि बिहार की कांग्रेस सरकार ने हिन्दुस्तानी गढ कमेटी बैठाई, और विहार पर हिन्दुस्तानी को लादा, परन्तु सीमा-प्रांत की कांग्रेस सरकार ने शुद्ध उर्दू और केवल उर्दू लिपि छोड़ कर किसी दूसरी हिन्दुस्तानी या लिपि से नाता नहीं जोड़ा *। यह भी याद रहे कि डा० राजेन्द्रप्रसाद की राय में, मालूम होता है, 'हिन्दुस्तानी' केवल बिहार के हिन्दुओं की 'स्वाभाविक' भाषा है, क्योंकि राजेन्द्र-प्रसाद-हक समझौते के अनुसार बिहार के मुसलमान छात्र 'हिन्दुस्तानी' पढने के लिये बाध्य नहीं किये गये—उन्हें 'हिंदुस्तानी' के बजाय उर्दू पढने का विकल्प दिया गया, परन्तु हिन्दू छात्रों को यह विकल्प नहीं दिया गया। यह है डा० राजेन्द्रप्रसाद की 'अकृत्रिम' हिन्दुस्तानी, और कांग्रेस की तथा-कथित कामन भाषा, राष्ट्र-भाषा का पोलखाता।

---

* आगे 'हिन्दुस्तानी की बला' शीर्षक प्रकरण भी देखिये।

कुछ मुसलमान सज्जनों ने भाषण दिये—उर्दू में, ठीक है ऐसा तो होता ही। अब उठे एक एक करके हमारे दो नेता—दोनों हिन्दी के यशस्वी विद्वान् और लेखक। कुछ मनचले साहसी छोकरों ने आवाज लगाई 'उर्दू, उर्दू'—और यह लीजिये उर्दू। फिर क्या था, वे छोकरे विजय से फूल गए और हिन्दी वाले विद्यार्थी मुँह बाये, मुँह ताकते रह गये। हमने मौलाना अबुलकलाम आजाद, श्री रफी अहमद किदवई, आदि किसी भारतीय मुस्लिम नेता को हिन्दी में लिखते-बोलते न देखा है और न सुना है। क्यों? क्योंकि उर्दू अपने नाम से अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से उर्दू ही रहना चाहती है, हिन्दी अपने को चाहे नष्ट कर डाले।

(३) लखनऊ की बड़ी प्रदर्शिनी (१६३६)—एक पडाल के नीचे 'हिन्दुस्तानी ऐकेडमी' की एक बैठक में हिन्दुस्तानी की समस्या हल हो रही थी। जा बैठा। देखता क्या हूँ कि 'आमफहम जुबान' हिन्दुस्तानी का ही समर्थन करते हुए उर्दू वाले बडे जोश खरोश से फारसी बूक रहे थे—और ढिलमिल हिन्दी वाले भी, जिनमे हिन्दी के कुछ दिग्गज विद्वान भी थे, (कदाचित तकल्लुफ में आकर) उर्दू में ही भाषण देने का प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दुस्तानी तो कुछ थी ही नहीं, हिन्दी भी न रही, रह गई केवल कोरी उर्दू—न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। उठा, और इन हिन्दी वालों से कुछ कुपित, कुछ निराश, कुछ इन पर हँसता और कुछ इन अशुभ लक्षणों से हिन्दी पर आगे आने वाले सकट का अनुमान करता अपने घर चल दिया।

साराश यह कि जब तक हिन्दी वाले स्वय अपने ही इन अपराधो से मुक्त न होंगे, तब तक हिन्दी-माता अपने ऊपर दूसरो द्वारा किए हुये अत्याचारों पर कम रोवेगी, अपने ही पूतों की निष्क्रियता और कर्त्तव्यहीनता पर सिर पटकती रहेगी। यदि उसके ही बेटे ऐसे न होते तो कैसे कोई उसका अपमान कर सकता? अभी बहुत देर नहीं हुई है—क्या हम अपने

भारत की साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार क्यों बनाया जाय ? (एक बार प० सुन्दरलाल ने फरमाया कि राष्ट्र भाषा हिन्दुस्तानी का आदर्श दिल्ली नगर की गलियों में बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी है।) यदि आज खड़ी बोली युक्त-प्रान्त, विहार, मध्य-प्रान्त और राजस्थान की साहित्यक भाषा, या राष्ट्र भाषा का आधार मानी जा रही है, तो इसका कारण यह नहीं है कि खड़ी बोली एक या दो जिलों की मातृ-भाषा है, वरन् यह है कि खड़ी बोली दूर दूर तक फैल गई है, दूर दूर तक बोली जा रही है और सैकड़ों वर्षों के दौरान में खड़ी बोली का एक ऐसा स्वरूप तैयार हो चुका है जो हिन्दी प्रान्तों में और सारे देश में अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिये सुलभ है। तात्पर्य यह कि पेशावर से पटना तक के प्रदेश की साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार किसी स्थान विशेष की हिन्दुस्तानी बोलचाल नहीं, वरन् खड़ी बोली का वही स्वरूप हो सकता है जो इस प्रदेश के अधिक से अधिक व्यक्तियों केलिये सुलभ हो, अर्थात् उसमें हिन्दी प्रदेश में सबसे अधिक प्रचलित शब्द ही रक्खे जा सकते हैं। देश की राष्ट्र-भाषा साहित्यिक हिंदुस्तानी का आधार भी किसी स्थान विशेष की हिन्दुस्तानी बोलचाल नहीं, वरन् खड़ी बोली का वही स्वरूप हो सकता है जो देश के अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिये सुलभ हो, अर्थात् उसमें देश में सबसे अधिक प्रचलित शब्द ही रक्खे जा सकते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, दोनों ही दृष्टियों से यह आधार आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी में अन्तर्निहित है, और यदि खड़ी बोली के इस सर्वाधिक सुलभ स्वरूप के आधार पर सर्वाधिक सुलभता के सिद्धान्त के अनुसार ही एक साहित्यिक हिन्दुस्तानी का निर्माण किया जाय, तो वह आधुनिक साहित्यिक हिन्दी से भिन्न न होगी। दूसरे शब्दों में, आधुनिक हिन्दी ही हिन्दी प्रदेश और सम्पूर्ण देश के लिये सबसे अधिक सुलभ और सबसे अधिक उपयुक्त हिन्दुस्तानी है। यदि हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी उर्दू की खिचड़ी किसी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्त के अनुसार

शब्दों का भी बहिष्कार होकर उनके स्थान पर अरबी फारसी बहुल उर्दू शब्दों की इतनी भरमार हो जायगी कि वह वही हिन्दुस्तानी बन जायगी जो ऐंग्लो-मुस्लिम गुट्ट को अभीष्ट है।

हम यह मानते हैं कि उन्नतिशील भाषा पड़ोसी भाषाओं के ही नहीं प्रत्युत विदेशी भाषाओं के शब्दों से भी अपने शब्द-भाण्डार को भरने में आगा-पीछा नहीं करती। पर इसका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि अपने आत्मसात किये हुये शब्दों का या उपजीव्य भाषा के शब्दों का बहिष्कार करके दूसरी भाषा के शब्दों को अपनाया जाय, उनके पीछे दौड़ा जाय।

वर्धा की हिन्दुस्तानी कैसा साहित्य निर्माण कर रही है, इसके कुछ उदाहरण देखिये :—

'खेती की शिक्षा"—एक सौ तीस पृष्ठों की ग्यारह अध्यायों में विभक्त यह एक पुस्तक है। यह 'खेती शिक्षण' नाम की मराठी पुस्तक का अनुवाद है। इसके प्रथम दो अध्यायों में ही उर्दू के शब्दों तथा वाक्यांशों का प्रयोग किस प्रकार किया गया है, देखिये :—बाग बगीचे, ताल्लुक, नजदीकी सम्बन्ध, वगैरा, मौजू, मददगार साबित होंगे, कुदरत, जिन्दगी गुजारनी, इम्तहानों, बेमजा, बेहद ताकतवर, खुदा की शान, जिन्दगी की अजमत, गुजरेगा, कुदरत के ये एलची, होशियारी, चीज में खूबसूरती, तरक्की जरूर होगी, गौर करने की ताकत, हासिल, वजह, बाक़ायादा सोचने का माद्दा पैदा होगा, बयान, ख्यालों को जाहिर करना, पाबन्दी, एहसास, मुसव्वरी, आवाज, बारीक, ज़्यादा मजबूत, खासकर, चूँकि ज्यादातर, कौमी फ़ायदा, शख्सी, कौमी निगाह, मुताबिक, दस्तकारी के जरिये, वक्त, मादरी ज़बान, नज्म, मुकद्दम धंदे, मजनूनों की तरह, जरूरी, शामिल, जमातों, मक़सूद, गुञ्जाइश, और हालात मुआफिक़ हों, तनख्वाह, पैदावार का सवाल, गुलामी, बदनाम, नसीब, बदकिस्मती, आजादी की तरफ़, तालीम, शानदार, खास पहलुओं, खास मरकज, सिर्फ़, ज़रूरी पहलुओं पर खास ध्यान, काम-

बोली में यही अन्तर होता है। किसी प्रदेश की साहित्यिक भाषा वही कहलाती है जिसमें उस प्रदेश की बोलियाँ अन्तर्निहित होती हैं। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। यदि यह इसी रूप में अधिक मनुष्यों की मातृ-भाषा नहीं है, तो उर्दू भी इसी रूप में अधिक मनुष्यों की मातृ भाषा नहीं है, यहाँ की हिन्दुस्तानी भी अधिक मनुष्यों की मातृ-भाषा नहीं है, कोई भी साहित्यिक हिन्दुस्तानी उसी रूप में अधिक मनुष्यों की मातृ-भाषा नहीं हो सकती, आधुनिक साहित्यिक बँगला भी उसी रूप में अधिक बंगालियों की मातृ-भाषा नहीं है, और आधुनिक साहित्यिक गुजराती, मराठी, तामिल या तेलगू भी उन्हीं लिखित रूपों में अधिक व्यक्तियों की मातृ-भाषायें नहीं हैं (और इन भाषाओं में भी हिन्दी की भाँति ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जो बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं, परन्तु उनके अन्य पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं, अर्थात् इन भाषाओं के भी लिखित रूपों और बोलचाल के रूपों में वही अन्तर है जो लिखित हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी में है, और जो सर्वत्र लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा में होता है), परन्तु इस कारण उन्हें कृत्रिम बताने का या उनमें अरबी फारसी का पुट देने का साहस किसी ने नहीं किया।

परिशिष्ट ४ पर टिप्पणी

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

वर्धा की हिन्दुस्तानी के पीछे जो मनोवृत्ति काम कर रही है वह तो ऊपर के लेख से प्रकट है ही, इस लेख से बिहार की हिन्दुस्तानी पर भी भरपूर प्रकाश पड़ता है। यह है बिहार जैसे हिन्दी प्रान्त की उस हिन्दुस्तानी का स्वरूप जो बिहारी जनता पर 'राष्ट्रीय सरकार' द्वारा लादी जा रही है और बिहारी बालकों के मस्तिष्क में प्रारम्भ से ही पैठाई जा रही है! देवनागरी पुस्तकों में हिन्दुस्तानी के नाम पर भाषा की जो दुर्दशा की गई है उससे अधिक आश्चर्य फारसी लिपि की पुस्तकों की भाषा देख कर होता है। इन उर्दू पुस्तकों मे हिन्दी के साधारण से साधारण देशज शब्द तक के लिये स्थान नहीं। उनके स्थान में भी ढूँढ ढूँढ कर अरबी फारसी शब्दों को ठूँसा गया है, और जहाँ यह सम्भव नहीं वहाँ अँगरेजी शब्द रक्खा गया है (जैसे 'अडीटर'—'सम्पादक' सह्य नहीं) और वस्तुतः क्रियाओं और विभक्तियों को छोड़ कर भाषा में कोई भी भारतीय तत्व न रहने दिया गया है। ऊपर से तुर्रा यह कि इस भाषा का नाम रक्खा गया है 'हिन्दुस्तानी' और उसे जनता की सरल भाषा कह कर लादा गया है बिहारी जनता पर जिसकी (हिन्दू या मुसलमान) मातृ-भाषायें भोजपुरी, मैथिली और मगाही हैं और जिसने अपनी वाणी विद्यापति ऐसे कवि से पाई है! यदि पंजाब, सिन्ध या सीमा-प्रान्त का मामला होता तो वहाँ तो बेशक स्कूलों की 'हिन्दुस्तानी' बनाई जाती उर्दू और पुस्तकों को देवनागरी लिपि में भी न

करने में संलग्न है। हिन्दी वालों को तनिक विस्तार से बताने की जरूरत है।

१. हिन्दुस्तानी आन्दोलन का एकतरफा स्वरूप

हिन्दुस्तानी आन्दोलन एकतरफा है। कहने के लिये तो हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी और उर्दू के साथ एक समान व्यवहार करना चाहते हैं, परन्तु सत्य कुछ और ही है। हिन्दी का—और केवल हिन्दी का—अस्तित्व ही मिटाया जा रहा है, उसे भारतीय भाषाओं की सूची में से ही निकाल बाहर किया जा रहा है। निम्नलिखित सत्यों पर गौर कीजिये—

१ कांग्रेस वाले अर्थात् सब हिन्दू अपनी राष्ट्रीयता दर्शाने के लिये 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् जबरदस्ती उर्दू शब्द मिला-मिला कर—कोई कोई सा शब्द, कोई कोई सा शब्द—बोलें, सब मुसलमान—लीगी या कांग्रेसी या नेशनलिस्ट—फिर भी शुद्ध उर्दू बोलें। विभिन्न प्रान्तों वाले अपनी अपनी प्रान्तीय भाषायें बोलें। 'हिन्दी' कोई नहीं बोले।

२. आन्ध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी अपनी सारी कार्रवाई तेलगू में करे, महाराष्ट्र कांग्रेस कमेटी मराठी में, पंजाब कांग्रेस कमेटी उर्दू में, युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, बिहार कांग्रेस कमेटी और मध्य-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी 'हिन्दुस्तानी' में। 'हिन्दी' में कार्रवाई कहीं नहीं।

३ विभिन्न प्रान्त अपनी अपनी प्रान्त-भाषा को राज-भाषा बनायें, पंजाब और सीमा-प्रान्त (जो कांग्रेस के ही अधिकार में है) जहाँ की मातृ-भाषा उर्दू नहीं है, उर्दू को राज-भाषा बनायें, हिन्दी प्रान्त अर्थात् युक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रान्त 'हिन्दुस्तानी' (और 'दोनों लिपि') को राज-भाषा बनायें। 'हिन्दी' कहीं की, किसी प्रान्त की राज-भाषा नहीं।

४ 'बुनियादी तालीम' (बेसिक एजूकेशन), 'नई तालीम', आदि वर्धा की शिक्षा-योजनाओं का माध्यम विभिन्न प्रांतों में हो विभिन्न प्रांतीय भाषायें, पंजाब में उर्दू, बिहार और मध्य-प्रान्त (विद्या-मन्दिर योजना) में 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि'। 'हिन्दी' माध्यम कहीं नहीं।

मे अधिक की भाषा हिन्दी है। इन प्रान्तों को हिन्दी को बनाये रखने की सजा दी जाती है। पजाब मे जाकर 'हिन्दुस्तानी' चलाने की फिक्र कोई नहीं करता। वहाँ तो उर्दू ही सबको 'हिन्दुस्तानी' होकर रहना चाहती है और कांग्रेस इससे सहमत है।

जहाँ एक ओर फारसी लिपि स्वय राष्ट्रीय सरकारो द्वारा प्रचलित की जा रही है, वहाँ दूसरी ओर बिहार और मध्य-प्रात में आदिवासियो, सथालो तथा अन्य पिछड़ी हुई और जगली जातियों मे मिशनरी रोमन लिपि का प्रचार कर रहे हैं जो उनके ईसाइत प्रचार का ही एक अग है, क्योंकि इस प्रकार वे इन लोगो को अनायास भारतीय सभ्यता और सस्कृति के प्रभाव से दूर ले जाते हैं। इन प्रान्तो मे रोमन लिपि की समस्या भीषण रूप धारण करने वाली है, और लिपि का एक और पाकिस्तान बनने वाला है। परन्तु राष्ट्रीय सरकार टुकुर-टुकुर देख ही नहीं रही है, रोमन लिपि के प्रचार मे सहायता दे रही है *। बृटिश सरकार चाहती है कि इस देश की भाषा बने उर्दू और लिपि हो रोमन। इसी रोमन उर्दू को वह सेना मे, सरकारी दफ्तरो मे, रेडियो, आदि मे प्रचारित कर रही है। इसी कारण बिहार और मध्य-प्रान्त मे ही नहीं, आसाम, बगाल, आदि मे भी पिछड़ी हुई जातियों मे और ट्राइबल एरियाज म जो स्वय वाइसराय के आधीन हैं रोमन लिपि का जोर शोर से प्रचार किया जा रहा है। इधर युक्त-प्रान्त की सरकार ने रोमन

* बिहार के पिछले कांग्रेसी मंत्रि-मडल के समय में बिहार प्रान्तीय निरक्षरता निवारण सघ ने सथाल बच्चों की पाठ्य पुस्तकें रोमन लिपि में छपाईं। संथाल परगना में रोमन लिपि प्रचार को सरकार से पूरी सहायता मिल रही है। इधर बिहार सरकार के शिक्षा विभाग ने एक सर्कुलर निकाल कर संथाली स्कूलों की आरंभिक कक्षाओं में रोमन लिपि को अनिवार्य कर दिया है। इस सब में डा० सैयद महमूद का हाथ प्रत्यक्ष है। उनकी राय मे जहाँ फारसी लिपि को अकेले या देवनागरी के साथ चलाना सभव नहीं, वहाँ रोमन लिपि का बखेड़ा खड़ा हो जाय तो अच्छा।

एक शब्द नहीं निकला। वह तो 'साम्प्रदायिकता' होती !) उनकी नई राष्ट्रीयता तो यह चाहती ही है कि हिन्दी की सुन्नत हो जाय जिससे 'हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य' स्थापित हो सके*। यदि सरकार ने 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू से अभिन्न मान लिया तो उस पर भी कांग्रेसवालों को कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि मुसलमान इस 'हिन्दुस्तानी' के साथ तभी तक हैं जब तक 'हिन्दुस्तानी' उर्दू का ही दूसरा नाम है, और जिस दिन 'हिन्दुस्तानी' उर्दू से कुछ भिन्न हुई उस दिन उनका हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तानीवाली राष्ट्रीयता का ढकोसला एक घंटा नहीं टिक सकेगा। उन्हें अपना ढकोसला अधिक प्रिय है, इसलिये कुछ नहीं बोलते। मुसलमान तो अति सन्तुष्ट हैं ही—चलो उर्दू की उर्दू रही और 'हिन्दुस्तानी' नाम के प्रताप से हिन्दी की जड़ ही कट गई। हिन्दुस्तानीवाले क्यों बोलें ? उनकी तो मनचीती ही होरही है न।×

---

* यह निश्चित है कि केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार भी इस व्यवस्था को नहीं बदलेगी। वह आज की भाँति इन्फर्मेशन फिल्म, न्यूज़ फ़िल्म, आदि का निर्माण भी प्रान्तीय भाषाओं और 'हिंदुस्तानी' में करेगी, हिंदी में नहीं। (देखिये उत्तर-परिशिष्ट २)

× यदि कोई हिंदुस्तानीवालों से पूछे कि हिंदुस्तानी कहाँ है, तो वे उत्तर देंगे, फिलहाल हिंदुस्तानी के दो प्रचलित रूप हैं—हिंदी और उर्दू, परन्तु वे रेडियो से यह कहने को तैयार नहीं कि वे दोनों प्रचलित रूपों में ख़बरें ब्राडकास्ट करे। वे रेडियो से यह कहने का भी कष्ट नहीं करते कि वह हमारी 'हिंदुस्तानी' में ही ब्राडकास्ट करे। हाँ, कभी कभी यह सोचकर कि कहीं हिंदीवाले 'हिन्दुस्तानी' से बेतरह न भड़क उठें श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल यह अवश्य कह देते हैं कि रेडियो की 'हिंदुस्तानी' उर्दू है। परन्तु क्या वे यह बताने का कष्ट करेंगे कि रेडियो की 'हिंदुस्तानी' में ऐसे शब्द कौन से हैं जो उनके 'हिंदुस्तानी अदब' (श्री श्रीमन्नारायण ने हाल में एक लेख में बताया है कि 'हिंदुस्तानी' के नमूने रखने के लिये वर्धा में हि. प्र सभा कुछ 'हिंदुस्तानी अदब' तैयार करा रही है) में नहीं हैं, अर्थात् रेडियो की 'हिंदुस्तानी' में प्रयुक्त होनेवाले ऐसे शब्द कौन से हैं जिन्हें वे गैर-हिन्दुस्तानी करार देंगे ?

गया है, मानों ये शब्द पहले सब शब्दों की अपेक्षा सरल हों, 'आमफहम' हों, लेकिन तब भी क्या दोनों लिपियों मे एक ही भाषा लिखी जा सकी? देवनागरी में 'क्रियाओं' है, उर्दू मे 'इफ़आल' है ('फेल' का बहुवचन 'फ़ेलों' हो जाता लेकिन तब तो वह हिन्दी व्याकरण के अनुसार होता!), देवनागरी में 'पुल्लिंग' है तो उर्दू मे 'मुजक्कर' है, देवनागरी में 'स्त्रीलिंग' है तो उर्दू मे 'मुवन्नस' है।

दूसरा उदाहरण लें—पृष्ठ १४ पर—"मुतकल्लम-हाजिर-गायब हालतों की मश्क फेले-हाल के मुजक्कर मुवन्नस की सूरतों में करा दी जाय।" दोनों लिपियों मे एक ही भाषा लिखने के इच्छुकों को देवनागरी में इसे यूँ लिखना पडता है—"उत्तम और मध्यम पुरुष की मश्क वर्तमान-काल के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के रूपों में करा दी जाय।" दोनों वाक्यों में एक 'मश्क' शब्द को छोड़कर कौन सा विशेष शब्द समान है? यदि हम 'अभ्यास' की जगह इस 'मश्क' शब्द को ही अपनी भाषा मे जगह दें और हिन्दुस्तानी की खातिर 'अभ्यास' को देश निकाला भी दे दें तब भी क्या इससे वह हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' हो जाती है?

अभी अभी दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा के १२वें-१३वें पदवी-दान के अवसर पर जनाब सैयद अब्दुल्ला बरेलवी साहब ने एक तकरीर फरमाई है। उसमे आपने दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा को नेक सलाह दी कि वह अपना नाम 'हिन्दी प्रचार सभा' न रखकर 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' में तबदील कर दे। आप फ़रमाते हैं—"हिन्दी नाम मे पैदा होने वाले भ्रम को हटाने के लिये मैं अपनी अपील पर जोर दूँगा, खास करके इसलिये कि मुझे यकीन है कि इस तबादले से मुसलमानों के मन पर अच्छा असर पडेगा।" कुछ लोग कहा करते हैं कि नाम मे क्या रक्खा है, लेकिन बरेलवी साहब नाम के तबादले से ही मुसलमानों के मन पर बड़ा अच्छा असर पैदा करने की उम्मीद करते हैं। आपने अपनी तकरीर में फ़रमाया है कि

देर के लिये रेडियो की हिन्दुस्तानी को छोड़ भी दिया जाय, तो क्या हिन्दुस्तानी वालों ने 'हिन्दुस्तानी' के स्वरूप के विषय में कोई सिद्धान्त निश्चित किया है, क्या उन्होंने अपनी नीति स्पष्ट की है ? नहीं। उनकी राय में प्रत्येक हिन्दी शब्द और प्रत्येक उर्दू शब्द 'हिन्दुस्तानी' है, कोई शब्द गैर-हिन्दुस्तानी नहीं, कोई शब्द ऐसा नहीं जो 'हिन्दुस्तानी' में न आ सकता हो। फिर 'हिन्दुस्तानी' क्या है ? कोई व्यक्ति यह तो कह नहीं सकता कि जैसी हिन्दुस्तानी मैं लिखता हूँ वही 'हिन्दुस्तानी है *। सिद्धांतों की अनुपस्थिति में कोई व्यक्ति अपनी हिन्दुस्तानी के नमूने में भाषा की सम्पूर्ण शब्दावली का रूप भी नहीं सकता जिससे टंटा मिट जाय। परन्तु 'हिन्दुस्तानी' चाहिये अभी ही। सरस्वती कब प्रकट होगी (और होगी भी या नहीं), कब जनता 'हिन्दुस्तानी' का एक सर्वमान्य, निश्चित स्वरूप स्थिर करेगी—यह सब तो भविष्य की बातें हैं, परन्तु 'राष्ट्र भाषा हिन्दुस्तानी है', यह नारा लगानेवालों को और अपनी राष्ट्रीयता का ढोल पीटनेवालों को विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त करने के लिये एक 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' चाहिये अभी ही। गांधीजी, मौलाना आजाद, प० नेहरू, प० गोविन्द वल्लभ पंत, श्रीमोहनलाल सक्सेना, आदि जैसी भी भाषा बोलें, उन सबको 'हिन्दुस्तानी' का नाम तो दे दिया, परन्तु इतने से काम नहीं चलता। सरकारी तौर से प्रयुक्त करने के लिये भी तो एक हिन्दुस्तानी चाहिये। सो इसके लिये हिन्दुस्तानी वालों ने एक अत्यन्त सरल और व्यावहारिक फार्मूला तैयार कर लिया। वह यह कि जहाँ पहले से उर्दू नहीं बैठी हुई

---

* इस मामले में हिन्दुस्तानी वाले गांधी जी की 'हिन्दुस्तानी' को भी आदर्श नहीं मान सकते। उन्हें गांधी जी का हिन्दुस्तानी-वाद प्रिय है, गांधी जी की 'हिन्दुस्तानी' नहीं। (और गांधी जी की हिन्दुस्तानी भी ऐसी इसलिये है कि उन्हें अभी तक यथेष्ट उर्दू आती ही नहीं। वे उर्दू सीख रहे हैं, अभी उसमें पारंगत नहीं हुये।)

श्रीआनन्द कौसल्यायनजी ने कहा—

"कल और आज मैंने जो भाषण सुने, उनसे मुझे आशा की बनिस्बत निराशा ही अधिक हुई।... 'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्दों से तो मेरे दिमाग से कुछ अर्थ निकलता है, मगर 'हिन्दुस्तानी' क्या चीज है ? ....मुख्य प्रश्न लिपि का है।.... मेरी समझ में नहीं आता कि एकता के नाम पर हम जो बात भाषा के नाम पर कहते हैं, वही लिपियों के बारे में क्यों न कहे ? एक भाषा की तरह एक लिपि का आग्रह हम क्यों न रक्खें ?"

श्रीसिद्धनाथजी पत ने कहा—

"लिपि के बारे में यह तय किया जाय कि जिसे जो लिपि पसन्द होजाय, उसे वह स्वीकार करे। दोनों लिपियाँ लाजिमी करने से फ़ायदा न होगा। ...'राष्ट्रभाषा एक, राष्ट्रलिपि अनेक' वाला नया नारा देश में काफ़ी गड़बड़ी करेगा। ...दक्षिण भारत में हमने पिछले २५-२६ वर्षों से देवनागरी के द्वारा प्रचार करते हुये बड़ी सफलता पाई है, और हम देवनागरी के देशव्यापी प्रचार के क़ायल हो गये हैं। इसलिये हमें देवनागरी के द्वारा हिन्दुस्तानी का प्रचार करने को आजादी मिलनी चाहिये।"

इस सम्मेलन में मौलाना सैयद सुलेमान नदवी डा० जाफ़र हसन, श्रीसत्यनारायण, डा० अब्दुल हक और डा० ताराचन्द के बड़े लम्बे चौड़े भाषण हुये, जिनमें उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा की जबरदस्त वकालत की।

इस सम्मेलन मे दो 'ठहराव' पास हुये थे। पहला ठहराव प० सुन्दरलाल ने पेश किया—

"इस कान्फरेन्स की राय में हिन्दुस्तानी जबान को फैलाने और तरक्की देने के लिये इस बात की जरूरत है कि हिन्दी जाननेवाले उर्दू लिखावट को और उर्दू जाननेवाले नागरी लिखावट को जल्दी से जल्दी सीख लें और जो लोग इन दोनों में से किसी को भी नहीं जानते, वह भी दोनों ही को सीखें, ताकि सब लोग हिन्दुस्तानी के रूपों—हिन्दी और उर्दू को—पढ़

प्रसिद्ध है, बदल देगी। रेडियो के सर्वेसर्वा श्री ए० एस० बोखारी के सहोदर भ्राता श्री जेड० ए० बोखारी ने (जो सेना की 'हिन्दुस्तानी' निर्मित करने के लिये नियुक्त हुये थे) भारतीय सेना की रोमन उर्दू का यथाविधि नामकरण 'रोमन हिन्दुस्तानी' कर दिया है, और अब यही नाम चलता है। यह सोचना केवल दुराशा है कि केन्द्र की राष्ट्रीय सरकार इस 'हिन्दुस्तानी' में या केन्द्र की सरकारी 'हिन्दुस्तानी' में कोई परिवर्तन करेगी। जिन्हें राष्ट्रीय सरकारों से बहुत आशा है, उनका स्वप्न भंग करना आवश्यक है। युक्त-प्रान्त के पिछले कांग्रेसी मंत्रिमंडल के समय में प्रान्तीय असेम्बली के एक सदस्य श्री चरणसिंह के एक प्रश्न के उत्तर में कांग्रेसी पार्लमेन्टरी सेक्रेटरी ने फरमाया (७ फरवरी, १६३६), "अदालती भाषा हिन्दुस्तानी है, और सरकार दोनों लिपियों को समान महत्व देगी', अर्थात् कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने अदालतों की भाषा में केवल इतना 'सुधार' किया कि उसका नाम जो अभी तक उर्दू था बदलकर 'हिन्दुस्तानी' रख दिया, और गर्व के साथ युक्त-प्रान्त में उर्दू लिपि को अनन्त काल तक देवनागरी के समान महत्व देने की स्पष्ट घोषणा करके अपनी राष्ट्रीयता, निष्पक्षता एवं न्याय-प्रियता का परिचय दिया। इन बातों में एक बड़ी गहरी चाल है। वह यह कि अगर नाम उर्दू रहेगा तो हिन्दी वाले माँग करेंगे कि हिन्दी क्यों नहीं, और इस प्रकार हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्रीयता खटाई में पड़ जायगी, बस चट से नाम 'हिन्दुस्तानी' धर दो, कट गई हिन्दी वालों की माँग की जड़। और भाषा? उसमें कोई परिवर्तन कैसे किया जा सकता है? मुसलमान जो रुष्ट हो जायँगे। और, हिन्दुओं में विरोध करने का साहस कहाँ। वे तो राष्ट्रीयता के शिकंजे में जकड़े हुये हैं (अगर कुछ कहे तो 'साम्प्रदायिक', 'तंग-खयाल' न घोषित किये जाँय?)। और फिर हिन्दू तो इस भाषा को अब तक सहन करते ही आ रहे हैं, उन्हें अधिक से अधिक यह मालूम पड़ेगा कि कोई परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु मुसलमान तो कहेंगे, 'यह हिन्दू राज है, हिन्दू रिवाइ-

परिशिष्ट ७

दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा किधर ?

(लेखक—रविशकर शुक्ल)

लगभग ३० वर्ष हुए, महात्मा गाधी ने एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव की। उन्हें हिन्दी और देवनागरी क्रमशः राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि होने योग्य जॅची। वे इस निष्कर्ष पर देश की भाषा-स्थिति पर निष्पक्ष भाव से विचार करके पहुँचे। उस समय आज जैसा साम्प्रदायिकता का दौर दौरा नहीं था। गाधीजी ने दक्षिण को उत्तर से राष्ट्र-भाषा के बन्धन में बॉधने के लिये दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य, जैसा कि इसके नाम से भी प्रकट है, दक्षिण भारत में राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी का प्रचार करना था। सभा अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल रही है। अपनी रजत जयन्ती के अवसर पर आज दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा अपनी जिन्दगी के पिछले २५ वर्षों पर सन्तोष भरी दृष्टि डाल सकती है। अब सभा की जिन्दगी का दूसरा दौर—हिन्दुस्तानी वाला दौर—आरम्भ होना चाहता है, अर्थात् सभा अब गाधीजी की नई परिभाषा के अनुसार दक्षिण में हिन्दी और उर्दू दोनो और देवनागरी और फ़ारसी लिपि दोनो का प्रचार करेगी, और राष्ट्र-भाषा सीखने के इच्छुक प्रत्येक दक्षिण-वासी को हिन्दी उर्दू दोनो और दोनों लिपियॉ सीखनी पड़ेंगी। इस दूसरे दौर के आरम्भ होने के अवसर पर सभा और हिन्दी के हितैषियो के विचार सभा के कार्य-कर्त्ताओ और सञ्चालको के सामने रखना अनुचित न होगा।

मुसलमानों को अप्रसन्न करने का साहस कर भी ले, परन्तु मौलाना आजाद, श्री आसफअली और श्री रफीअहमद किदवई से किस प्रकार निबटे? ये लोग न कहने लगेंगे, "क्यों, क्या यही तुम्हारी असलियत है?" कांग्रेस में होने का वे इतना लाभ भी न उठावें? पंजाब, सिन्ध, आदि में जो होना है सो तो 'लीगी' मुसलमान करते हैं, कांग्रेस को तो 'साम्प्रदायिक' न होना चाहिये। उसे तो 'नेशनलिस्ट' मुसलमानों का ध्यान रखना ही चाहिये। बस, यही उर्दू बहाल रहेगी, केवल नाम 'हिन्दुस्तानी' धर दिया जायगा जिससे सदा के लिये 'हिन्दी उर्दू का झगड़ा' खत्म हो जाय। सब जगह तर्क भी वही पं० सुन्दरलाल या पं० पंत वाले दिये जायँगे, अर्थात्, "कितने मुसलामान ऐसे हैं जो 'वादी', 'प्रतिवादी' समझते हैं, और कितने हिन्दू ऐसे हैं जो 'मुद्दई' 'मुद्दालह' नहीं समझते? रेडियो का ऐसा कौन हिन्दू सुनने वाला है जो सुनते सुनते 'आशायों', 'स्वामी' और 'नामानिगार' नहीं समझने लगा है, और ऐसे मुसलमान सुनने वाले कितने हैं जो 'दशमलव', 'राजनीतिक' और 'सम्वाद-दाता' समझ लेंगे? हिन्दी वालों की माँग 'साम्प्रदायिक' है, 'अराष्ट्रीय' है, फूट डालने वाली है, आदि।" चलो छुट्टी हुई। अब तक विदेशी सरकार ने उर्दू लाद रक्खी थी, किन्तु बड़ी बड़ी आशायें थीं कि राष्ट्रीय सरकारें इस अन्याय को दूर कर जनता की हिन्दी को प्रतिष्ठित करेंगी। अब राष्ट्रीय सरकारें ही उर्दू का नाम 'हिन्दुस्तानी' धर कर, उस पर 'राष्ट्रीयता' की छाप लगा कर उसे जमी रहने देंगी। बोलो 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' की जय!

कांग्रेस और हिन्दुस्तानी वालों की सरकारी नीति के अनुकरण पर और लोग भी ऐसा ही करते हैं। सब जगह लोग प्रायः यह प्रस्ताव करते

भाषा तेलगू होगी, और उसकी शिक्षा प्रत्येक हैदराबादी के लिये उसी प्रकार अनिवार्य होनी चाहिये जिस प्रकार बृटिश भारत में अँगरेज़ी की है। झट से उत्तर मिला, "क्या शुद्ध तेलगू, बिना मराठी, तामिल आदि मिलाये हुये?"

परिशिष्ट ८

महाराष्ट्र में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का संघर्ष क्यों ?

(लेखक—ग० स० आपटे)

पिछले दिनों महात्मा गांधी के पूना मे निवास करने तथा समय समय पर नेताओं के आगमन से राष्ट्रभाषा प्रचार कार्य मे कुछ सरगर्मी दिखाई देने लगी है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सचालित राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के हिन्दी प्रचार का कार्य यहाँ काफी अरसे से हो रहा है और पूना तो उसका एक गढ सा बन गया है। राष्ट्रभाषा प्रचार की शिक्षाओं मे महाराष्ट्र प्रात के काफी विद्यार्थी परीक्षा देते और उत्तीर्ण होते आये हैं। महाराष्ट्र के अच्छे से अच्छे विद्वानों का इस कार्य मे बराबर सहयोग रहा है, किन्तु जब से गाधी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अलग हुए हैं तब से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का भी काम यहाँ जोरों से शुरू हो गया है। महाराष्ट्र के कांग्रेस नेता श्री शकरराव देव तथा बबई के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री बी० जी० खेर, श्री दत्तो वामन पोद्दार, आदि नेता और विद्वान हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के काम मे पूरा सहयोग दे रहे हैं, इससे इस ओर काफी प्रगति दिखाई दे रही है। पहले तो हिन्दुस्तानी प्रचार का काम यहाँ एकदम ठप्प सा हो गया था क्योंकि अकेले काका साहब कालेलकर कहाँ तक इसका भार वहन कर सकते थे, किन्तु जब से उसे देश की कुछ महान् शक्तियों का बल मिला है तब से हिन्दुस्तानी प्रचार के काम में चेतना आई है। इसका यह मतलब नहीं है कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के काम मे किसी तरह की शिथिलता आ गई हो, किन्तु आज के वातावरण से यह

यह है उस हिन्दुस्तानी का स्वरूप जिसे राष्ट्रीय अथवा विदेशी, सरकारी, अर्ध सरकारी और गैर-सरकारी एजेन्सियों द्वारा हिन्दी प्रदेश पर बतौर मातृ-भाषा और प्रान्त-भाषा के और सारे देश पर बतौर राष्ट्र-भाषा के लादा जा रहा है। अरबी फारसी का जो रेला 'हिन्दी' नाम ने रोक रक्खा था, वह गांधीजी, हिन्दुस्तानी वालों और कांग्रेस द्वारा खोले हुये 'हिन्दुस्तानी' के फाटक में से आकर हिन्दी संस्कृति और हिन्दी भाषा को गर्क करना चाहता है।

हमने ऊपर देखा कि किस प्रकार हिन्दुस्तानी आन्दोलन और 'हिन्दुस्तानी' वाली राष्ट्रीयता हिन्दी को राष्ट्रीय और प्रान्तीय जीवन के प्रत्येक विभाग से जड़ सहित निकाल रही है। उसके स्थान में या तो ६० प्रतिशत उर्दू वाली 'हिन्दुस्तानी' है (उदाहरण, वर्धा की हिन्दुस्तानी, बिहार की हिन्दुस्तानी, युक्त-प्रान्त की हिन्दुस्तानी), या हिन्दुस्तानी नामधारी शुद्ध उर्दू है (उदाहरण, रेडियो, इन्फर्मेशन फिल्म्स, आदि की हिन्दुस्तानी)। उर्दू अपनी जगह पर वैसी ही स्थिर है। उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ है और न हो सकता है। यह 'कामन भाषा', 'राष्ट्र-भाषा' केवल हिन्दी को चट कर जाना चाहती है। यह है हिन्दुस्तानी आन्दोलन का सच्चा स्वरूप। जो मुसलमान इस आन्दोलन के साथ हैं, वे इसलिये हैं कि उनकी उर्दू

की शिक्षा अनिवार्य कर दी। शीघ्र ही वह सब सिन्धी हिन्दुओं के लिये भी अनिवार्य कर दी जायगी। यह हिन्दुस्तानी कैसी है, यह बताने की ज़रूरत नहीं। परन्तु मज़े की बात यह है कि सिन्ध सरकार ने इस हिन्दुस्तानी के लिये केवल उर्दू लिपि ठहराई। तर्क दिया, "क्योंकि यही लिपि सिन्धी लिपि से मिलती जुलती होने के कारण सिन्धियों के लिये सबसे सुगम है"। इस पर कांग्रेस वाले, हिन्दुस्तानी वाले सब चुप हैं। वे केवल बिहार में कैथी जाननेवाले बिहारियों के लिये या महाराष्ट्र में देवनागरी जानने वाले मराठियों के लिये हिन्दुस्तानी की लिपि केवल देवनागरी कभी न होने देंगे। वहाँ 'दोनों लिपि' अवश्य ठूँसी जायँगी।

अराष्ट्रीय हो गया ! उनकी हिन्दुस्तानी की परिभाषा भी 'कांग्रेस की परिभाषा' हो गई ! क्या जोशीजी बतलाने की कृपा करेंगे कि कांग्रेस ने किस प्रस्ताव में राष्ट्रभाषा की परिभाषा दी है, और क्या देश के पाकिस्तानी प्रान्त भी अब तक गांधी जी के कारण सम्मेलन को 'खिराज' देते रहे हैं और अब गांधी जी के हट जाने के कारण हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को खिराज देने लगे हैं ? क्या जोशी जी को विश्वास है कि हिन्दुस्तानी की परिभाषा को पाकिस्तानी प्रान्तों ने मान लिया है, अथवा क्या उनके 'सारे देश' में ये प्रान्त और ये लोग शामिल हैं ही नहीं ?

जोशी जी कहते हैं कि महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से सम्बन्ध नहीं है और उसकी परिभाषा भी अलग है। सम्बन्ध नहीं है तो हो जायगा। परिभाषा भी शीघ्र वही हो जायगी। इसीलिये तो वह सम्मेलन से अलग हुई है। परिभाषा में और पाठ्य-क्रम में परिवर्तन करते करते ही तो होगा। अभी तो पाठ आरम्भ हुआ है।

विभिन्न प्रान्तों की राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ अलग अलग होकर अलग अलग परिभाषा को मानकर चाहे जिस भाषा का अपने अपने प्रान्त में प्रचार करें, परन्तु वे उन्हे 'राष्ट्रभाषा' कैसे कह सकती हैं ? महाराष्ट्र की जोशी जी वाली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ही अपने आपको इस नाम से क्यों सम्बोधित करती है ? क्या उसे विश्वास है कि देश के हिन्दी प्रान्तों तथा अन्य प्रान्तों ने भी उसकी परिभाषा को मान लिया है ? जोशी जी के महाराष्ट्र ने यह कैसे समझ लिया कि हिन्दी प्रान्तों को अहिन्दी प्रान्त पर अपनी राष्ट्रभाषा लादने का अधिकार नहीं है लेकिन अहिन्दी प्रान्तों को हिन्दी प्रान्तों तथा अन्य प्रान्तों पर अपनी परिभाषा लादने का अधिकार है ?

हिन्दुस्तानी आन्दोलन से जो होना था सो हो रहा है। प्रत्येक प्रान्त की अलग अलग परिभाषा होगी, एक एक प्रान्त में दो-दो राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ हो जायँगी, और 'हिन्दुस्थान' की राष्ट्रभाषा खटाई में पड जायगी।

२. हिन्दुस्तानी वालों की कारगुजारी

यह तो सबको मालूम ही है कि नियमित हिन्दुस्तानी चक्र-प्रवर्तनम् गाधी जी के फरवरी, १९४५ में वर्धा में हुये 'हिंदुस्तानी प्रचार कान्फ्रेंस' से हुआ। इस कान्फ्रेन्स का कुछ हाल परिशिष्ट ६ से मिल सकता है। इस कान्फ्रेंस मे गाधीजी ने यह विश्वास दिलाया कि "हिन्दी साहित्य सम्मेलन के खिलाफ़ कुछ काम न होगा", परन्तु शीघ्र ही स्वयम् गाधीजी ने 'मुखालफ़त' का श्रीगणेश सम्मेलन से त्याग-पत्र देकर कर दिया। बस, हिन्दुस्तानी वालों को शह मिली, और उन्होंने अपना प्रथम कर्तव्य अपने प्रतिद्वन्द्वी सम्मेलन को धराशायी करना समझ लिया। बडे बड़े राष्ट्रकर्मी जो अब तक हिन्दी के प्रचारक और समर्थक थे रातो रात कलाबाजी खाकर हिन्दुस्तानी के प्रचारक और समर्थक हो गये, और हिन्दुस्तानी के प्रति अपने नये उत्साह मे हिन्दी के विरोधी भी हो गये। सबसे पहला हमला दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा पर हुआ जिसकी अगवानी स्वयम् गाधीजी ने की। जो सभा पिछले २५ वर्षों से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा और देवनागरी को राष्ट्र-लिपि मान कर दक्षिण मे हिन्दी और देवनागरी का प्रचार कर रही थी, २४ घटे के अन्दर अपनी २५ वर्ष पुरानी विचार-धारा त्यागने पर उतारू हो गई। अपनी रजत-जयन्ती के अवसर पर सभा ने अपने नये प्रोग्राम की नियमित घोषणा कर दी। इसी अवसर पर जयन्ती-समारोह के सभापति गाधीजी ने सभा को अपना पुराना नाम बदल कर 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' नाम धरने की सलाह दी। (श्रीयुत बरेलवी फूले न समाये होंगे!) हिन्दुस्तानी विचार-धारा के पीछे गाधीजी के अतिरिक्त लगभग आधे दर्जन व्यक्ति और हैं जिन्होंने देश पर हिन्दुस्तानी और दोनों लिपि लादने की जिद पकड़ ली है (इनमे प्रमुख हैं काका कालेलकर, प० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द)। जहाँ कहीं हिन्दुस्तानी की वकालत करने का मौका होता हैं, वहाँ ये सज्जन पहुँच जाते हैं और अपने विचारों से उपस्थित जनता को कृतार्थ करते हैं।

परिशिष्ट १०

महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा समस्या

(लेखक—श्रीगङ्गाधर इन्दूरकर)

" हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्यालय मन्त्री श्री श्रीपाद जोशी का एक पत्र 'देशदूत' के पिछले एक अक मे प्रकाशित हुआ था। उसमें जोशी जी ने महाराष्ट्र में इस समय होनेवाले राष्ट्रभाषा सम्बन्धी मतभेद की चर्चा करते हुये सम्मेलन को साम्प्रदायिकतापूर्ण कहने का प्रयत्न किया है। आपने जिस ढग से सम्मेलन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे उसके संबध में मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता। हाल ही मे मैं अपने निजी काम से पूना गया था। रास्ते में वर्धा मे भी रुका था। जब वर्धा में जोशीजी से मेरी मुलाकात हुई तब आपने कहा था कि हम लोगों ने अब यह निश्चय कर लिया है कि 'सम्मेलन साम्प्रदायिक संस्था है' इस बात का प्रचार किया जाय। क्या हम पूछ सकते हैं कि आप का यह निश्चय हिंदुस्तानी प्रचार सभा के किसी जिम्मेदार अधिकारी की अनुमति से हुआ है, या स्वय उनके दिमाग की उपज है? आपके इस निश्चय से आपके कथन को कितना महत्व दिया जाय यह सोचने की बात है।

महाराष्ट्र मे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की परीक्षाओं द्वारा राष्ट्रभाषा हिंदी का काफी प्रचार हुआ है। प्रति वर्ष केवल महाराष्ट्र से राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में लगभग १४-१५ हजार विद्यार्थी बैठते हैं। महाराष्ट्र के कार्यकर्ता हिंदी का काम सम्मेलन के ही विचारों के अनुसार करते हैं। महात्माजी के सम्मेलन से अलग होने के बाद भी महाराष्ट्र के लोग सम्मेलन के विचारों

महान विद्वान् पोतदारजी को मराठी की रक्षा के विषय में और महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों की राष्ट्रीयता की परिभाषा के विषय में कुछ गलतफहमी हुई हो, उनके लाभार्थ ३१-३-४६ के 'देशदूत' मे प्रकाशित श्रीसूर्यप्रकाश के एक लेख का कुछ अंश परिशिष्ट ११ मे दे दिया गया है। अस्तु, हिन्दुस्तानी वालों ने महाराष्ट्र से सम्मेलन को निकाल बाहर करने में कुछ कसरनहीं उठा रक्खी है।

अब तीसरे हमले का हाल सुनिये जो लेखक को मालूम हुआ है। अभी हाल में लेखक ने आसाम राष्ट्र भाषा प्रचार समिति के मंत्री श्रीकमलनारायण से एक पत्र लिखकर आसाम में हिन्दुस्तानी प्रचार का हाल पूछा था। उत्तर में उन्होंने लिखा कि आसाम की जनता हिन्दुस्तानी नहीं चाहती, वह हिन्दुस्तानी का विरोध भी करती है, परन्तु निष्क्रिय रूप से। उसके कुछ समय बाद लेखक ने उन्हें एक पत्र और लिखा। उसके उत्तर में श्रीकमलनारायण का जो पत्र आया (ता० १५-४-४६) वह आँखें खोलनेवाला है। उसका महत्वपूर्ण अंश निम्नलिखित है :

"काका साहब ने श्रीगोपीनाथ बरदले को ही अपना सिपहसालार बनाकर हमारी समिति पर बुरी तरह हिन्दुस्तानी का हमला चलाया। वे राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति को हिन्दुस्तानी के चंगुल में जकड़कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। बरदले उनके हाथों मे कठपुतली की तरह नाच रहे हैं। मेरे ऊपर राष्ट्रीयता के नाम पर तरह तरह के अत्याचार किये जा रहे हैं—फुसलाते हैं, धमकी भी देते हैं। काका साहब सरकार के साथ भी साँठ-गाँठ जोड़ चुके हैं। मैं—सिर्फ मैं—अड़ा हूँ, नहीं तो यहाँ कब को लुटिया डूब गई होती। मैंने आज ही पू० आनन्दजी को तार दिया है।...... वे सरकारी ताकत का भय दिखाकर मुझसे हिन्दुस्तानी जैसी बोगस बाँझ भाषा का समर्थन कराना चाहते हैं। काका कालेलकर के इस अन्याय का मुकाबला हमें करना ही होगा।......आप लोगों को मदद तो करनी ही है। कहिये किस तरह ? मौका आ गया है।"

अँगरेजी शब्द घुसते चले जा रहे हैं उस प्रकार जब हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी के प्रभाव के कारण मराठी मे उर्दू शब्दों का प्रवेश होगा, उस दिन पोतदारजी समझेंगे कि उन्होंने अपने हाथ से अपने पैर मे कुल्हाड़ी मारी। जब महाराष्ट्र के लोग हिन्दुस्तानी के नाते देवनागरी और उर्दू लिपि दोनो सीख जायँगे और महाराष्ट्र के मराठी भाषी मुसलमान उर्दू लिपि में मराठी लिखना आरम्भ करेंगे तब पोतदार जी के किये कुछ न होगा, और उनकी सन्तान उन्हीं को कोसेगी कि उन्होंने अपने हाथो हिन्दी-उर्दू का सा झगड़ा मराठी में उत्पन्न किया। पोतदार जी तथा मराठी के अन्य शुभचिन्तक भली भाँति सोच देखें जिससे उन्हे बाद मे पछताना न पडे। हम हिन्दी वाले मराठी की परमोन्नति चाहते हैं और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के कर्णधारों को यह चेतावनी देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। संस्कृत के द्वारा जिस प्रकार हमारे पुरखों ने राष्ट्र की भाषा-एकता तथा सांस्कृतिक एकता साधी थी, उसी प्रकार आज सम्मेलन हिन्दी द्वारा भाषा तथा संस्कृति-की एकता साधना चाहता है। यदि उनका यही विश्वास है कि राष्ट्र-भाषा के अत्यधिक प्रचार से मराठी को हानि पहुँचेगी, तो इसके लिये हिन्दी का बाना उतार कर हिन्दुस्तानी का बाना धारण करने की जरूरत नहीं, और देवनागरी के साथ उर्दू लिपि का प्रचार करने की जरूरत नहीं। वे सरल हिन्दी का प्रचार करें। वही ताँगे वालों की, और मजदूर किसानों की भाषा है। और देवनागरी तो वे मराठी की लिपि होने के कारण जानते ही हैं। यदि उनको उर्दू लिपि द्वारा विनाश का बीज बोना ही अभीष्ट है, तो उनकी इच्छा। इस लिपि-विभाजन के फल को हम हिन्दी वाले तो भोग ही रहे हैं, वे भी चख देखें।"

महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों के विषय मे क्या कहा जाय? प्रत्येक पत्र का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता है कि वह प्रत्येक घटना की खबर जनता को

कालेलकर आसाम गये और श्रीगोपीनाथ बरदले से मिलकर उन्होंने अपना चक्र चलाने का प्रयत्न किया। सीमा-प्रान्त में भी कांग्रेस सरकार है, परन्तु काका कालेलकर सीमा-प्रान्त जाकर डा० खान साहब के जरिये अपनी 'हिन्दुस्तानी' और देवनागरी का प्रचार कराने की बात कभी नहीं सोच सकते। वहाँ उन्हें क्या मिलना है! व्यवहार-कुशल और चतुर पठान एक भाषा और दो लिपियों के झाँसे में आ ही कैसे सकता है। यह गुण तो केवल हिन्दुओं में है कि राष्ट्रीयता में लपेटकर चाहे विष की गोली दे दो, वे निगल जायँगे। इसी कारण हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा की शाखायें भी पंजाब, सीमा प्रान्त और सिन्ध में नहीं, काशी, प्रयाग, बिहार, मध्य-प्रान्त, महाराष्ट्र और दक्षिण में स्थापित की जा रही हैं, और हिन्दू और हिन्दी प्रान्तों में ही हिन्दुओं के रुपये से हिन्दुओं द्वारा हिन्दुओं को उर्दू और उर्दू लिपि सिखाने का काम जोर शोर से हो रहा है। व्यवहार में हिन्दुस्तानी प्रचार केवल उर्दू और उर्दू लिपि का प्रचार है, क्योंकि जहाँ जहाँ हिन्दुस्तानी का जाल फैलाया जा रहा है वहाँ वहाँ हिन्दी और देवनागरी तो पहले ही से हैं—केवल 'पूरी राष्ट्रीयता' का सार्टीफिकेट लेने के लिये हिन्दी और देवनागरी जाननेवालों को उर्दू और फारसी लिपि सीखने के लिये उकसाया जा रहा है*। जहाँ जहाँ उर्दू और फारसी लिपि पहले से हैं

---

* नवम्बर, १९४९ में बम्बई में बिड़ला-भवन में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्यों को आदेश देते हुए गांधीजी ने स्पष्ट कहा, वैसे तो सभा का उद्देश्य हिन्दी और उर्दू दोनों ही का प्रचार करके राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी की स्थापना करना है, परन्तु जहाँ तक बम्बई, गुजरात और महाराष्ट्र, आदि प्रदेशों का सम्बन्ध है, नागरी लिपि का ज्ञान तो वहाँ के लोगों को है ही, इसलिये इन प्रदेशों में उर्दू लिपि के अनिवार्य प्रचार का कार्य ही हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्य-कर्त्ताओं के सामने प्रमुख रूप से आता है। यह है हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का वास्तविक, व्यावहारिक रूप और कार्य-क्रम, और यह है श्री ओमनारायण के इस कथन का अर्थ कि "गांधीजी का ज़ोर

हमारे इस प्रान्तीय सम्मेलन के द्वार पर आप सबने देखा होगा लिखा है 'जय हिन्द'। यह इस समय का हमारा राष्ट्रीय उद्घोष है। जिस प्रकार हम 'जय हिन्द' कहते हैं उसी प्रकार हमे 'जय हिन्दी' भी कहना चाहिये।

हम हिन्दी वाले वर्षों से प्रचार करते आये हैं कि चूँकि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है इसलिए प्रत्येक हिन्दी को, प्रत्येक भारतवासी को इसे सीखना चाहिये। इस नई विचार-धारा ने जिससे हमे सावधान रहना चाहिये कहना शुरू किया है कि हिन्दी हिन्दुओ की भाषा है और उर्दू मुसलमानो की। यह ठीक है कि हिन्दी हिन्दुओ की भी भाषा है किन्तु हिन्दुओं की ही नहीं—और इसी प्रकार उर्दू भी मुसलमानों की ही नहीं। सर तेजबहादुर सप्रू उर्दू के सुप्रसिद्ध समर्थक हैं। वे मुसलमान नहीं, काश्मीर के ब्राह्मण हैं। और अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू की मुख्य पत्रिका 'हमारी जबान' के सम्पादक भी श्री ब्रजमोहन दत्तात्रेय हैं। उर्दू लिपि मे आपका गोत्र ठीक ठीक लिखा ही नहीं जा सकता। कोई भी भाषा किसी धर्म की बपौती नहीं। जो लोग हिन्दी को हिन्दुओ की भाषा कहकर और उसी प्रकार उर्दू को मुसलमानों की भाषा कह कहकर हिन्दुस्तानी के द्वारा हिन्दू मुसलिम ऐक्य के सम्पादन की बात करते हैं, मुझे भय है कि इतिहास ऐसे लोगों को साम्प्रदायिकता के असाधारण प्रचारक न सिद्ध करे।

'हिन्दी' के राष्ट्रभाषा होने पर एक और आपत्ति उठाई जा रही है। उसके गुण को उसका दोष कहा जा रहा है। कहा जाता है कि ऐसी भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, जिसमे न संस्कृत के शब्द हो, न अरबी फारसी के। यदि हमारी राष्ट्रभाषा को वह सब काम करने हैं जो आज दिन हम अँगरेजी के माध्यम से करते हैं तो ऐसी भाषा जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हो न अरबी फारसी के, हमारे लिये तीन कौड़ी काम की भाषा होगी। हमें यह निर्णय करना ही होगा कि विशेष शब्द आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होने पर कहाँ से लें? स्याम मे बैंक को 'धनागार' कहते हैं और नोट को

इसका जिक्र पहले हो चुका है। कुछ हिन्दुस्तानी वाले साफ साफ ऐसा कहते हैं, और जो साफ़ साफ कहना नहीं चाहते (जैसे श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल) वे इशारे से कहते हैं। यह घोषणा करके कि हमारा कार्य-क्रम ही राष्ट्रीय है, हिन्दुस्तानी वाले अप्रत्यक्ष रूप से भी यह प्रदर्शित करते हैं कि जिनका कार्य-क्रम इससे भिन्न है वे अराष्ट्रीय हैं। उनका लक्ष्य सम्मेलन होता है *। यह नारा कि सम्मेलन अराष्ट्रीय है, गाधीजी के भक्त तभी से लगाने लगे हैं जब से गाधी जी ने सम्मेलन से त्याग-पत्र दिया। उसी दिन से सम्मेलन 'अराष्ट्रीय' हो गया (गांधीजी की बात क्यों नहीं मानी ? यह क्या कम अपराध है ?), इससे पहले उन्हा सिद्धान्तों के होते हुये वह परम राष्ट्रीय था। यह याद रखना चाहिये कि जब गाधीजी ने सम्मेलन से सहयोग करना आरम्भ किया, तब उन्होने कहा था, "हिन्दी का काम मेरा अपना काम है। हिन्दी से स्वराज्य प्राप्ति में सहायता मिलेगी"। वे काफी लम्बी अवधि तक सम्मेलन के सदस्य रहे, अर्थात् तब तक उन्हें सम्मेलन के सिद्धान्त मान्य थे। वे सम्मेलन के सभापति भी हुये। उन्होंने ही इस वाक्यांश को प्रचलित किया, "हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी"। उन्होंने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की। परन्तु विचार बदल जाने के कारण गाधीजी के सम्मेलन के त्याग-पत्र देते ही २४ घटे में सम्मेलन 'अराष्ट्रीय' हो गया ! (गाधीजी के भारत के विभाजन और पाकिस्तान के विषय में भी विचार बदले हैं, परन्तु जिनके नहीं बदले हैं वे क्या अराष्ट्रीय हैं ?) अस्तु, यहाँ सम्मेलन की राष्ट्रीयता प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। उसके लिये सम्मेलन के पिछले २५ वर्षों के सफल इतिहास की ओर इङ्गित करना यथेष्ट है। सम्मेलन के कारण हिन्दी का जो प्रचार हुआ है,

---

* अंजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू नहीं, जो उर्दू को राष्ट्र-भाषा मानता है। इस अंजुमन का कार्य ही तो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा 'हिन्दुस्तानी' नाम से कर रही है। केवल सम्मेलन को गालियाँ सुनाई जाती हैं।

परिशिष्ट १३

'हिन्दुस्तानी' का वेदान्त

(लेखक—श्री सूर्य प्रकाश एम० ए०)

'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों अथवा अर्ध-समर्थकों में एक दल ऐसे व्यक्तियों का है जो कल तक राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थक थे, हिन्दी और देवनागरी छोड़ कर हिन्दुस्तानी या उर्दू लिपि का नाम नहीं लेते थे, शुद्ध हिन्दी और देवनागरी का प्रचार करते थे, परन्तु जिनका हृदय उनके मस्तिष्क से अधिक बलवान था, और यदि उनका मस्तिष्क राष्ट्र और राष्ट्रीयता के साथ था तो हृदय गांधी के साथ था, और इस लिये जो आज अपने आप को हिन्दुस्तानी के कैम्प में खड़ा पाते हैं। परन्तु पुरानी आदतें जल्दी नहीं छूटतीं, और इसलिये वे अपने आप को नये बन्दोबस्त में फिट करने में जरा दिक्कत महसूस करते हैं—हृदय और मस्तिष्क के बीच में एक संघर्ष का अनुभव करते हैं। इस संघर्ष को शान्त करने के लिये, अपने अंतःकरण की आवाज को दबाने के लिये, अपने मन को संतोष देने के लिये अर्थात् अपने आप को धोखा देने के लिये उन्होंने एक 'हिन्दुस्तानी वेदांत' की सृष्टि कर ली है। इस वेदांत के अनुसार हिन्दी भी वही है, उर्दू भी वही है, हिन्दुस्तानी भी वही है—तीनों एक ही तत्व हैं अथवा एक ही ब्रह्म-तत्व के तीन नाम हैं, तीनों के उपासक एक ही गति को प्राप्त होते हैं, बस केवल आजकल हिन्दुस्तानी पूजा का अधिक माहात्म्य है और इस कारण उन्होंने अपने इष्ट-देवता (या आराध्य देवी ?) राष्ट्र भाषा का नाम भर 'हिंदुस्तानी' रख लिया है। इस दर्शन का दर्शन कीजिये—

हिन्दी पढ़ रहे थे या पढ़ना चाहते हैं। उन्होंने अपनी हिन्दुस्तानी लादने का प्रयत्न केवल महाराष्ट्र, दक्षिण, बंगाल, आसाम ऐसे प्रान्तों में ही किया जिनके निवासियों के लिये सबसे सरल हिन्दुस्तानी हिन्दी ही है और सबसे सुगम लिपि देवनागरी। यह 'राष्ट्रीयता' की कैसी परिभाषा है ? हिन्दुस्तानी वालों को चाहिये तो यह था कि वे परंपरागत हिन्दी का सौष्ठव नष्ट करने का प्रयत्न न करते, और हिन्दी और उर्दू दोनों से काम लेते। इसके बजाय उन्होंने हिन्दी उर्दू में सौदा पटाकर 'हिन्दुस्तानी' गढ़ी जो न हिन्दी वालों को पसन्द है और न उर्दू वालों को, और चूँकि उनका उद्देश्य मुसलमानों को पटाना था, उन्होंने धीरे धीरे हिन्दुस्तानी को उर्दू का ही दूसरा रूप बना दिया और हिन्दी के मूल पर कुठाराघात किया। यह हिन्दुस्तानी वालों के कार्यक्रम की बात हुई। अब उनके सिद्धान्तों को लीजिये। प्राचीन, बहु प्रचलित, स्वदेशी शब्दों को निकाल निकाल कर उनके स्थान में विदेशी शब्द भरना और उन्हें जनता पर लादना कहाँ की राष्ट्रीयता है ? जनता में प्रचलित अरबी फारसी शब्द तो हिन्दी ने ले ही लिये हैं। प्राचीन, बहु-प्रचलित, वैज्ञानिक स्वदेशी लिपि के होते हुये उसकी छाती पर एक विदेशी लिपि बैठाना और उसे जनता पर लादना कहाँ की राष्ट्रीयता है ? एक निरक्षर देश में जहाँ की ६० प्रतिशत जनता को अपनी मातृ-भाषा का ज्ञान भी नहीं, प्रत्येक के लिये दो राष्ट्र-भाषाओं (हिन्दी और उर्दू) और दो राष्ट्र-लिपियों का ज्ञान अनिवार्य करना कैसी राष्ट्र-सेवा है ? इससे तो केवल राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य और कठिन हो रहा है, व्यावहारिक कठिनाइयाँ बढ़ रही हैं और गुत्थियाँ और उलझ रही हैं। यहाँ एक उदाहरण देना असंगत न होगा। अखिल भारतीय संपादक सम्मेलन के पाँचवे अधिवेशन (फरवरी, १९४६) में एक सम्पादक ने प्रस्ताव पेश किया कि सम्मेलन की कार्रवाई 'हिन्दुस्तानी' में होनी चाहिये। सम्मेलन में बहुमत 'राष्ट्रीय' पत्रों के सम्पादकों का ही था, परन्तु प्रस्ताव

अन्त में शर्मा जी लिखते हैं, ''यही हिन्दी की खासियत है, उसका लोच है। वह काका जी की 'सबकी बोली' है, पू० बापू जी की हिन्दुस्तानी है, राष्ट्रपति आजाद साहब की कौमी जबान है और श्रद्धेय टंडन जी की राष्ट्रभाषा है'', अर्थात् हिन्दी भी वही है, उर्दू भी वही है (देखिये न 'लोच', 'कौमी' और 'ज़बान' वही तो दो शब्द हैं न जो 'राष्ट्र' और 'भाषा'— जरा अन्तर्दृष्टि से देखिये!), और हिन्दुस्तानी भी वही है। यह है शुद्ध 'हिन्दुस्तानी का वेदान्त' (अफसोस, इसे श्रद्धेय टंडन जी और राष्ट्रपति आजाद नहीं समझ पाते!)। इस वेदान्त की अन्तिम कड़ी शेष है— देवनागरी भी वही है, फ़ारसी लिपि भी वही है। धैर्य धारण कीजिये, इसको सिद्ध करने वाला शंकराचार्य भी शीघ्र प्रकट हो जायगा।

(अक्टूबर, १९४६ की 'सरस्वती' से)



भी 'हिन्दुस्तानी' के पत्र मे पढ लेता और समझ लेता ? स्पष्ट है कि यदि अँगरेजी का सफल विरोध करना है तो उसके बदले मे एक ऐसी भारतीय भाषा देनी पडेगी जिसका स्वरूप अँगरेजी की भाँति काश्मीर मे कन्या कुमारी तक और आसाम से सीमा-प्रान्त तक निश्चित और एक हो, और इस भाषा का ऐसा नाम रखना पडेगा जिससे भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक एक ही भाषा और उसके एक ही स्वरूप का बोध हो। यह भाषा 'हिन्दुस्तानी' नहीं है और चाहे जो हो।* अब प्रश्न यह होता है कि सम्मेलन में इस 'हिन्दुस्तानी' कार्रवाई का रिकार्ड स्टेनोग्राफर किस लिपि मे लेते, और सम्मेलन का अन्य कार्य किस लिपि में होता—देवनागरी मे या फारसी लिपि में ? (और क्या फारसी लिपि में सब 'हिन्दुस्तानियों' का लिखना सभव होता ?) इससे क्या यह स्पष्ट नहीं है कि अँगरेज़ी की अकेली लिपि रोमन की भाँति अँगरेजी की जगह लेनेवाली भारतीय भाषा की भी केवल एक लिपि देवनागरी हो† ? इन्दूरकरजी अपने लेख मे आगे लिखते हैं,

---

* जितने हिन्दुस्तानीवाले हैं उतने प्रकार की हिन्दुस्तानियाँ हैं और उतने ही प्रकार की हिन्दुस्तानियों की कल्पना है। किसी हिन्दुस्तानीवाले ने कोई सा हिन्दी शब्द बदलकर उर्दू शब्द रख दिया और किसी ने कोई सा। वस्तुत: यदि सम्पूर्ण हिन्दी कोष और सम्पूर्ण उर्दू कोष मिलाकर रख दिया जाय तो वही प्रचलित 'हिन्दुस्तानियों' का कोष कहलाने का दावा कर सकेगा। एक अखिल भारतीय सम्मेलन में ऐसी 'हिन्दुस्तानी' अँगरेज़ी को कैसे निकाल सकती है ?

† जिसमें रोमन की भाँति 'हिन्दुस्तानी' ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के समाचार, आदि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक भेजे जा सकें। अभी तो इस क्षेत्र से रोमन को निकाल कर एक भारतीय लिपि को ही प्रतिष्ठित करना कठिन मालूम होता है। दोनों लिपि कैसे प्रतिष्ठित होंगी ? अथवा क्या हिन्दुस्तानी वाले विदेशी भाषा अँगरेज़ी को तो अपदस्थ करना चाहते हैं किन्तु विदेशी लिपि रोमन को नहीं ?

है ? इससे कौन सी समस्या हल होती है ? हिन्दुस्तानी वाले स्वीकार करें या न करें, परन्तु इसमें सन्देह करने की अब कोई गुंजाइश नहीं रही कि 'हिन्दुस्तानी' का उद्देश्य राजनीतिक दृष्टि से भाषा में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को घुसेड़ कर मुसलमानों को खुश करना है। परन्तु अफ़सोस ! यह उद्देश्य भी सफल नहीं हुआ, क्योंकि मुसलमान 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' को भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। शायद अब १०० में ७५ शब्द उर्दू के रक्खे जायँ !——और फिर पूरे १०० !!

'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' में प्रायः हिन्दी शब्दों के आगे कोष्ठकों में उनके उर्दू पर्याय, और उर्दू शब्दों के आगे कोष्ठकों में उनके हिन्दी पर्याय दिये जाते हैं। इस प्रकार शब्दों के जोड़े दे कर हिन्दुस्तानी वालों ने स्वयं सिद्ध कर दिया है कि 'हिन्दुस्तानी' कोई अलग चीज नहीं, ऐसी कोई भाषा नहीं जो हिन्दी और उर्दू दोनों से भिन्न हो और सबकी समझ में आती हो, और 'हिन्दुस्तानी' कोई भाषा नहीं, वह हिन्दी और उर्दू सिखाने का सबक भले ही हो। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुस्तान में 'एतकाद' 'तहरीक' और 'कफ्फारा' जैसे शब्दों को कोषों में से छाँट-छाँट कर फिर उन्हें उनके पुराने, प्रचलित स्वदेशी पर्यायों द्वारा सिखाने का नाम ही 'राष्ट्रीयता' है।

गांधीजी ने 'उत्तर की बोलचाल' का हवाला दिया। दक्षिण की बोलचाल क्यों छोड़ दी ? उत्तर में भी बंगाल और आसाम को क्यों छोड़ दिया ? कौन सी भारतीय भाषा का ऐसा कौनसा शब्द है जो भारत के किसी न किसी भाग की बोलचाल में घर न कर चुका हो ? फिर भारत की राष्ट्र-भाषा में सब शब्दों को समान स्थान क्यों नहीं दिया जाता ? केवल 'हिन्दी शब्द' और 'उर्दू शब्द' ही क्यों ? कोष्ठक में केवल हिन्दी या उर्दू पर्याय ही क्यों दिया जाता है, सभी भारतीय पर्याय (जिनमें द्रविड़ पर्याय भी शामिल हैं) और अँगरेजी पर्याय भी (क्योंकि लाखों भारतीय, उत्तर में भी और दक्षिण

के लिये अकेली हिन्दी ही बोलना और सीखना कितना कठिन है। यू० पी० में दस साल रहने के बाद भी श्रीरामा राव जैसे शिक्षित व्यक्ति केवल उतनी ही हिन्दी सीख सके जितनी उन्होंने यू० पी० के बाजारों और गलियों में सुनी, और वह भी टूटी फूटी। अहिन्दियों को राष्ट्र-भाषा के बंधन में बाँधने के लिये और उन्हें राष्ट्र-भाषा सीखने की प्रेरणा देने के लिये उन पर हिन्दी उर्दू दोनों या अपरिचित शब्दों से लदी हुई हिन्दुस्तानी, और दो लिपियाँ जिनमें से एक उनके लिये नितांत अपरिचित है, लादना ज्यादा अच्छा होगा या केवल हिन्दी और देवनागरी * ? फिर इदूरकरजी लिखते हैं, "हिन्दुस्तानी परिपूर्ण भाषा नहीं है, यह तर्क भी उपस्थित किया गया"। इस तर्क में क्या अनुचित है ? साहित्य और समृद्धि की दृष्टि से अँगरेजी का मुकाबला बेचारी हिन्दी भी नहीं कर सकती, हिन्दुस्तानी की जिसके साहित्य की कौन कहे, स्वरूप की भी रूप रेखा तैयार नहीं हुई है, क्या बिसात है। अँगरेजी को निकालने के लिये अँगरेजी के समान समृद्ध भाषा देनी ही पड़ेगी। सोचना यह है कि अँगरेजी का मुकाबला थोड़ी बहुत सफलता के साथ ही हिन्दी कर सकती है या 'न अरबी फारसी न संस्कृत' वाली 'हिन्दुस्तानी' ? इन सब बातों के कारण यदि सम्पादक सम्मेलन के सभापति श्री तुषार कान्ति घोष ने कहा कि प्रस्ताव अव्यावहारिक है, वापस लिया जाय, तो अनुचित तो नहीं कहा। यह कदापि नहीं माना जा सकता कि सम्मेलन में 'राष्ट्रीयता' केवल प्रस्तावक और समर्थकों के पल्ले पड़ी थी, और शेष

---

* जब मदरास के पिछले मंत्रि-मंडल ने स्कूलों में 'हिन्दुस्तानी' का विषय अनिवार्य किया तब उसी के विरुद्ध मदरासियों ने कठोर सत्याग्रह किया। वह हिन्दुस्तानी वर्धा की वर्त्तमान हिन्दुस्तानी की अपेक्षा हिन्दी अर्थात् तामिल और तेलगू के अधिक निकट थी। अब यदि वर्धा की हिन्दुस्तानी और दोनों लिपियाँ अनिवार्य की गईं, तो इसका मदरास में और भी तीव्र विरोध होगा, इसमें संदेह नहीं। इस हिन्दुस्तानी-वाद से क्या राष्ट्र का हित होगा ?

परिशिष्ट १५

हिन्दुस्तानी का उद्गम

(लेखक—प० रामचन्द्र शुक्ल)

साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखड परपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अतर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा मे और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास मे कालगत विभिन्नताओ के रहते हुए भी यहॉ से वहॉ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। जब कि साहित्य व्यक्त वाणी या वाग्विभूति का सचित भडार है तब पहले भाषा ही पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। व्यक्त वाणी का यह सचय असभ्य जातियो में तो केवल मौखिक रहता है, पर सभ्य जातियो में पुस्तको के भीतर हिफाजत के साथ बद रखा जाता है। मौखिक अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता, पर पुस्तकस्थ होकर हजारो वर्ष तक चला चलता है।

साहित्य की अखंड दीर्घ परपरा सभ्यता का लक्षण है। यह परपरा शब्द की भी होती है और अर्थ की भी। शब्द परपरा भाषा को स्वरूप देती है और अर्थ परपरा साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। ये दोनों परपराऍ अभिन्न होती हैं। इन्हे एक ही परपरा के दो पक्ष समझिए। किसी देश की शब्द-परपरा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चलकर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है। कुछ काल तक लगातार चलते रहने से शब्द-परपरा या भाषा को भी एक विशेष स्वरूप प्राप्त हो जाता है

को केवल मुसलमानों की। 'हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की', यह प्रचार करके साम्प्रदायिकता तो हिन्दुस्तानी वाले फैला रहे हैं (देखिये परिशिष्ट १२)। वे शायद समझते हैं कि ऐसा करने से उनकी हिन्दुस्तानी की दीनइलाही के लिये रास्ता साफ़ हो जायगा। वे अपनी 'हिन्दुस्तानी' को आगे ठेलने के लिये हिन्दी और उर्दू को केवल साम्प्रदायिक भाषायें ही घोषित नहीं करते हैं, वरन हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे के समकक्ष रख देते हैं। जिस प्रकार राष्ट्रवादियों के लिये यह फैशन हो गया है कि वे अपनी राष्ट्रीयता और निष्पक्षता प्रदर्शित करने के लिये एक ही साँस में मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा को कोसें, दोनों को एक समान साम्प्रदायिक संस्थायें घोषित करें, उसी प्रकार हिन्दुस्तानीवाले अपनी हिन्दुस्तानी के गुणों का बखान करने के लिये संस्कृत-निष्ठ हिन्दुस्तानी या हिन्दी और फारसी-निष्ठ हिन्दुस्तानी या उर्दू को एक ही साँस में कोसते हैं, और दोनों को एक समान साम्प्रदायिक करार देते हैं। जिस प्रकार कांग्रेसी राष्ट्रवादियों को भारत को एक अखण्ड देश और भारतीयों को एक अखंड राष्ट्र माननेवाली हिन्दू महासभा और भारत के टुकड़े टुकड़े चाहनेवाली और भारतीयों को दो राष्ट्र मानने वाली मुस्लिम लीग में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी वालों को मुसलमानों के आगमन से भी पुरानी अपनी संस्कृत-निष्ठ परंपरा पर आरूढ़ और अन्य भारतीय भाषाओं के समान संस्कृत-निष्ठ हिन्दी में, और जबर्दस्ती स्वदेशी शब्द निकाल निकाल कर अस्वाभाविक रूप से फारसी-निष्ठ की हुई हिन्दी अर्थात् उर्दू में कोई अन्तर नहीं दीखता। उनके लिये हिन्दी उर्दू दोनों एक समान दोषी हैं, और निर्दोष है उनकी ९५ प्रतिशत फारसी और ५ प्रतिशत संस्कृत वाली हिन्दुस्तानी (जो विभिन्न राष्ट्रीय प्रकरणों में चल रही है)। उनके लिये यह कहना फैशन हो गया है कि हिन्दुस्तानी वास्तव में पहले एक थी (कैसी थी यह नहीं बताया जाता), और बाद में एक ओर उसे हिंदुओं ने

भी थी, जिसमें बहुत चलते संस्कृत शब्दों के साथ-साथ ठेठ घरेलू शब्द भी रहते थे।

यह तो हुई कविता और साहित्य की बात। सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि सर्वसाधारण मुसलमान जनता में इसलाम के धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिये चार सौ वर्ष पहले जिस भाषा का प्रयोग वे अपनी किताबों में करते थे, उसमें यहाँ के धार्मिक और दार्शनिक पुस्तकों में आनेवाले इंद्रिय, विकार आदि शब्द तक भी कभी-कभी लाते थे—

(१) सराहना नेवाजना खुदा को बहुत कि वो पालनहारा है आलम का (शरह मरग़ूबुल कलूब-शाह मीराँजी बीजापुरी सन् १४६५ के पहले)।

(२) सवाल—यह तन अलाधा (अलहद.) बल्कि सततर (स्वतंत्र) विकार रूप दिखता है। एक तिल क़रार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ, जाहिर तन के फेल से गुजरया व नातिन करतब विषे ? दूसरा तन सो भी कि इस इन्द्रियन का विकार व चेष्टा करनहारा.. सुख-दुख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन .. । यह तन फ़हम सूँ गुज़रया तो गुन उसका क्यों रहे ?

(कलामतुल हक़ायक, शाह बुरहानुद्दीन बीजापुरी सन् १५८२)

उर्दू के इतिहास-लेखक उर्दू का उत्थान बीजापुर और गोलकुंडा की दक्खिनी रियासतों से मानते हैं। वहाँ शीया मुसलमानों की अधिक बस्ती थी। इससे इमाम हुसैन की कथा को लेकर दक्खिनी उर्दू के कवियों ने कई मसनवियों या प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। इनमें से एक का नाम है 'करबल-कथा' (करबला की कथा)। यह 'कथा' शब्द भला आजकल उर्दू में कभी जगह पा सकता है ? श्रृङ्गार की प्रेम-कहानियों की रचना भी दक्खिनी उर्दू में बहुत कुछ हुई है। जैसे 'वजही' की 'मसनवी कुतुब-मुश्तरी' जिसकी पद्य-रचना का रूप देखिए—

हो जायँ—एक हिन्दुओं की और एक मुसलमानों की। इस साम्प्रदायिक कुपरिणाम का कुल उत्तरदायित्व हिन्दुस्तानी वालों पर होगा, 'साम्प्रदायिक' घोषित किये जाने वाले सम्मेलन पर नहीं।

(३) हिन्दी और हिन्दुस्तानी एक ही चीज हैं।

यदि ऐसा है, तो यह सब हिन्दुस्तानी की हाय तोबा क्या केवल नाम बदलने के लिये है? वास्तविकता तो यह है कि हिन्दुस्तानी हिन्दी नहीं है, इसीलिये हिन्दुस्तानी की रट लगाई जा रही है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी नहीं हो सकती (और राष्ट्र लिपि देवनागरी नहीं हो सकती), यह प्रदर्शित करने के लिये ही 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी है', यह नारा लगाया जा रहा है। 'हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी' को गांधी जी ने अब छोड़ दिया है (देखिये परिशिष्ट १२)। 'जीवन-साहित्य' में एक सम्पादकीय लेख में श्री हरिभाऊ उपाध्याय राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी का समर्थन करते हुये लिखते हैं, "हिन्दी या हिन्दुस्तानी दोनों का एक ही मतलब है। जो माने आज हिन्दुस्तानी के किये जाते हैं वही किसी दिन हिन्दी के किये जाते थे। लेकिन आज, अगर हिन्दुस्तानी के नाम में ज्यादा सहूलियत है तो उसे मान लेने में क्या बुराई है?" इस पर श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने ठीक ही आलोचना की है, "क्या सचमुच हिन्दी के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' स्वीकार करना नाम मात्र का ही परिवर्त्तन है? क्या यह केवल सहूलियत की ही बात है? आपने हिन्दुस्तानी पक्ष का जिस ढंग से समर्थन किया है, हमें सन्देह है कि स्वयं महात्मा जी को उस पर आपत्ति न हो"। वास्तव में बात यह है कि जो हिन्दुस्तानी वाले 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी एक ही चीज हैं' का मंत्र पढ़ते हैं, वे या तो हिन्दी वालों की अकल बहुत कम कूतते हैं जो वे यह समझते हैं कि इस प्रकार हिन्दीवाले हिन्दुस्तानी के जाल में फँस जायँगे या वे मुसलमानों की अकल बहुत कम कूतते हैं जो वे यह समझते हैं कि वे हिन्दी का नाम हिन्दुस्तानी रख कर उसे मुसलमानों से राष्ट्र भाषा के रूप में

सौदा की हिन्दी गजल—

निकल के चौखट से घर की प्यारे जो पट की ओझल ठिठक रहा है,
सिमट के घट से तेरे दरस को नयन में जी आ अटक रहा है।
अगिन ने तेरे विरह की जब से झुलस दिया है कलेजा मेरा,
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ यूँ कोयला सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा है,
पड़ा वो सावत मन मे जिसके बिरह का काँटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूँ,
य क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छुटक रहा है।
हिलोरी यों लेती ओस की बूँद लग के फूलों की पखड़ी से,
तुम्हारे कानों मे जिस तरह से हर एक मोती लटक रहा है।
कहीं जो लग चलने साथ देता हो इस तरह का कटर है पापी,
न जानूँ पेड़ी की धूल मैं हूँ जो मुझ से मुल्ला झटक रहा है।
कभू लगा है न आते जाते जो बैठकर टुक इसे निकालूँ,
सजन, जो काँटा है तुझ गली का सो पग में मेरे भटक रहा है।
कोई जो मुझसे य पूछता होय क्यों तू रोता है कह तो हमसे,
हर एक आँसू मेरे नयन का जगह जगह सिर पटक रहा है।
गुनी हो कैसा ही ध्यान जिसका तेरे गुनों से लगा है प्यारे,
ग्यान परबत भी है जो उसका तो छोड़ उसको सटक रहा है।
जो बाट मिलने की होय उसका पता बता दो मुझे मिरीजन,
तुम्हारी बटियों में आज बरसों से यह बटोही भटक रहा है।
जो मैंने 'सौदा' से जाके पूछा तुझे कुछ अपने भी मन की सुधबुध,
य रोके मुझसे कहा किसी की लटक मे लट की लटक रहा है।

सौदा के हिन्दी दोहे—

कारी रैन डरावनी, घर तें होई निरास।

अभी हाल में बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १६वें अधि-वेशन के अवसर पर राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के विषय में भाषण करते हुये बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने कई भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली बातें कही हैं। उन्होंने पहले कहा*, "मैं इस बात को मानता हूँ कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्र-भाषा है" (शायद 'हिन्दी' से उनका मतलब 'खड़ी बोली' से था), और फिर उन्होंने हिन्दी को तीन वर्गों में बाँटा—(१) साहित्य की भाषा, (२) समाचार पत्रों की भाषा, (३) बोलचाल की भाषा। उन्होंने कहा कि समा-चार पत्रों की भाषा उच्च साहित्य की भाषा से भिन्न होती है, और बोलचाल की भाषा एक तीसरे प्रकार की होती है, और अहिन्दी प्रान्तों में इसी तीसरी कोटि की भाषा राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचारित होगी। इस बोलचाल की भाषा को ही वे 'हिन्दुस्तानी' नाम से पुकारना चाहते हैं। इस प्रकार बाबू राजेन्द्र-प्रसाद ने घुमा फिरा कर यही कहा कि हिन्दुस्तानी हिन्दी ही है। परन्तु जिन तीन कोटियों में उन्होंने हिन्दी को विभाजित किया, क्या वे केवल हिन्दी भाषा की विशेषतायें हैं? विलायत के बाजारों में जो अँगरेजी बोली जाती है उसी में विलायत के अखबार नहीं छपते, और शेक्सपियर तथा मिल्टन ने उसी अँगरेजी में नहीं लिखा जिसमें अँगरेजी पत्र छपते हैं, परन्तु क्या इस कारण किसी ने अँगरेजी को आधो दर्जन कोटियों में विभा-जित किया अथवा क्या उनके भिन्न भिन्न नाम रक्खे? अँगरेजी बस अँगरेजी है। उसी प्रकार हिन्दी बस हिन्दी है और उसे विभिन्न कोटियों में नहीं बाँटा जा सकता, और न किसी कोटि की हिन्दी का 'हिन्दी' से भिन्न कोई नाम रक्खा जा सकता है। प्रत्येक भाषा में विषय और पाठकों

का सत्य हिन्दुस्तानी वालों को न रुचेगा। भाषा के मामले में उनका युग-धर्म 'हिन्दुस्तानी' की त्रिवेणी खोद कर प्रकट करना है।

* देखिये अप्रैल, १९४६ की 'राष्ट्र-भाषा' और अप्रैल, १९४६ की 'सरस्वती'।

होगी। मुहम्मदशाह के समय तक इस नई गढी हुई भाषा का, जो पीछे उर्दू कहलाई, साहित्य-रचना के लिये प्रचार न हो सका था, इसका आभास हिंदी के सूफ़ी कवि नूरमुहम्मद ने अपनी उस पुस्तक में दिया है जो उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इंद्रावती' के पीछे लिखी। पुस्तक का नाम है 'अनुराग-बाँसुरी'।* नूरमुहम्मद के समय से मुसलमान देश की प्रचलित भाषा, हिंदी से किनारा खींचने लगे थे और मुसलमानों के लिये फ़ारसी में रचना करना ही जायज समझने लगे थे। 'इंद्रावती' लिखने पर उन्हें उनके मुसलमान भाइयों ने यह कहकर फटकारना शुरू किया कि 'तुम मुसलमान होकर हिंदी में क्यों लिखने गए।" इसी से बेचारे को 'अनुराग-बाँसुरी' मे अपनी सफाई इन शब्दों में देनी पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिंदू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिंदी भाखेउँ ॥

जिसे उर्दू कहते हैं उसका उस समय साहित्य में कोई स्थान न था, यह नूरमुहम्मद के इस कथन से साफ झलकता है—

† कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिंदी भाखै पर आवा ॥
छाँडि पारसी कंद न बातैं। अरुझाना हिंदी-रस-बातैं ॥

जनता से अपने को बिल्कुल अलग दिखाने के लिये मुसलमानों ने ही अपने लिये विदेशी ढाँचे की एक अलग भाषा और साहित्य खड़ा किया, यह इतनी प्रत्यक्ष बात है कि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। उर्दू की प्राचीनता दिखाने के लिये दक्खिनी शायरों की जो लंबी सूची सामने लाई गई है उसमें कोई हिंदू भी है? शायद एक या दो। और जाने दीजिये, 'आबे हयात' ही उठा लीजिये। उसमें सब के सब शायर मुसलमान ही तो हैं। अब और सबूत क्या चाहिए? इतने पर भी न जाने किस मुँह से यह

---

* यह पुस्तक अप्रकाशित है।

† नूरमुहम्मद फारसी की रचनाओं में अपना तखल्लुस 'कामयाब' रखते थे।

प्रमाण यह भी है कि श्रीहरिभाऊ उपाध्याय ने तो लिपि के मामले का जिक्र भी किया, परन्तु कुशल राजनीतिज्ञ डा० राजेन्द्रप्रसाद ने अपने भाषण में

भागों में समझी जानेवाली एक सरल राष्ट्र-भाषा का निर्माण किया जाय।" वास्तव में भाषा-निर्माण ही तो हिन्दुस्तानी वालों का पेशा है—भाषा स्वयं बनती है यह तो कभी कभी कहने की बात है। इसीलिये वर्धा की हिन्दुस्तानी-गढ़-कमेटी, बिहार की हिन्दुस्तानी-गढ़ कमेटी, आदि हिन्दुस्तानी वालों ने स्वयं स्थापित की हैं, और इसीलिये वे रेडियो की हिन्दुस्तानी-गढ़-कमेटी में विराज रहे हैं। और चूँकि 'स्वयभू' राष्ट्र-लिपि नहीं हो सकती, इसलिये बगाल. पजाब (?), मद्रास, आदि देश के विभिन्न भागों में सबके गले के नीचे दो लिपियाँ उतारी जा रही हैं। (२) उन्होंने कहा कि अगर मैं हिन्दुस्तानी का पक्षपाती हूँ तो मेरी हिंदुस्तानी का स्वरूप कठिन दुरूह उर्दू नहीं और न कठिन सस्कृतमयी हिंदी है। परन्तु क्या विशेषण 'कठिन' हटा देने से उर्दू उर्दू नहीं रहेगी और हिंदी हिंदी नहीं रहेगी और दोनों एक चीज़ 'हिंदुस्तानी' हो जायँगी, अथवा क्या इस विशेषण के न रहने से उर्दू अफारसीमयी और हिंदी असस्कृतमयी होजायगी? सीधी सी बात तो यह है कि उनकी हिंदुस्तानी है $\frac{\text{हिंदी}+\text{उर्दू}}{२}$। (३) "राष्ट्र-भाषा का सुगम होना ज़रूरी है। दुरूह और कठिन हिन्दी को मैं हिन्दुस्तानी नहीं मानता"। हम तो दुरूह और अनावश्यक रूप से कठिन हिंदी को केवल ख़राब हिंदी मानते हैं। 'साहित्य' के स्थान में 'अदब' और 'राजनीति' के स्थान में 'स्यासत' धर देने से कठिन और दुरूह हिन्दी सरल राष्ट्र-भाषा थोड़े ही हो जायगी। कठिन और सरल हिंदी के बीच में कहीं रेखा तो नहीं खींची जा सकती, फिर भी क्या जैसी हिंदी वे चाहते हैं, उसे वे हिन्दी के पहले विशेषण 'सरल' लगाकर नहीं पुकार सकते! 'हिन्दुस्तानी' नाम धरके क्यों भ्रांति और झगड़ा पैदा करते हैं? जो कुछ भी हो, जैसी हिन्दी को वे 'हिन्दुस्तानी' पुकारना चाहते हैं, क्या उसी को मुसलमान स्वीकार करने को तैयार हैं? (४) "तेलगू और फ्रांटियर के भाई भी जिसे समझ सकें वही भाषा राष्ट्र-भाषा है। साहित्य सम्मेलन की ओर से इस राष्ट्र-भाषा का जब विरोध होता है तो मुझे बड़ा अफ़सोस होता है"। यदि कोई ऐसी राष्ट्र-भाषा होती तो झगड़ा ही क्यों होता? मद्रास और

परिशिष्ट १६

युक्त-प्रान्त की अदालतों की भाषा

(लेखक—रविशकर शुक्ल)

कुछ दिन हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय की इँगलिश लिटरेरी सोसाइटी के सामने भाषण करते हुये युक्त-प्रान्त के न्याय-मन्त्री डा० काटजू ने कहा, "If I had the power to enact laws I would prohibit the use of even a syllable of English in the Courts." ("यदि मेरे हाथ में कानून बनाने की शक्ति हो तो मै अदालतों मे अँगरेजी के एक शब्दाश के भी प्रयोग का निषेध कर दूँ।") यदि यह शक्ति अभी उनके हाथ मे नहीं है तो शीघ्र ही आने वाली है, और हमे आशा तथा विश्वास है कि वे यथासम्भव अर्थात् जहाँ तक हमारी अपनी भाषा मे काम चल सकता है वहाँ तक अँगरेजी, अँगरजी शब्दो और रोमन लिपि को अदालतो से निकालने मे कसर न उठा रक्खेंगे। परतु क्या हम पूछ सकते हैं कि अदालतों मे फ़ारसी और अरबी शब्द, फ़ारसी मुहावरे और शैली और फारसी लिपि निकालने के विषय मे उनके क्या विचार हैं और इस विषय मे वे क्या करने का इरादा रखते हैं ? अँगरेजी, अँगरेजी शब्दो और रोमन लिपि को विदेशी और इसलिये बहिष्कार-योग्य और उनके प्रयोग को 'symbol of our slavery' (उनके भाषण से उद्धृत) बताने परन्तु अरबी-फ़ारसी शब्दो और लिपि को स्वदेशी और उनके प्रयोग को 'symbol of our freedom' बताने की चेष्टा तो शायद वे न करेंगे। उन्होंने अपने उसी भाषण मे आगे कहा, "The Englishman's love

करना नहीं है। यह तो केवल राष्ट्र-भाषा होगी। हिन्दी वाले शुद्ध हिन्दी में लिखने और बोलने के लिये स्वतंत्र होंगे।

'लोकवाणी' में एक लेख में (दिसम्बर, १९४५ की 'हिन्दी' में उद्धृत) श्रीकाका कालेलकर लिखते हैं, "हम जो राष्ट्र-भाषा का प्रचार करने वाले हैं हमारी भी अपनी अपनी जन्मभाषा यानी स्वभाषा है। उसे शुद्ध रखने का, उसकी परंपरा सँभालने का और उसका साहित्य समृद्ध करने का हम भी प्रयत्न करते रहते हैं। मराठी का ही उदाहरण लीजिये। बृटिश-राज के प्रारम्भ के दिनों में जब मिशनरियों ने मराठी द्वारा अपना धर्म प्रचार करने के लिये उस भाषा में बोलना और लिखना शुरू कर दिया तब उन्होंने मराठी का स्वरूप बहुत कुछ बिगाड़ा। उस समय हम लोगों ने मिशनरियों का ऐसा घोर विरोध किया कि उन्होंने फिर से मराठी का वैसा अपराध करने की हिम्मत नहीं की। गुजराती में भी जब कभी किसी ने गुजराती की शैली बिगाड़ी है तब गुजरात के लोगों ने अपनी भाषा शुद्धि के लिये कुछ न कुछ आवाज उठाई है। अत: हम लोग हिन्दी की स्वाभाविक शैली को बिगाड़ने का प्रस्ताव हरगिज नहीं करेंगे। हिन्दी साहित्य की जो परंपरा तुलसीदास, सूरदास, कबीर, भूषण, रसखान, रहिमन, आदि लेखकों द्वारा प्रवृत्त हुई है, उसे तोड़ने का प्रयत्न हमसे कभी भी नहीं होगा। भाषा हर एक जाति का आत्मिक धन है। भाषा-शुद्धि का आग्रह चरित्र-शुद्धि के आग्रह के समान ही है।"

विचार तो बहुत ठीक हैं*, परन्तु क्या उनके अनुसार कार्य हो रहा है? क्या वास्तव में 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' का आन्दोलन हिन्दी, जो हमारी जन्मभाषा यानी स्वभाषा है, की स्वाभाविक शैली को नहीं बिगाड़

* चलो, काका जी को इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में हिन्दी की शैली को परिष्कृत और शुद्ध करने के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसके विरुद्ध कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रही।

ये सब जनता के करने की नहीं, सरकार के करने की बातें हैं। जनता को यह कहकर धोखा नहीं दिया जा सकता कि सरकार ने तो हिन्दी को उर्दू के समकक्ष रख दिया है, हिन्दी में काम करने की छूट दे दी है, फिर जनता हिन्दी में काम क्यों नहीं करती? सोचने की बात यह है कि जनता हिन्दी में अधिक सुविधा का अनुभव करते हुए भी अदालती काम हिन्दी में क्यों, किस कारण, नहीं करती अर्थात् नहीं कर पाती और जनता की सरकार का क्या कर्त्तव्य है। यदि हमारे माननीय मंत्री आये दिन अँगरेजी का मौखिक विरोध और किसी अनजानी और अज्ञात 'हिन्दुस्तानी' की वकालत करके सस्ती नामवरी हासिल करने के बजाय थोड़ी साफ़ दिमागी से काम लें, स्पष्ट बोलें, स्वयं आदर्श रक्खें और अपने करने का काम पूरा करें, तो अँगरेजी और झूठी हिन्दुस्तानी को हटाकर सच्ची हिन्दुस्तानी को अपना पद प्राप्त करने में ज्यादा आसानी हो।

डालना है, और दूसरे का उद्देश्य हिन्दी को धीरे धीरे जहर देकर मारना है। पहले पहले हमले को लीजिये। यह पहले बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी को अपने घर से ही निकाल रही है, और किस प्रकार हिन्दी का नाम प्रांतीय भाषाओं की सूची में से ही काटा जा रहा है, और उसका स्थान 'हिन्दुस्तानी' को दिया जा रहा है। यह सब इसी कारण सम्भव है कि 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी की ही एक शैली है। उदाहरण के लिये, यदि 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी से भिन्न कोई भाषा होती, तो रेडियो के लिये हिन्दी में एक दिन भी समाचार ब्राडकास्ट न करना असम्भव हो जाता—इसी प्रकार जिस प्रकार 'हिंदुस्तानी' में समाचार ब्राडकास्ट होने पर भी उसके लिये बंगला में समाचार ब्राडकास्ट न करना असम्भव है। अब यह कौन कह सकता है कि हिंदी प्रान्तों में और केन्द्रीय प्रकरणों में हिंदी की स्वाभाविक शैली का अस्तित्व है? (और यह कौन कह सकता है कि हिंदी वालों को इस 'हिंदुस्तानी' को सुनने के लिये मजबूर करके हिंदी की स्वाभाविक शैली को नहीं बिगाड़ा जा रहा है—वहाँ पर भी जहाँ उसका अस्तित्व शेष है?) अपने अपने प्रान्त में अपनी अपनी जन्म भाषा यानी स्वभाषा का बोलबाला है, बेचारे हिंदी वालों के प्रांत में 'राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी' का बोलबाला है। केन्द्र में भी सबकी जन्मभाषायें यानी स्वभाषायें हैं, बस केवल हिंदीवालों की हिंदी नदारद है*। इस हमले की बारीकी को समझ लेना चाहिये। यह हमला फ़िलहाल सब कामकाज में हिंदी को निकाल, 'हिंदुस्तानी' बैठा कर

* क्या काका कालेलकरजी और उनके साथी हिंदुस्तानी वाले हम हिन्दी वालों से मिलकर रेडियो से यह कहने को भी तैयार हैं कि वह 'हिन्दुस्तानी' में जो कुछ ब्राडकास्ट करके हिन्दी की स्वाभाविक शैली को बिगाड़े सो बिगाड़े, परन्तु हिन्दी की स्वाभाविक शैली में भी समाचार ब्राडकास्ट करे? देखें, इसी कसौटी पर काका कालेलकरजी का 'तुलसीदास, सूरदास, कबीर, भूषण, रसखान, रहिमन द्वारा प्रवृत्त हिन्दी की स्वाभाविक शैली और परम्परा' के प्रति प्रेम खरा उतरता है या नहीं।

दर्शन, इतिहास) की तो हिन्दी और उर्दू की उच्च से उच्च पारिभाषिक शब्दावलियाँ इस समय भी मौजूद हैं, और एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। और लिपियाँ तो भिन्न हैं ही। साराश यह कि शिक्षा-मंत्री की योजना के सफल हो जाने के बाद भी हिन्दी और उर्दू की पाठ्य पुस्तकें उच्च पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दों को छोड़कर वास्तव मे हिन्दी और उर्दू में ही होंगी। इन सब बातों की रोशनी में लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रस्ताव का यह अर्थ निकलता है - शिक्षा के माध्यम दो हों हिन्दी और उर्दू, लिपि दो हों, पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी और उर्दू मे छपें, परन्तु क्लास एक हो और अध्यापक एक हो, शेष अध्यापक पर छोड़ दिया जाय—जिस तरह उसे एक ही क्लास मे एक ही घन्टे मे दोनों माध्यम वालो को पढ़ा मिले उस तरह वह पढ़ावे, अर्थात् वह केवल खड़ी बोली की क्रियायें बोलने के लिये बाध्य हो, उनके साथ वह चाहे हिन्दी शब्दों का प्रयोग करे चाहे उर्दू शब्दों का —चाहे वह 'अनुवाद' कहे, चाहे 'तरजुमा', चाहे 'विज्ञान', चाहे 'साइन्स', चाहे 'राजनीति', चाहे 'स्यासत' चाहे 'दशमलव' चाहे 'आशारिया', आदि, और बोर्ड पर चाहे जिस लिपि मे—देवनागरी या फारसी लिपि—में लिखे ('हिन्दुस्तानी' के अँगरेजी शब्दो की कानूनी सीमा बाँधने के बाद और रोमन लिपि का कानूनन बहिष्कार करने के बाद सहस्रों शब्दो के दो दो पर्याय और दो लिपियाँ तो फिर भी बच रहेंगी न)। *

---

* संयुक्त-प्रान्त के शिक्षा-मन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्द जी द्वारा संयोजित संयुक्त-प्रान्त के विश्वविद्यालयों के वाइस-चांसलरों की यह। काफरेन्स २ अगस्त, १९४७ को हो गई। इस काफरेन्स को बुलाने की घोषणा शिक्षा मन्त्री ने मार्च में की थी, हुई यह अगस्त में और इस बीच में भारत का विभाजन हो चुका था और उसके बाद यह भी सुनाई पड़ने लगा था कि संयुक्त-प्रान्त की सरकार ने हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया है, अत. आशा की जाती थी कि यह कांफरेन्स अब 'हिन्दुस्तानी' का बखेड़ा समाप्त कर हिन्दी को प्रान्त के विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम बनाने

बिना हिन्दियों के सहयोग के नहीं फल फूल सकता, इसलिये 'हिन्दुस्तानी' की सफलता के लिये वे उसे प्रथम हिंदी प्रान्तों की राजभाषा बनाना चाहते हैं* । अब कल्पना कीजिये—हिंदी प्रान्तों में राज-व्यवहार में सब तरफ़ 'हिंदु-

---

* इसी कारण वे केन्द्र मे, जैसे रेडियो मे, हिंदुस्तानी को प्रान्तीय भाषाओं (जिनमें हिन्दी उर्दू भी शामिल हैं) के अतिरिक्त बतौर राष्ट्रभाषा के नहीं वरन् बतौर एक प्रदेश अर्थात् हिंदी प्रांतों की भाषा के प्रयुक्त करना चाहते हैं । रेडियो से अन्य प्रांतीय भाषाओं में ख़बरें होती हैं, हिंदी और उर्दू में नहीं । उनकी जगह 'हिन्दुस्तानी' है । क्यों ? इसलिये कि अगर आज हिन्दी और उर्दू में भी ख़बरे होने लगें तो 'हिन्दुस्तानी' की ख़बरें कौन सुनेगा, उन्हे सुननेवाला कौन रह जायगा ? इसी कारण सर अकबर हैदरी की रेडियो कमेटी में डा० ताराचन्द ने 'हिन्दुस्तानी' के 'Experiment' (प्रयोग) की सफलता के लिये हिन्दी और उर्दू में ख़बरें न देना आवश्यक करार दिया । वे 'हिन्दुस्तानी' को पहले एक प्रान्तीय भाषा मनवाना चाहते हैं ताकि उसकी जड़ जम जाय । यह बात दूसरी है कि सरकार ने भी लाखों व्यक्तियों द्वारा निश्चित हिन्दी और उर्दू शैलियों का जन्मसिद्ध अधिकार छीनकर डा० ताराचन्द और उनके आधे दर्जन साथियों की अभीष्ट 'हिन्दुस्तानी' को प्रतिष्ठित करना उचित समझा, अथवा लाखों व्यक्तियों की माँग से डा० ताराचद की माँग को अधिक महत्व दिया । इसमें सरकार का खुद अपना स्वार्थ है । क्या है, यह रेडियो की नीति से परिचित हिन्दीवाले भलीभाँति जानते हैं । केन्द्र में हिन्दुस्तानीवालों की आज चल रही है; हिन्दी प्रान्तों में अब धावा बोला जा रहा है । आज कहा जा रहा है, हिन्दी उर्दू मे ख़बरें और अन्य सरकारी प्रोग्राम ब्राडकास्ट नहीं हो सकते (हाँ, बक़ौल ताराचन्दी रेडियो कमेटी के, उनका उद्देश्य 'हिन्दी उर्दू के साहित्यिक प्रोग्राम जैसे कविता-पाठ, आदि बन्द करना नहीं है'—देखिये न !), कोई केन्द्रीय व्यवहार हिन्दी उर्दू में नहीं हो सकता—केवल 'हिन्दुस्तानी' और प्रान्तीय भाषाओं में होगा; कल कहा जायगा कि युक्त-प्रांत, बिहार, आदि में हिन्दी या हिन्दी उर्दू दोनों को राज-व्यवहार में कोई स्थान नहीं मिल सकता, केवल 'हिंदुस्तानी' चलेगी, हाँ, हिंदी उर्दू में साहित्य रचना और कविता पाठ नहीं रोका जायगा ।

(उदाहरण के लिये गणित के सवाल को पहले देवनागरी में हल करके फिर उसे उर्दू लिपि मे हल करना पडेगा), और पढाना लगभग असभव हो जायगा, (४) यदि शिक्षा-विभाग की ओर से बोलते हुये (Talkie) शिक्षा-फिल्म तैयार किये जायँ, तो या तो प्रत्येक फिल्म अलग अलग हिन्दी और उर्दू में बनाया जाय (या फिर प्रत्येक हिन्दी शब्द के साथ उर्दू पर्याय और प्रत्येक उर्दू शब्द के साथ हिन्दी पर्याय बोला जाय जो लगभग असम्भव है), या किसी निश्चित अनुपात मे कुछ फिल्म हिन्दी में तैयार किये जायँ और कुछ उर्दू में, इत्यादि, इत्यादि ।

इन सब बातों का क्या अर्थ है और उनका क्या परिणाम होगा, अब इस पर हिन्दी वालो के दृष्टि-कोण से विचार कीजिये। इनका अर्थ है कि चूँकि हिन्दी प्रान्तों में कुछ लोग ऐसे हैं जो उर्दू माध्यम की माँग करते हैं, इतना ही नही कि हिन्दी वालों के पैसे से ही उनके लिये अलग उर्दू माध्यम का प्रबन्ध कर दिया जाय, बल्कि हिन्दी वालों को यह भी अधिकार नहीं रहा कि उनके बच्चे अन्यभापा-भापियों की भाँति शुद्ध हिन्दी के माध्यम द्वारा सीधी-सादी तौर से शिक्षा प्राप्त कर सकें—इतना ही नहीं कि उर्दू को भी वही अधिकार दे दिये जायँ जो हिन्दी को दिये जायँ, बल्कि हिन्दी विकृत की जाय, उसकी 'हिन्दुस्तानी' की जाय, और 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर इंगलिस्तानी प्रतिष्ठित की जाय (हिन्दी-उर्दू के द्वन्द्व से बचने के लिये अँगरेजी से शब्द लेकर, जबकि इनमे से अधिकाश शब्द अन्य प्रान्तीय भापाओं में देशी स्रोतों से बनाये जायँगे, और 'हिन्दुस्तानी' की बला सिर पर सवार न होती तो हिन्दी मे भी देशी स्रोतों से बनाये जाते), और सम्भवत हिन्दी की वर्तमान शब्दावली की भी काट-छाँट करके उर्दू शब्दों को मिलाकर ('समझौते' के लिये) एक कामन शब्दावली बनाई जाय। और उर्दू लिपि के कारण हिन्दी शब्दों का उच्चारण भ्रष्ट किया जाय। जबकि अन्य प्रान्तों के बालक केवल अपनी अपनी प्रान्तीय भापायें सीखकर उच्च से उच्च

हिन्दू अब भी कचहरियों और दफ्तरों में भरे हुये हैं। कुछ अपनी अवस्था का अनुभव कर अब पश्चात्ताप कर रहे हैं और अपने बाप-दादों को कोस रहे हैं, और कुछ हिन्दुस्तानी वालों के मुखिया बन बैठे हैं (कारण स्पष्ट है)। वास्तव में उर्दू के पिछले सौ वर्ष लम्बे अखण्ड राज्य में हिन्दी प्रांतों (मुख्यतः युक्त-प्रांत) के हिन्दुओं और हिन्दू-संस्कृति का जो घोर पतन हुआ है, वह कई सौ वर्ष लम्बे मुस्लिम-शासन और फारसी के राज्य में भी नहीं हुआ था। क्यों? इसीलिये कि उर्दू हिन्दी की ही एक विकृत शैली होने के कारण हिन्दी का नाश करने में फ़ारसी की अपेक्षा कहीं अधिक समर्थ थी। जनता को वह इतनी दुरूह नहीं मालूम पड़ी जितनी फारसी, उसका विदेशीपन धीरे धीरे भूलने लगा और अन्त में बहुत से उसे ही वास्तविक हिन्दी मानने लगे। आज भी उर्दू को ही वास्तविक हिन्दी या हिन्दुस्तानी मानने वाले मौजूद हैं, और वे ही युक्त-प्रांत में हिन्दुस्तानी वालों के दल का संचालन कर रहे हैं। अच्छा, हिन्दी का उत्थान कब से आरम्भ हुआ? जब से उस पर थोड़ी बहुत राज-कृपा हुई और वह स्कूलों में पढ़ाई जाने लगी। और देवनागरी का प्रचार तब से बढ़ा जब महामना मालवीय जी के उद्योग से राजभाषा उर्दू को पाजामा के साथ साथ धोती भी पहनाने का हुक्म हुआ (उसका भी कितना विरोध हुआ—डा० ताराचन्द और पं० सुन्दरलाल के पूर्वजों की ओर से ही!) फिर भी बीस-पचीस वर्ष पहले तक स्कूलों में हिन्दी पढ़नेवाले छात्रों की संख्या उङ्गलियों पर गिनी जा सकती थी। कक्षा में हिन्दी वाले छात्रों की संख्या होती थी पॉंच, और उर्दू वाले छात्रों की संख्या होती थी पचास जिनमें से चालीस हिन्दू होते थे और दस मुसलमान। यह सब उर्दू के राज्याश्रय के कारण हुआ। आज भी जो कायस्थ बच्चे स्कूलों में प्रथम भाषा उर्दू पढ़ते देखे जाते हैं, वह केवल उर्दू के राज्याश्रय के ही कारण, क्योंकि वैसे एक हिन्दू बच्चे के लिये हिन्दी के मुक़ाबले उर्दू में रत्ती-

अपनाया था और वह जिस रास्ते पर चल रही थी, उससे प्रकट था कि 'हिन्दुस्तानी' माध्यम के दूसरे अर्थ पर जोर दिया जाता, और कांग्रेसी सरकारें 'हिन्दुस्तानी' माध्यम के नाम पर हिन्दी की सुन्नत करके उसे दोनों लिपियों में हिन्दी प्रांतों में शिक्षा के माध्यम के पद पर प्रतिष्ठित करतीं। श्री सम्पूर्णानन्द का 'हिन्दुस्तानी' की पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने के लिये संयुक्त-प्रान्त के विश्वविद्यालयों के वाइस-चान्सलरों की कान्फ्रेंन्स का आयोजन करना इस ओर एक कदम था। विभिन्न प्रांतों मे विभिन्न प्रान्तीय भाषायें शिक्षा का माध्यम होतीं, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिन्ध में उर्दू शिक्षा का माध्यम होती परंतु हिन्दी कहीं शिक्षा का माध्यम नहीं होती—हिन्दी प्रांतों मे भी नहीं। इस क्षेत्र से हिन्दी का अस्तित्व उठ जाने के बाद अन्य सब क्षेत्रों से हिन्दी का अस्तित्व स्वत उठ जाता क्योंकि जब जड़ ही सूख जाती तो पत्ते हरे कैसे रह सकते थे।

२

परन्तु अब परिस्थिति बिलकुल बदल चुकी है। देश के विभाजन के बाद कांग्रेस के हिन्दुस्तानीवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। अधिक कहने की जरूरत नहीं। भारतीय विधान-परिषद की कांग्रेस पार्टी ने हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्र भाषा और राष्ट्र-लिपि बनाने के पक्ष मे फैसला देकर इस सत्य को स्वीकार कर लिया है। हमें खेद अवश्य है कि कांग्रेस की आँखे खोलने के लिये देश के विभाजन जैसी हृदय को विदीर्ण करने वाली और कलेजा मसोसने वाली घटना की जरूरत पड़ी। अस्तु, अब हिन्दुस्तानी-वाद का सर्वथा अन्त हो जाना चाहिये। इसके बाद अब हिन्दी प्रान्तों मे शिक्षा के माध्यम के रूप मे केवल हिन्दी और उर्दू पर विचार करना शेष रह जाता है। परन्तु हिन्दी प्रांतों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिये हिन्दी और उर्दू दोनों माध्यम के रूप में स्वीकृत नहीं की जा सकतीं। कारणों की ओर ऊपर इशारा किया जा चुका है। चाहे दोनों माध्यम वालों

फैसले, सरकारी सूचनायें, इत्यादि 'अदब' सुना सुनाकर उसे प्रचलित कर देंगी, तब हिन्दी की स्वाभाविक शैली में ही क्या 'साहित्य' के स्थान में 'अदब' न आ बैठेगा? अर्थात् जिस प्रकार राजभाषा उर्दू ने हिन्दी में विदेशी शब्द घुसेड़े, बोलचाल में विदेशी शब्द घुसेड़े (यहाँ तक कि दिल्ली और लखनऊ की शिक्षित वर्ग की बोलचाल ही उर्दू हो गई), और अब राजभाषा अँगरेज़ी एक नितान्त भिन्न भाषा होते हुये हिन्दी में विदेशी शब्द घुसेड़ रही है, बोलचाल में विदेशी शब्द घुसेड़ रही है (यहाँ तक कि शिक्षित वर्ग की बोलचाल ही आधी हिन्दी आधी अँगरेजी या इङ्गलिस्तानी हो गई है), क्या उसी प्रकार राजभाषा 'हिन्दुस्तानी' शिष्ट समाज की बोलचाल की भाषा नहीं हो जायगी, और हिन्दी की स्वाभाविक शैली को नहीं ले डूबेगी? कहने का तात्पर्य यह है कि **हिन्दी प्रान्तों में राज-व्यवहार की भाषा 'हिन्दुस्तानी' होने पर साहित्य में भी हिन्दी नहीं रह सकती।** हिन्दी पर 'हिन्दुस्तानी के पहले प्रकार के आक्रमण का यही रहस्य है। इस आक्रमण का अन्तिम सर्ग होगा हिन्दी प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम 'हिन्दुस्तानी' बनाना (आरम्भ हो चुका है—देखिये परिशिष्ट १७)। उस सर्ग की समाप्ति पर केवल कुछ शोध-विद्यार्थी प्राचीन हिन्दी साहित्य का सस्कृत साहित्य की भाँति अध्ययन करेंगे। हिन्दी भाषा का विषय ही न रहेगा, और यदि रहेगा भी तो 'हिन्दुस्तानी' भाषा के विषय को, यदि वह अनिवार्य न हुआ तो भी (यद्यपि राष्ट्रभाषा के नाते वह सबके लिये अनिवार्य होगा), प्रथम भाषा के रूप में लेने वाले विद्यार्थियों की सख्या के मुकाबले में हिन्दी भाषा के विषय को लेने वाले विद्यार्थियों की सख्या उँगलियों पर गिनने लायक होगी—उसी प्रकार जिस प्रकार बीस-पचीस वर्ष पहले तक उर्दू लेने वालों के मुकाबले में हिन्दी लेने वालों की सख्या नगण्य थी। बस, हिन्दी की स्वाभाविक शैली का इतना ही अस्तित्व शेष रहेगा। (और इस स्वाभाविक शैली का स्थान लेने

इंजीनियरों, मुसलमान वैज्ञानिकों और अन्य मुसलमान टेकनिकल व्यक्तियों की सूची बनाने का काम सौंपा है जो पाकिस्तान की सेवा करने को तैयार हैं) ने स्पष्टतः घोषित कर दिया है कि पाकिस्तान के सब विश्व-विद्यालयों (अर्थात् ढाका विश्वविद्यालय का भी) की शिक्षा का माध्यम उर्दू होगा, और यह भी कहा है कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय का भी माध्यम उर्दू होगा। सिन्ध के शिक्षा-मंत्री ने बताया है कि कराची विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम तो उर्दू होगा ही, सिन्ध में, और पाकिस्तान भर में, माध्यमिक शिक्षा का भी माध्यम उर्दू होगा और उर्दू का विषय प्राथमिक स्टेज से ही सबके लिये अनिवार्य होगा, अलबत्ता प्राथमिक शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से दी जायगी (यह देखना बाकी है कि प्राथमिक शिक्षा के लिये ही हिन्दी भी माध्यम के रूप में स्वीकृत की जाती है या नहीं)। सिन्ध सरकार ने हिन्दुओं की शिक्षा-संस्थाओं को, जो संभव था हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनातीं, स्पष्ट धमकी दी है कि यदि उन्होंने माध्यम के विषय में सरकारी नीति का अनुकरण न किया तो सरकारी मदद बिलकुल बन्द कर दी जायगी, और यह भी घोषित कर दिया गया है कि सिन्ध की जो भी शिक्षा संस्था, चाहे उसे सरकार एक पैसे की भी मदद न देती हो, कराची विश्वविद्यालय से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ेगी, (अर्थात् जो उर्दू को शिक्षा का माध्यम नहीं बनावेगी), उसे सरकारी स्वीकृति (recognition) प्राप्त नहीं होगी। यहाँ यह बताना जरूरी है कि पाकिस्तान ने उच्च शिक्षा का माध्यम केवल एक रखकर अनुचित नहीं किया है। सभी उन्नति-शील और प्रजातान्त्रिक देशों में जहाँ एक अल्पसंख्यक दल को खुश करने के लिये उसके साथ विशेष व्यवहार करना और उसे सिर पर बैठाना राष्ट्रीयता नहीं समझा जाता, ऐसा ही होता है। अमरीका की ही मिसाल दी जा सकती है, जहाँ जर्मन, डच, फ्रांसीसी, अँगरेज़ आदि सभी नागरिकों की शिक्षा का माध्यम केवल एक, अँगरेजी, है। राष्ट्रीय

अन्य कारखानों में तैयार की जा रही है, उससे हिन्दी की स्वाभाविक शैली को वैसा ही खतरा है जैसा मिशनरियों की मराठी से मराठी की स्वाभाविक शैली को उत्पन्न होगया था। इसका जिक्र पहले किया जा चुका है। प्रश्न किया जा सकता है कि उर्दू भी तो हिन्दी की एक शैली है, उसके प्रभाव से हिन्दी की स्वाभाविक शैली को बचाने के लिये क्या किया जा रहा है? ठीक है, हिन्दी पर उर्दू का भी बुरा प्रभाव पड़ा है और आगे और पड़ेगा। हम उससे भी हिन्दी को बचाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इस पुस्तक का प्रथम भाग इसी दिशा में एक कदम है। हम उर्दू को भी हिन्दी की एक अस्वाभाविक शैली मानते हैं (जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है), और हम उसका प्रचार नहीं करते। परन्तु उर्दू और 'हिन्दुस्तानी' में बड़ा भारी अन्तर है। उर्दू शैली अपनी भिन्न लिपि के कारण आगे बढ़ी। यदि हिंदी एक भिन्न लिपि में न लिखी जाती तो भाषा भी भिन्न न होती। परन्तु जहाँ क भिन्न लिपि ने एक भिन्न शैली को जन्म दिया, वहाँ उसने उस शैली को हिन्दी की स्वाभाविक शैली से पृथक् भी रक्खा। जिन्होंने उर्दू शैली में लिखना चाहा उन्होंने उसे फ़ारसी लिपि में लिखा, यहाँ तक कि फ़ारसी लिपि 'उर्दू लिपि' कहलाने लगी। लिपि ने एक पार्थिव बाधा का काम किया। लिपि के कारण हिन्दी उर्दू के अत्यधिक प्रभाव से बच गई, और

रूप ले। " जिन बातों में सब जमातों और फ़िर्कों के लोग एक राय हैं उन्हें चमकाने की कोशिश करेगा"। पता नहीं, 'नया हिन्द' की बिस्मिल्लाह — 'हिन्दुस्तानी बोली और दोनों लिखावट'— पर ही 'सब जमातों और फ़िर्कों के लोग' एकमत हैं या नहीं, हाँ, प्रयाग में हिन्दुस्तानी वालों का एक लाउड-स्पीकर अवश्य लग गया।

('नया हिन्द' का प्रकाशन आरम्भ हो गया है और उक्त अनुमान की पुष्टि भी होगई है। इसकी 'हिन्दुस्तानी' है उर्दू जिसमें, श्रीभदन्तआनन्द कौसल्यायन के शब्दों में, "बीच बीच में कुछ हिन्दी वाक्य हैं जो देवनागरी में शुद्ध और उर्दू लिपि में शुद्ध नहीं लिखे जा सके हैं"।)

और लिपि-समस्या (जो 'हिन्दुस्तानी' के झमेले के बाद भी ज्यों की त्यो रहती है) का एक मात्र व्यावहारिक और राष्ट्रीय हल, तथा देश के विभाजन से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति का तकाजा यह है कि हिन्दी प्रान्तो मे माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम केवल हिन्दी होनी चाहिये। जो गैर-सरकारी शिक्षा-सस्था ऐसा करना स्वीकार न करे, उसे न सरकार मदद दे और न उसे सरकार स्वीकृत (recognise) करे।

(२) माध्यमिक स्टेज से हिन्दी के शिक्षा का माध्यम होने का अर्थ है कि हिन्दी भाषा का विषय प्राथमिक (primary) स्टेज से ही सबके लिये अनिवार्य हो (अन्यथा माध्यमिक स्टेज मे हिन्दी के माध्यम से शिक्षा कैसे दी जायगी ?), और कम से कम माध्यमिक स्टेज के अन्त तक (आजकल के इन्टरमीजिएट तक) सबके लिये अनिवार्य रहे, और तदपुरान्त आजकल की 'जेनरल इङ्गलिश' का भाँति 'साधारण हिन्दी' का विषय सब के लिये अनिवार्य हो।

(३) विशेष परिस्थितियो मे प्राथमिक शिक्षा के लिये उर्दू, बँगला, आदि के माध्यम का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। परन्तु हिन्दी भाषा का विषय फिर भी सबके लिये अनिवार्य होगा। अवश्य ही यह उर्दू, बँगला, आदि के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों पर एक अतिरिक्त बोझा होगा, और परिणामस्वरूप अधिक से अधिक विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से ही प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे। यह वाञ्छनीय है।

(४) उर्दू भाषा और साहित्य का विषय माध्यमिक स्टेज से वैकल्पिक विषयों को सूची में रक्खा जाय। बँगला, पंजाबी या अन्य प्रान्तीय भाषाये भी माध्यमिक स्टेज से वैकल्पिक विषयों की सूची मे रक्खी जायँ।

(५) रेडियो के स्कूली प्रोग्राम, शिक्षा-फिल्म, आदि सब हिन्दी मे हो और बनें।

(६) आजकल सयुक्त-प्रात मे ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों मे छात्रों के लिये

गलत है कि 'हिन्दुस्तानी' में उर्दू की भी वही हानि होगी जो हिन्दी की। यह पहले कहा जा चुका है कि राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' केवल हिन्दी को खा जाना चाहती है। उर्दू 'हिन्दुस्तानी' के दोनों प्रकार के हमलों से इसलिये सुरक्षित है कि ऐसा कोई माई का लाल नहीं जो पंजाब, सीमा-प्रान्त, आदि उर्दू प्रान्तों में उर्दू के स्थान में 'हिन्दुस्तानी' (और दोनों लिपि) को राजभाषा बनवा सके, और दूसरे प्रकार के हमले से उर्दू अपनी लिपि के कारण सुरक्षित है क्योंकि उर्दू-लिपि में हिन्दी के अधिकांश संस्कृत शब्द लिखे ही नहीं जा सकते। यह पहले बतलाया जा चुका है कि जो 'हिन्दुस्तानी' उर्दू लिपि में प्रकट होती है, वह शुद्ध उर्दू से भिन्न नहीं होती। इसका कारण बहुत हद तक उर्दू लिपि है। उर्दू से कुछ भिन्न हिन्दुस्तानी केवल देवनागरी में प्रकट होती है, क्योंकि उसी में प्रकट हो सकती है। उर्दू वाले एक तो वैसे ही हिन्दी नहीं जानते और न जानने की पर्वाह करते हैं (वरन् उससे घृणा करते हैं), दूसरे उनकी लिपि की अपूर्णता एवं अवैज्ञानिकता हिन्दी के विरुद्ध एक अतिरिक्त किले का काम करती है। हिन्दी के साहित्यिक ही उर्दू सीखते हैं और वे ही 'हिन्दुस्तानी' की धुन में हिन्दी में उर्दू शब्द भरकर हिन्दी को विकृत कर सकते हैं। अतः सब प्रकार से 'हिन्दुस्तानी' केवल हिन्दी की दुश्मन है। इसका प्रमाण दिया जा सकता है। 'हिन्दुस्तानी' के प्रभाव से केवल हिन्दी उर्दू शब्दों से लदती जा रही है, जब कि उर्दू पहले की भाँति विशुद्ध है। 'हिन्दुस्तानी' ने हिन्दी के साहित्यिक ही हिन्दी से छीने हैं, उर्दू के नहीं (आज 'हिन्दुस्तानी' लिखने वालों में कितने उर्दू लेखक दिखाई देते हैं? और जो दिखाई देते हैं उनकी हिन्दुस्तानी क्या उर्दू से भिन्न है?), हिन्दी के साहित्यिकों पर ही हिन्दुस्तानी वाले दबाव डाल रहे हैं। सम्मेलन त्याग कर कितने ही हिन्दी वाले 'हिन्दुस्तानी' की सेना में भरती हो गये, परन्तु अंजुमन-तरक्की-उर्दू से किसी ने त्याग-पत्र नहीं दिया। हिन्दी प्रचारकों को ही पकड़-पकड़ कर 'हिन्दुस्तानी' की

उत्तर-परिशिष्ट १

रोमन लिपि का जयजयकार

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

हिन्दुस्तानी-वाद पर दृष्टिपात करते हुए प्रसिद्ध भाषा-वेत्ता डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने एक बार कहा था, "गांधी जी के 'दोनों लिपि'-वाद के परिणाम-स्वरूप केवल रोमन लिपि का जयजयकार होने वाला है।" मालूम पड़ता है कि उनकी भविष्यवाणी सत्य होने जा रही है। इन पंक्तियों का लेखक पाठकों का ध्यान दो बातों की ओर प्रमुख रूप से खींचना चाहता है—पाठक स्वयं उनसे निष्कर्ष निकाल लें।

१

यह सबको मालूम है कि हमारी वर्तमान 'राष्ट्रीय' सरकार में मौलाना अबुल कलाम आजाद शिक्षा सदस्य हैं। इस निरक्षर देश की केन्द्रीय सरकार में शिक्षा सदस्य का पद सँभालने के बाद मौलाना साहब को जो सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम जँचा है वह है रोमन लिपि का प्रचार। १८ फरवरी, १९४७ को एक प्रेस कान्फ्रेन्स में उन्होंने रोमन लिपि की जोरदार वकालत की। इन पंक्तियों के लेखक से न रहा गया। उसने यह अनुभव करते हुए भी कि नक्कारखाने में तूती की कोई नहीं सुनेगा, मौलाना आजाद को एक पत्र लिखा। मौलाना आजाद कितने पानी में हैं, रोमन लिपि के विषय में उनके क्या विचार हैं और उनका क्या कार्य-क्रम है, और सत्य क्या है तथा उसकी किस प्रकार हत्या की जा रही है, यह सब उस पत्र व्यवहार से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है जो वर्तमान लेखक और केन्द्रीय

किसी भी शत्रु का मुकाबला करने के लिये पहले एक 'वेस' (base) की, या कहिये एक किले की, आवश्यकता होती है। हिन्दी को भी हिन्दुस्तानी का मुकावला करने के लिये एक गढ़ की जरूरत है। यह गढ हिन्दी का अपना घर ही हो सकता है। हिन्दी को पहले अपने घर पर पूर्ण रूप से अधिकार करना चाहिये। यदि हिन्दी अपने घर में ही अपने पैर न जमा सकी, तो किसी बाहरी शत्रु का मुकाबला कैसे करेगी ? हिन्दी का घर मध्य-देश है जिसमे युक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त, बिहार और राजस्थान स्थित हैं। हिन्दी के साम्राज्य की यही राजधानी है, यहीं से हिन्दी के कार्य का सचालन हो सकता है। साम्राज्य की सीमाओं पर कुछ भी हो जाय, जब तक राजधानी सुरक्षित है तब तक आशा है। यदि हिन्दी अपनी राजधानी में से ही निकाल दी गई, तो समझ लीजिये इस ससार से हिन्दी उठ गई। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, हिन्दी को अपने घर मे ही अपदस्थ करने का पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। हिन्दी को पहले इस प्रयत्न को विफल करना होगा, हिन्दुस्तानी की परछाँई तक को अपने घर से दूर भगाना होगा। पहले हिन्दी का अपने घर मे अखण्ड राज्य स्थापित होना चाहिये। यह कार्य भी साधारण नहीं रह गया, और जितनी देर की जायगी उतना ही कठिनतर होता जायगा। एक पल भी देर करने का समय नहीं है। सबसे पहले हिन्दी को हिन्दी प्रान्तों मे राजभाषा अर्थात् असेम्बली की, दफ्तरों, कचहरियों, पुलिस, म्युनिसपेल्टी, आदि की भाषा बनाना होगा—व्यवहार मे और कानून में। हम कानून मे 'हिन्दुस्तानी' शब्द तक नहीं रहने दे सकते। यह सब करना हमारे हाथ मे है, और हमे करना ही होगा। हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के लिये राज्याश्रय प्राप्त करना ही होगा। कुछ हिन्दी-प्रेमी कहते हुये सुने जाते हैं कि हिन्दी बिना राज्याश्रय के आगे बढ़ी है और उसे राज्याश्रय की आवश्यकता नहीं, परन्तु शायद इससे बढकर कोई दूसरी मूर्खता की और हिन्दी के हित में घातक बात नहीं हो सकती। क्या हम उस उन्नति मे

literate during their service in the Army are not to lapse into illiteracy, they must be provided with suitable literature in Roman Hindustani. It will take time for every person to learn both Devnagri and Urdu scripts and till this is achieved, it would be worth considering whether the use of Roman as a supplementary script may not be a temporary expedient. There are millions of Bengalees, Madrasis, Oriyas, Assamese and men speaking other languages who can understand Hindustani and pick it up quickly but for the impediment in their progress because of the script. It is the case of these people that Hon'ble Member had in mind when he referred to the use of the Roman script for Hindustani."

(वाक्य रेखांकित लेखक ने किये हैं)

(३) लेखक का श्री टी. यस. कृष्णमूर्ति को पत्र, ता० ६–३–४७

प्रिय महोदय,

आपका १–३–४७ का पत्र मिला। धन्यवाद। अपना पत्र लिखने से पूर्व मैंने १८–२–४७ की प्रेस कान्फ्रेन्स का विवरण भली भाँति पढ लिया था। आपको मेरे पिछले पत्र में उन सब तर्कों का उत्तर मिलेगा जो माननीय शिक्षा-सदस्य ने रोमन लिपि के पक्ष में उपस्थित किये थे और जिन्हे आपने अपने पत्र में दोहराया है।

सैनिकों के लाभार्थ अस्थायी रूप मे रोमन लिपि को प्रयुक्त करने के अतिरिक्त और उससे बिलकुल अलग शिक्षा-सदस्य रोमन लिपि को चटाना

वञ्चित नहीं किया जा सकता। जब तक हिन्दी-प्रान्तों में अधिकांश जनता की भाषा हिन्दी है, तब तक राज-व्यवहार में उसका स्थान किसी दूसरी भाषा या शैली को नहीं दिया जा सकता। किसी सरकार को एक नई भाषा या शैली गढ़कर जनता पर लादने का अधिकार नहीं, और न वह एक नई लिपि लाद सकती है। आगे चलकर जनता हिन्दी शैली को चाहे बिगाड़े चाहे बनावे, उसमें चाहे जो परिवर्तन करे, परन्तु इस समय जनता ने हिन्दी की जो शैली निश्चित कर रक्खी है अर्थात् जिस शैली में अधिकांश लेखक लिखते हैं, आज वही शैली राजभाषा की शैली हो सकती है। कोई सरकार उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। जो 'हिन्दुस्तानी' शैली की रूप-रेखा निश्चित करने की बात कहते हैं, उन्हें बता देना चाहिये कि जनता आज तक बैठी नहीं रही, उसने अपनी हिन्दुस्तानी की शैली या शैलियाँ निश्चित कर ली हैं—और वे हैं हिन्दी और उर्दू। आज एक दर्जन आदमियों की गढ़ी हुई 'हिन्दुस्तानी' शैली आधे दर्जन आदमियों की जिद के कारण किसी भी प्रकरण में इन दो शैलियों को अपदस्थ नहीं कर सकती। हिन्दी प्रान्तों में उर्दू शैली को भी स्थान मिल सकता है, परन्तु कोई 'हिन्दुस्तानी' शैली हिन्दी का स्थान नहीं ले सकती।

यह बात याद रखनी चाहिये कि यदि हिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी का बोल-बाला रहा, और वह राजभाषा हुई (अकेली या उर्दू के साथ साथ), तो राष्ट्र-भाषा भी 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो सकती। इस तथ्य पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। राष्ट्र-भाषा की शैली प्रान्त-भाषा की शैली से भिन्न रह ही नहीं सकती। 'हिन्दुस्तानी' का जन्म ही न होगा। अहिन्दी लोग हिन्दुस्तानी को गढ़ कर उसे जीवित रख ही नहीं सकते। जो खड़ी बोली हिन्दी प्रान्तों में चलेगी, अन्त में वही राष्ट्र-भाषा होगी। यदि हम हिन्दी वाले अपने प्रान्तों में हिन्दुस्तानी को ठुकरा कर हिन्दी को प्रतिष्ठित कर लेते हैं, तो उससे भिन्न हिन्दी राष्ट्र में चल ही नहीं सकेगी (आज तक

देवनागरी मात्र सिखाने के बाद शिक्षा-विभाग को और ध्यान देने की आवश्यकता न रह जायगी और इसलिये वह देश का स्थायी लाभ होगा। रोमन लिपि मे हिन्दुस्तानी साहित्य सुलभ होने पर सैनिक किसी दूसरी लिपि सीखने के प्रति उदासीन भी हो जायँगे और इसलिये रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य के निर्माण की सगत शिक्षा-सदस्य की इस इच्छा से नहीं बैठती कि सब हिन्दुस्तानी शीघ्र से शीघ्र देवनागरी और उर्दू लिपि सीख लें। फिर, सेना के बीस लाख सैनिक अब एक ही छत्र तले नहीं ह। उनमें मे अधिकाश अलग किये जा चुके है और उन्होने अन्य नागरिकों की भाँति विभिन्न नागरिक पेशे अख्तियार कर लिये हैं। स्वाभाविक रूप से अब उनका आकर्षण अपनी अपनी प्रान्तीय भाषा और साहित्य के प्रति है उन्हे अब रोमन लिपि में प्रकाशित सरकारी हिन्दुस्तानी साहित्य की पर्वाह नहीं, जो उन्हे केवल अपने सहनागरिकों से और देश में प्रचलित हिन्दुस्तानी साहित्य से भी दूर रखने मे सहायक सिद्ध होगा। माननीय शिक्षा-सदस्य ने स्वयं कहा है कि लाखों बगाली, मद्रासी, आसामी, महाराष्ट्री ऐसे हैं जो हिन्दुस्तानी समझते हैं। उनकी साक्षरता जिस तरह भी हो उस तरह कायम रखने का सवाल ही नहीं उठता। केन्द्रीय शिक्षा-विभाग को चाहिए कि वह उन्हें देवनागरी सिखाने के लिये कदम उठाये। शेष सब अपने आप हो जायगा। यह रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य के निर्माण की अपेक्षा साक्षरता और हिन्दुस्तानी प्रचार की कहीं बड़ी, स्थायी और अल्पव्यय सापेक्ष सेवा होगी। जब हम भारत की भारती के लिये एक कामन लिपि के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जी तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं, अवश्य ही माननीय शिक्षा-सदस्य का यह इरादा नहीं हो सकता कि कृत्रिम उपायों से और जान बूझ कर एक तीसरी लिपि थुमेड कर—और वह भी करदाताओं के खर्चे पर—समस्या को और जटिल बना दिया जाय और हिन्दुस्तानी जानने वाली जनता तथा हिन्दुस्तानी साहित्य को तीन भागों मे बाँट दिया

लिये गान्धीजी अपनी गुजराती पर) अपने राजनीतिक प्रयोग करें। यदि उन्होंने हमारी हिन्दी को बिगाड़ने का प्रयत्न किया ही, तो गहरा झगडा होगा। किसी भी भाषा को विकृत करने या उसे अपने अधिकारों से वञ्चित करने का प्रयत्न मजाक नहीं है। हम राष्ट्र-भाषा की वेदी पर अपनी हिन्दी की बलि देने के लिये तैयार नहीं। हम 'हिंदुस्तानी' की खातिर किसी भी प्रान्तीय या केन्द्रीय प्रकरण में हिन्दी—जैसी भी हमारी हिन्दी आज है अर्थात् जिस भाषा का आज 'हिन्दी' नाम से बोध होता है—छोड़ नहीं सकते। यदि अहिन्दियों को हिन्दी की किसी भी शैली को गढकर राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने का अधिकार है, तो हमें भी अधिकार है कि हम उसे राष्ट्र-भाषा न मानें, अपने घर में उसे न घुसने दें, उसे न पढें और न अपने बच्चों को पढने दें और उसका भरपूर विरोध भी करें। रक्खें वे अपनी 'हिन्दुस्तानी' अपने पास, और यदि रख मिले तो उसे जीवित रक्खें। (परतु उन्हें जीवित रख नहीं मिलेगी* ।) हिन्दी केवल हिन्दीवालों के हाथ में है।

---

* अगर उन्हें अपनी 'हिन्दुस्तानी' जीवित रख भी मिली, तो कमसे कम अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान हमारी अपनी विशिष्ट संस्कृति का प्रतीक हिन्दी भी तो अपने क्षेत्र में रहेगी। यदि हिन्दी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती, तो अन्य प्रान्तीय संस्कृतियों और भाषाओं की भाँति हमारी विशिष्ट संस्कृति और उसका प्रतीक हमारी विशिष्ट भाषा हिन्दी तो रहनी ही चाहिये, और उसे अन्य प्रान्तीय संस्कृतियों और भाषाओं के समान अपने क्षेत्र में और केन्द्र में वही स्थान तो मिलना ही चाहिये।

यदि आज कोई 'किंग्स इङ्गलिश' छोटकर एक ससार-भाषा गढ़ने के निमित्त संसार की पॉच छै तरह की अङ्गरेज़ियों जैसे अङ्गरेज़ों की अङ्गरेज़ी, अमरीकन अङ्गरेज़ी, बाबू अङ्गरेज़ी, पिजिन (Pidgin) अङ्गरेज़ी, आदि को मिला कर तुर्की, चीनी और जापानी का छौंक देकर और अङ्गरेज़ी के आधे ग्रीक और लैटिन शब्द निकाल कर उनके स्थान में संस्कृत और अरबी शब्द धरकर एक 'मिली जुली' अङ्गरेज़ी शैली गढ़े (और उसे पाँच छै लिपियों में लिखे), तो कम से कम अङ्गरेज़ तो उसे ससार-भाषा न मानेंगे, उसे इङ्गलैंड में किसी रूप

दर्जे में किस लिपि मे पढ़ाया जाता ! इस भीषण कठिनाई का अनुभव 'हिन्दुस्तानी' वाली राष्ट्रीयता के ठेकेदारों ने भी किया, अतः लखनऊ विश्वविद्यालय के उसी प्रस्ताव में जिस में 'हिन्दुस्तानी' को माध्यम बनाना स्वीकार किया गया है, 'हिन्दुस्तानी' के लिये तीन लिपियाँ स्वीकार की गई हैं—देवनागरी, फ़ारसी लिपि और रोमन। और मालूम हुआ है कि इस समय लखनऊ विश्वविद्यालय में जितनी पढ़ाई 'हिन्दुस्तानी' में हो रही है, और जितना अन्य काम (जैसे विश्वविद्यालय के नोटिस, आज्ञा-पत्र, आदि) 'हिन्दुस्तानी' में हो रहा है, उस सब मे अकेली और केवल रोमन लिपि का प्रयोग हो रहा है। ऐसा होना अनिवार्य है। 'दोनों लिपि' वाद के रहते जो इस स्थिति को बदलने की आशा रखता है उसे पहले मानव-प्रकृति को बदलना पड़ेगा। जो लखनऊ विश्वविद्यालय में हो रहा है वही 'हिन्दुस्तानी' को माध्यम घोषित करके नाम लूटने वाले अन्य विश्वविद्यालयों में होगा। 'हिन्दुस्तानी' की यही हिन्दुस्तानी पोशाक होगी !

पाठकों का ध्यान एक और तीसरी बात की ओर भी खींचना उचित जान पड़ता है। कुछ दिन हुये (अप्रैल, १६४७), पत्रों में आया था कि विधान परिषद की अल्पसंख्यक-परामर्श समिति (Advisory Committee for Minorities) ने कच्चे तौर पर यह तय किया है कि भारत की राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' हो जो देवनागरी या फ़ारसी लिपि में लिखी जाय, तथा इस पर यह सुझाव पेश किया गया है कि 'हिन्दुस्तानी' की लिपि रोमन हो क्योंकि 'इससे अभारतीयों को भारतीय मामले समझने में आसानी होगी', और समिति ने अभी तक इस सुझाव पर अपना निर्णय नहीं दिया है। अनुमान करना कठिन नहीं कि इस सुझाव को पेश करने वाले कौन हैं। उनकी राय मे भारतीयों की अपेक्षा अभारतीयों को भारतीय मामले समझाना ज्यादा जरूरी है, और चाहे करोड़ों भारतीयों को एक नई विदेशी लिपि सीखना पडे परन्तु थोड़े से विदेशियों को एक भारतीय

वालों की चाल को विफल करें और अपनी हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करें। बस, यही हिन्दुस्तानी-मारक अमोघ अस्त्र है।

अब प्रश्न उठता है कि हिन्दी प्रान्तों में उर्दू का क्या स्थान होना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं*, परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें बिलकुल स्पष्ट हैं। पहली यह कि हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को उससे अधिक स्थान कदापि नहीं मिल सकता जो अन्य प्रान्तों में अल्पमत की भाषाओं को दिया जायगा, और दूसरी यह कि वह स्थान भी उर्दू को तभी मिल सकता है जब उर्दू प्रान्तों में, खास तौर से पंजाब में, हिन्दी को वही स्थान दिया जाय। पहली बात के सम्बन्ध में न्याय का तकाजा है कि व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ तक संभव हो सरकार प्रत्येक को कम से कम आरम्भिक शिक्षा अपनी मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा प्राप्त करने की सुविधा दे, परन्तु साथ ही साथ प्रान्त की एक कामन भाषा और लिपि हो (जो उस प्रान्त की मुख्य भाषा और लिपि हो) जिसे उस प्रान्त की राज-भाषा बनाया जाय और जिसका पढ़ना प्रत्येक के लिये अनिवार्य किया जाय। इन सिद्धान्तों को हिन्दी प्रान्तों पर लागू करने से यह निष्कर्ष निकलता है (जनपद आन्दोलन को ध्यान में रखते हुये)—

(१) युक्त-प्रान्त में ब्रज, अवधी, बुन्देली, आदि मुख्य बोलियों में, बिहार में भोजपुरी, मैथिली और मगाही में, और मध्य-प्रान्त में कोशली में प्राथमिक शिक्षा दी जा सकती है। हिन्दी और बिहारी की सब बोलियों की लिपि केवल एक, देवनागरी, होगी।

(२) यदि किसी पर्याप्त विशाल जनपद का बहुमत जनपदीय बोली में प्राथमिक शिक्षा की माँग करता है, तो उस जनपद के उसी बोली को बोलने वाले किसी अल्पमत सम्प्रदाय को (जिसमें सम्भवतः अधिकतर

* देखिये 'राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन', पृष्ठ १४१-४६ और पृष्ठ १९०।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर सब भारतीय भाषाओं में से केवल हिन्दी के साथ अन्याय किया जायगा। सब भारतीय भाषाओं में खबरें होंगी, यहाँ तक पंजाबी और पश्तों में भी खबरें होंगी, परन्तु हिन्दी में खबरें नहीं होंगी। सब प्रान्तीय भाषाओं में स्त्रियों, बालकों, आदि के प्रोग्राम अबाध रूप से होंगे, परन्तु हिन्दी के प्रोग्रामों का 'बड़ा भाग' 'हिन्दुस्तानी' में होगा। इस घोषणा का सबसे भयंकर भाग वह है जिसमें 'हिन्दुस्तानी' के समर्थन में तर्क दिये गये हैं। प्रत्येक हिन्दी प्रेमी दिल पर हाथ रखकर सोचे कि इन तर्कों का क्या मतलब है और ये तर्क हिन्दी के कैसे भविष्य की ओर संकेत करते हैं। मुख्य तर्कों पर ध्यान दीजिये :

(१) 'हिन्दुस्तानी' उत्तरी भारत में आम तौर से बोली जाने वाली और समझी जाने वाली भाषा है जो देवनागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती है। (उर्दू लिपि फिर 'उर्दू लिपि' क्यों कहलाई !) अपने दिल के चोर को न छिपा सकने के कारण घोषणा के अन्त में सरकार कहती है, "हिन्दुस्तानी की यह परिभाषा दोनों रेडियो-कमेटियों ने की है।"

(२) सरकार अनुभव करती है कि बहुत से सुनने वाले यह नहीं चाहते कि ऐसी ('यह' नहीं !) भाषा हिन्दीवालों और उर्दूवालों के विवाद में पिस जाय।

(३) अतः सरकार चाहती है कि आम जनता और आम सुनने वालों के लिये, साहित्यिक हिन्दी और साहित्यिक उर्दू के अतिरिक्त और उनसे अलग, 'सरल हिन्दुस्तानी' में प्रोग्राम हों, तथा साहित्यिक रुचि वालों के लिये हिन्दी और उर्दू में प्रोग्राम हों।

(४) सरकार को आशा है कि उसके निर्णय आम जनता को पसंद आवेंगे, यद्यपि संभव है उनसे उन दो दलों को पूर्ण संतोष न हो जिनके बीच में विवाद है।

इन तर्कों का स्पष्ट अर्थ यह है कि सरकार की दृष्टि में हिन्दी उत्तरी

सुविधाजनक और सस्ता होगा कि लखनऊ विश्वविद्यालय में दोनों माध्यमों का प्रबन्ध हो और प्रयाग विश्वविद्यालय का माध्यम केवल हिन्दी हो। युक्त-प्रान्त में हिन्दी माध्यम वाले और उर्दू माध्यम वाले छात्रों में ऐसा अनुपात है कि प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रों की संख्या लखनऊ विश्वविद्यालय के कुल छात्रों से फिर भी अधिक ही होगी। आवश्यकतानुसार प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यापकों का लखनऊ विश्वविद्यालय को और लखनऊ विश्वविद्यालय के अध्यापकों का इलाहाबाद को तबादला किया जा सकता है। (आगरा विश्वविद्यालय केवल परीक्षक विश्वविद्यालय है और इसलिये उस विश्वविद्यालय की समस्या वास्तव में केवल उसके अन्तर्गत कालेजों की समस्या है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय का माध्यम उर्दू और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का माध्यम हिन्दी तो होगा ही।)©

(५) तीनों हिन्दी प्रान्तों—युक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य प्रान्त—की शासन भाषा और राजभाषा इन प्रान्तों की मुख्य साहित्यिक भाषा नागरी हिन्दी होगी और इन प्रान्तों के प्रत्येक निवासी के लिये हिन्दी भाषा का विषय अनिवार्य होगा (जिस प्रकार आजकल अँगरेजी भाषा का विषय सबके लिये अनिवार्य है)। स्पष्ट है, हिन्दी माध्यम लेने वालों को हिन्दी विषय अलग से नहीं पढ़ना पड़ेगा, परन्तु उर्दू माध्यम वालों को पढ़ना पड़ेगा। उनके लिये हिन्दी भाषा का विषय माध्यमिक स्टेज से रक्खा जाय, और उसका स्टैंडर्ड कम से कम इतना हो कि माध्यमिक पढ़ाई समाप्त होने तक हिन्दी में इतनी योग्यता आ जाय जितनी आज प्रथम भाषा हिन्दी लेने वाले छात्र को हाई स्कूल पास करने तक आती है। पढ़ाई का बोझ सब पर समान करने के हेतु हिन्दी माध्यम वाले छात्रों के लिये माध्यमिक स्टेज

© भारत के विभाजन से जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसमें हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को भी माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकृत नहीं किया जा सकता। देखिये परिशिष्ट १७।

सम्मेलन का प्रतिनिधि लिया गया था, के सामने 'हिन्दुस्तानी' पर राय देने का सवाल ही नहीं था। उसे तो केवल 'हिन्दुस्तानी' की शब्दावली गढ़ने का आदेश दिया गया था, और वह यह कार्य न कर सकी। उसमें अंजुमन तरक्की उर्दू के प्रतिनिधि ने स्पष्ट कहा कि 'हिन्दुस्तानी' का किस्सा खत्म किया जाय और हिन्दी और उर्दू में अलग अलग समाचार हों, तथा सम्मेलन के प्रतिनिधि ने इसका अनुमोदन किया। सरकार ने इस बात को क्यों छिपा लिया? दो सदस्यों की एक राय होते हुये अकेले सदस्य अर्थात् हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के प्रतिनिधि की बात सरकार ने क्यों मानी? ऊपर से तुर्रा यह है कि सरकार ने हिन्दी और उर्दू के समर्थकों को विवादी दल ठहराया है और आप निष्पक्ष मध्यस्थ बनने का दावा किया है। झगड़ा केवल दो दलों—हिन्दी वालों और उर्दू वालों—के बीच में नहीं है। झगड़े में हिन्दुस्तानी वालों की पार्टी भी उतनी ही शामिल है। परन्तु सरकार ने इस तीसरे झगड़ालू दल का नाम नहीं लिया। उल्टे वह इसके साथ एकाकार हो गई है। वह निष्पक्ष जज नहीं रही वरन् इस तीसरी पार्टी का वकील बन गई है। सरकार के 'हिन्दुस्तानी' के साथ घोर पक्षपात का एक और सबूत है। सरकार घोषणा मे स्वय कहती है कि पत्र-पत्रिकाओं के सर्कुलेशन के आधार पर प्रत्येक स्टेशन मे हिन्दी और उर्दू प्रोग्रामों का अनुपात निर्धारित किया गया है। हम जानना चाहते हैं कि वे 'हिन्दुस्तानी' की पत्र-पत्रिकायें कौन सी हैं जिनके सर्कुलेशन के आधार पर सरकार ने सब स्टेशनो में 'हिन्दुस्तानी' को पृथक प्रतिनिधित्व दिया है, यहा तक कि दिल्ली मे २० प्रतिशत दिया है? हम तो 'हिन्दुस्तानी' की एक भी पत्रिका का नाम नहीं जानते*। फिर, दूसरी रेडियो कमेटी ने यह कहीं नहीं कहा

* केवल नाम रखने से भाषा 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो जाती। गांधी जी के 'हरिजनसेवक' या पं० सुन्दरलाल की 'विश्ववाणी' या डा० ताराचन्द के 'नया हिन्द' की भाषा हिन्दुस्तानी की किसी भी परिभाषा पर खरी नहीं उतरती। वह है ख़राब उर्दू, रेडियो की 'हिंदुस्तानी' से भी बदतर।

स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय में, यदि हिन्दी माध्यम वाले छात्रों की संख्या एक निश्चित सीमा से कम न हो, वास्तव में, व्यवहार में हिन्दी माध्यम का प्रबन्ध हो। (यह हो सकता है कि किसी क्षेत्र में बहुमत के माँगने पर शिक्षा का केवल एक माध्यम पंजाबी या पश्तो या सिन्धी स्वीकृत हो, तब वहाँ न उर्दू माध्यम होगा न हिन्दी माध्यम।)*

ऊपर की योजना दार्शनिक और तार्किक दृष्टि से आदर्श और निर्दोष नहीं कही जा सकती। इसकी समालोचना करना आसान है। परन्तु मनुष्य का जीवन भी पूर्ण और निर्दोष नहीं है। परिस्थितियों और व्यावहारिक कठिनाइयों को देखते हुये, गहरा विचार करने के बाद लेखक निश्चित रूपसे कह सकता है कि इस योजना से मूलत भिन्न कोई दूसरी योजना संभव नहीं×।

---

* पाकिस्तान बन जाने के बाद पाकिस्तान के अधिकारियों ने जो घोषणायें की हैं उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि उर्दू प्रांतों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम केवल उर्दू होगा। यद्यपि सिंध के शिक्षा-मंत्री ने यह कहा है कि प्राथमिक शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से दी जायगी, इसकी कोई आशा प्रतीत नहीं होती कि पाकिस्तान सरकार पंजाब, सिंध और सीमा-प्रांत में हिंदी भाषियों के लिये हिन्दी द्वारा प्राथमिक शिक्षा ही देने का प्रबंध करेगी। देखिये परिशिष्ट १७।

× अच्छा हो यदि हिन्दी वाले और उर्दू वाले मिल कर बैठें और आपस में हिन्दी तथा उर्दू प्रान्तों के लिये एक समान व्यवस्था तय कर डालें, जिसमें हिन्दी और उर्दू के साथ, एक भाषा के दो रूप होने के नाते, समान व्यवहार किया जाय, और फिर हिन्दी तथा उर्दू प्रान्तों में ईमानदारी के साथ प्रत्येक विभाग में हिन्दी और उर्दू को अपना अपना तय पाया हुआ स्थान दे दिया जाय। हिन्दी उर्दू के व्यर्थ के झगड़े को मिटा डालने का यही एक मात्र उपाय है। यदि ऐसा कर लिया गया तो हिन्दुस्तानी वाले टापते रह जायँगे। वे हिन्दी उर्दू के झगड़े से लाभ उठाते हैं। हमें उर्दू वालों से कहना चाहिये कि इस हिन्दुस्तानी से हिन्दी और उर्दू दोनों को खतरा है, हम हिन्दी और

हिन्दी नही चाहता, हिन्दी नहीं समझता, 'हिन्दुस्तानी' चाहता और समझता है, कल सरकार कहेगी कि हिन्दी प्रदेश का 'कामन मैन' तुलसी और सूर को नही समझता, रामचरित-मानस पढना नही चाहता वरन् उसका 'हिन्दुस्तानी' में सरकारी अनुवाद पढना चाहता है ! जिस प्रकार सरकार ने हिन्दी के प्रोग्रामों को 'साहित्यिक रुचि' वालों के निमित्त बताकर हिन्दी को एक किनारे कर दिया है उसका तो यही अर्थ निकलता है कि सरकार की राय में जो भी व्यक्ति हिन्दी पढ़ता है वह 'साहित्यिक रुचि' वाला है और सिवा 'साहित्यिक रुचिवालों' के कोई और हिन्दी नहीं समझता ! जो भी हो, जब सरकार ने स्वय हिन्दी, उर्दू और 'हिन्दुस्तानी' का पृथक पृथक अस्तित्व स्वीकार किया है और तीनों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया है, तो सरकार तीनो मे पृथक समाचार भी क्यो नहीं देगी ? जब सरकार बँगला जाननेवालों के लिये (साहित्यिक) बँगला मे, गुजराती जाननेवालों के लिये (साहित्यिक) गुजराती मे यहाँ तक कि अँगरेजी जाननेवालो के लिये (साहित्यिक) अँगरेजी में खबरे देगी और दे रही है, तो हिन्दी जाननेवालो के लिये हिन्दी मे खबरें क्यो नही देगी ? हिन्दी के साथ ही विशेष व्यवहार क्यो ? क्या हिन्दी समझनेवालों की संख्या अँगरेजी समझनेवालों की सख्या से भी कम है ? क्या 'कामन मैन' और 'कामन लिसनर' उस अँगरेजी को समझता है जिसमें खबरें होती हैं, परन्तु हिन्दी नही समझता ? यदि सरदार पटेल को 'कामन मैन' की इतनी चिन्ता है तो वे अँगरेजी की खबरें और अँगरेजी के प्रोग्राम क्यो नहीं बन्द करते ? लखनऊ से, उदाहरण के लिये, अँगरेजी में भी खबरे होती हैं। क्या सरकार कोई कारण बता सकती है कि इन अँगरेज़ी की खबरों के स्थान मे हिन्दी की खबरें ब्राडकास्ट करने से 'कामन मैन' का अधिक लाभ क्यो न होगा ? स्पष्ट है, सरकार हिन्दी के साथ भारत की अन्य भाषाओ के साथ किये गये व्यवहार से भिन्न व्यवहार नहीं कर सकती। जिस प्रकार सरकार बंगालियो, गुजरातियो, आदि

यह योजना तो ठीक है, और हिन्दी प्रान्तों में इसको कार्यान्वित करना भी उनके हाथ में है, परन्तु यदि उर्दू प्रान्त इस योजना के अनुसार अपने यहाँ हिन्दी को स्थान न दे, तो क्या किया जायगा ? यह प्रान्तीय स्वायत्त शासन (प्राविंशियल आटानमी) का जमाना है, शिक्षा का विषय न केन्द्रीय सरकार के पास है और न कभी होगा, अर्थात् केन्द्रीय सरकार राष्ट्रभाषा या प्रान्तों की भाषा के मामले में अपना फैसला प्रान्तों पर लादने में असमर्थ है (केन्द्रीय सरकार अधिक से अधिक यह तय कर सकती है कि केन्द्र का सरकारी व्यवहार किस भाषा में हो), और प्रत्येक प्रान्त भाषा के विषय में अपने यहाँ मनचाही व्यवस्था करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। हिन्दियों को भूलना नहीं चाहिये कि लक्षणों से मालूम होता है कि उर्दू प्रान्त उर्दू लिपि के सिवा किसी दूसरी लिपि को, और उर्दू के सिवा किसी दूसरी हिन्दुस्तानी को, बतौर राष्ट्रभाषा के या बतौर अपने यहाँ की जनता के एक भाग की भाषा के, कोई स्थान देने को तैयार नहीं। उर्दू प्रान्तों में इस मामले में हस्तक्षेप करने में कांग्रेस भी असमर्थ है—केन्द्रीय सरकार द्वारा अथवा उर्दू प्रान्तों की प्रान्तीय सरकारों द्वारा, और असमर्थ रहेगी। कहने का मतलब यह है कि जिस प्रकार उर्दू प्रान्त गांधी जी की हिन्दुस्तानी के मार्ग में बाधक हैं, उसी प्रकार ये प्रान्त ऊपर वाली योजना के मार्ग में भी बाधक हैं। उर्दू प्रान्त इस योजना के अनुसार हिन्दी को स्थान आसानी से कभी न देंगे। इतना ही नहीं, उल्टे उर्दू वाले हिन्दी प्रान्तों में बड़े जोर शोर से यह आन्दोलन करेंगे कि उर्दू का सब जगह हिन्दी के समकक्ष स्थान दिया जाय, अर्थात् हिन्दी के साथ साथ उर्दू भी राजभाषा बनाई जाय, उर्दू माध्यम वालों के लिये हिन्दी भाषा का विषय अनिवार्य न किया जाय, और यदि किया जाय तो हिन्दी माध्यम वालों के लिये उर्दू भाषा का विषय अनिवार्य किया जाय, आदि। अपनी 'अपीज़मेन्ट पालिसी' के कारण कांग्रेस इस आन्दोलन से सहयोग करेगी। हिन्दियों को अपने रास्ते में

अलावा कोई दूसरा स्टेशन नहीं पहुँचता। और देश में अथवा इन हिन्दी-प्रधान क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार उर्दू के प्रचार से कई गुना है। ऐसी स्थिति में दिल्ली मे हिन्दी और उर्दू को बराबर प्रतिनिधित्व क्यों दिया गया ? लाहौर और पेशावर मे हिन्दी को वेटेज देना तो दूर रहा, सरकार ने हिन्दी को उसके प्राप्य से भी कम दिया है। पजाब में सब हिन्दू बालिकायें और स्त्रियाँ हिन्दी पढती और जानती हैं। लाहौर मे हिन्दी को १५ प्रतिशत तो केवल इसी आधार पर मिलना चाहिये, परन्तु सच यह है कि बालकों के मामले में भी पजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी की परीक्षाओं में बैठने वालो की सख्या उर्दू की परीक्षाओ मे बैठने वालो से अधिक है। ऐसी स्थिति मे लाहौर में हिन्दी को क्या उर्दू के मुकाबिले ❋ मिलना चाहिये था ? और पेशावर मे हिन्दी बिलकुल नदारद है, यद्यपि सीमा-प्रान्त मे अनेक हिन्दी स्कूल हैं और वहाँ की सब हिन्दू बालिकाये और स्त्रियाँ हिन्दी ही पढती और जानती हैं और बहुत से हिन्दू बालक भी हिन्दी पढते और जानते हैं। लखनऊ मे भी हिन्दी को उसके प्राप्य से कम दिया गया है, और 'हिन्दुस्तानी' का पूरा भाग हिन्दी के हिस्से मे से छीना गया है। यह है सरदार पटेल का 'राष्ट्रीय न्याय' ! एक हिन्दू के लिए हिन्दी का गला काट कर उर्दू का घर भरना और हिन्दी के भाग को कम करके उर्दू के साथ उदारता दिखाना उससे भी निकृष्ट साम्प्रदायिकता है जितनी हिन्दी को उसके प्राप्य से अधिक देना होती।

घोषणा की कुछ अन्य उल्लेखनीय बाते ये हैं (१) घोषणा में कहा गया है कि 'हिन्दुस्तानी' के प्रोग्रामों की व्यवस्था हेडक्वार्टर का स्टाफ करेगा, परन्तु यह नहीं बताया गया कि किस प्रकार करेगा। 'हिन्दुस्तानी' का कोई निश्चित स्वरूप नहीं, 'हिन्दुस्तानी' के लेखक नहीं, फिर लेखकों को 'हिन्दुस्तानी' की चीजें सरकारी हिन्दुस्तानी में लिखने के लिये कैसे विवश किया जायगा ? यदि इस दिशा मे कुछ न किया गया और लेखकों को अपनी

यही हिन्दी भी निकाल फेंकें ? युक्त-प्रान्त और बिहार की वर्तमान कांग्रेसी सरकारों की नीति इसी बात की सूचना देती है।*

हिन्दी का अपने कर्त्तव्य का ज्ञान और अपने कार्य के गुरुत्व का अनुमान हो गया होगा। एक ओर उसे अपने प्रान्तों से हिन्दुस्तानी को निकाल भगाना है, और दूसरी ओर उसे उर्दू वालों की अनुचित माँगों और उनके अन्याय का विरोध करना है। इन दोनों बातों में से किसी से मुँह मोड़ नहीं सकते। पहली बात तो बहुत साफ़ हो चुकी है, दूसरी भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हम १३ प्रतिशत× मुसलमानों के कारण, जिनमें से अधिकांश हिंदी बोलते या समझते हैं, न हिंदी को तुच्छ करने को तैयार हैं और न हम हिंदी प्रान्तों की दो दो राजभाषायें और राजलिपियाँ बनाकर अपने प्रान्तों की भावी उन्नति पर सदैव के लिये कुठाराघात कर सकते हैं— इस कारण और भी नहीं कि उर्दू प्रान्त भी ऐसा करने को तैयार नहीं हैं। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि उर्दू प्रान्तों की एक कामन भाषा उर्दू और एक कामन लिपि फ़ारसी लिपि हो, अन्य प्रान्तों की कामन भाषायें अपनी अपनी प्रान्तीय भाषायें हों, परन्तु हिंदी प्रान्तों की या तो कामन भाषा हो 'हिंदुस्तानी', या कोई कामन भाषा न हो, और लिपि हर हालत में कोई कामन न हो। ऐसी स्थिति में हमारे हिंदी प्रांत अन्य प्रान्तों के मुकाबले में पिछड़ जायँगे, और हमारे प्रांतीय जीवन का समुचित सांस्कृतिक विकास और संगठन न

* पंजाब के कांग्रेसी संयुक्त मन्त्रि-मंडल ने या सीमाप्रांत की कांग्रेसी सरकार ने हिन्दी के लिये न उँगली उठाई है और न उठायेगी। सिन्ध का तो ज़िक्र करना ही बेकार है। बहुत हुआ तो डा० खान साहब कह देंगे कि वे तो सीमा-प्रांत की जनता के नौकर हैं, जनता का बहुमत चाहेगा तो हिन्दी होगी। हाँ, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, श्रीकृष्ण सिन्हा और पं० रविशंकर शुक्ल वह करेंगे जो कांग्रेस हाई कमांड, मौलाना आज़ाद और गांधीजी चाहेंगे।

× युक्त-प्रांत, बिहार और मध्य-प्रांत में कुल मिलाकर ६ करोड़ ४० लाख (६४ मिलियन) हिन्दू हैं और १ करोड़ ४० लाख (१४ मिलियन) मुसलमान हैं। (देखिये उत्तर-परिशिष्ट २)

(दिल्ली से वह भी नहीं) 'मजलिस' शब्द निकाल दिया गया है, परन्तु चूँकि हिन्दुस्तानी 'सभा' नहीं समझ सकते, उसके स्थान में 'सुबू का प्रोग्राम', 'दोपहर का प्रोग्राम' और 'शाम का प्रोग्राम' धर दिया गया है। 'हिन्दुस्तानी' की चीजें पूर्ववत् उर्दू वालों और मुसलमानों को दी जा रही हैं और उनकी भाषा पूर्ववत शुद्ध उर्दू है जिसका अर्थ यह है कि उर्दू पेशावर, लाहौर, दिल्ली, और लखनऊ में ४५, ५६३, ४० और २० प्रतिशत नहीं, ५०, ६३३, ६० और ३० प्रतिशत है, और बम्बई, कलकत्ता और ढाका में हिन्दी के बराबर नहीं, दूनी है, और स्त्रियों, बालकों, आदि के तथाकथित हिन्दी प्रोग्रामों का दो-तिहाई भाग उर्दू में होता है। पेशावर और बम्बई मे स्त्रियो, बालको, आदि के प्रोग्रामो को हिन्दी मे अलग किया ही नहीं गया है, अर्थात् वहाँ वे पूर्ववत् केवल 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् उर्दू में हो रहे हैं। इसी प्रकार सैनिकों के प्रोग्राम, प्रवासी भारतीयों के प्रोग्राम, आदि भी हिन्दी मे अलग नहीं किये गये हैं और पूर्ववत् केवल 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् उर्दू मे हो रहे हैं। हिन्दी वालों को उनके पत्रो के उत्तर भी 'पयामी', 'जवाबी' गण पूर्ववत् अपनी 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् उर्दू में सुना रहे हैं। रेडियो की किसी पत्रिका से यह भी पता नहीं चल सकता कि कौन सा स्त्रियों या बालकों का प्रोग्राम हिन्दी का है, और कौन सा उर्दू का। रेडियो वालों की राय में दोनो प्रोग्राम सब स्त्रियों या बच्चों के लिये एक समान उपयुक्त हैं और सरकार ने महज मजाक के लिये इन प्रोग्रामो को अलग-अलग हिन्दी और उर्दू में करने के लिये कहा है, और इसीलिये सप्ताह के दोनों स्त्रियों (या बालकों) के प्रोग्रामों मे कोई अन्तर नहीं—दोनो के सचालक वही पुराने उर्दूदाँ लोग ('आपा', 'बाजी', आदि) हैं जो हिन्दी के पत्रो के उत्तर भी पहले दफ्तर से उनकी उर्दू में नकल करा कर देते हैं, दोनो मे वही 'आदाबअर्ज' चलता है और दोनों में हिन्दी और उर्दू की चीजें मिली-जुली होती हैं, अर्थात् केवल एक बार के बजाय दो बार प्रोग्राम होता है, और कुछ नहीं। प्रत्येक

मिटा देंगे। हम नहीं चाहते कि उर्दू, यद्यपि वह विदेशीयन से ओत-प्रोत है, के साथ अन्याय हो, हम उर्दू के साथ न्याय से नहीं, उदारता से पेश आना चाहते हैं, परन्तु हिंदी के साथ अन्याय हो, यह हमें असह्य है। हिंदी-प्रांतों में उर्दू को अपने प्राप्य से कहीं अधिक स्थान प्राप्त है, अब यदि कलह और संघर्ष होना है तो उसकी कुल जिम्मेदारी उर्दू प्रान्तों पर और उनके पृष्ठ पोषकों पर होगी। मुस्लिम रियासतों जैसे काश्मीर (काश्मीर में हिन्दू राजा के होते हुये भी चलती श्रीगुलामसैयदैन की ही है*) भोपाल और हैदराबाद, आदि में हिन्दी के साथ जो घोर अन्याय हो रहा है, और हिन्दू जनता के रुपये से उर्दू का जो अनर्गल पोषण हो रहा है उसका भी यही इलाज है। हिन्दी प्रान्तों की भाँति हिन्दी रियासतों में हिन्दियों को हिन्दी की प्रतिष्ठा करनी चाहिये, और जब तक मुस्लिम रियासतें हिन्दी के साथ न्याय न करें, तब तक उर्दू के साथ वही व्यवहार करना चाहिये जो मुस्लिम रियासतों में हिन्दी के साथ किया जाय। अन्य हिन्दू प्रान्तों में यद्यपि उर्दू के साथ वही व्यवहार करना हमारे हाथ में नहीं है जैसा बंगाल में लीगी-सरकार हिन्दी के साथ बरतती है,×

---

*देखिये 'राष्ट्रभाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन परिशिष्ट ४।

×बंगाल की लीगी सरकार के सेकंडरी एजूकेशन बिल का असली उद्देश्य बंगाल में उर्दू और 'मुस्लिम बंगला' प्रचार के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू प्रान्तों में मुसलमान जो चाहते थे सो कर चुके, सिन्ध में भी जो चाहते थे सो कर चुके (सिन्धी का अरबीकरण), अब केवल बंगाल बाकी है, इस लिये वहाँ भी भाषा को एकदम उर्दू में बदल देने का या कम से कम उसका मुस्लिम संस्करण बनाने का आयोजन लीगी सरकार कर रही है। बंगाल की समस्त हिन्दू जनता, जो वहाँ ४२ प्रतिशत से अधिक है, के विरोध के बावजूद लीगी सरकार अपनी चन्द अधिक वोटों के बल पर सेकंडरी एजूकेशन बिल पास कराने पर तुली हुई है। ऐसा क्यों न हो! मुसलमान भाषा का महत्व समझते हैं, वे जानते हैं कि मुस्लिम-संस्कृति-प्रचार की पहली सीढ़ी भाषा का इस्लामी करण है। आश्चर्य तो इस बात का है कि यह सब देख सुनकर भी

उड़ीसा, बंगाल, आसाम, आदि—के मुसलमानों द्वारा पेश की जायँगी। इन माँगों का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। आन्ध्र को ही लीजिये। आन्ध्र के मुसलमानो की माँग का सीधा-सादा अर्थ यह है कि आन्ध्र के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन को बीच से दो-टूक कर दिया जाय, साम्प्रदायिक अलगाव और कटुता के बीज बोये जायँ, करदाताओं का रुपया (जो हिन्दुओं की जेब से ही आवेगा) अलग उर्दू स्कूल और कालेज खोलने में फूँका जाय, शिक्षा के व्यय को व्यर्थ दूना किया जाय और शासन की कठिनाइयाँ सहस्र गुना बढ़ाई जायँ, क्योंकि यह निश्चित है कि इस माँग के बाद यह माँग पेश की जायगी कि राजकार्य में उर्दू को तेलगू के समकक्ष स्थान दिया जाय। एक ओर तो भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्निर्माण की चर्चा ज़ोरों से चल रही है, दूसरी ओर गांधीजी हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' करने और उर्दू लिपि के प्रचार में इस उद्देश्य से जुटे हुये हैं कि मुसलमान खुश हो जायँ और भाषा की 'एकता' स्थापित हो जाय, और इधर मुसलमान एक ऐसे प्रान्त मे ही भाषा का पाकिस्तान बनाने की माँग कर रहे हैं जो अब तक भाषा और संस्कृति की दृष्टि से एक रहा है! पता नहीं, डा० पट्टाभि सीतारमैय्या को, जो तेलगू भाषी आन्ध्र को भाषा के आधार पर एक पृथक प्रान्त बनाने के लिये यत्नशील हैं, आन्ध्र के भीतर ही एक अलग उर्दुस्तान बनाने की माँग कहाँ तक रुचेगी, और गांधीजी, जो प्रान्तीय प्रकरणों मे प्रान्तीय भाषा के प्रयोग पर और राष्ट्रीय प्रकरणों में राष्ट्र-भाषा (अर्थात् अपनी 'हिन्दुस्तानी') के प्रयोग पर जोर देते हैं, अहिन्दी प्रान्तों के मुसलमानों की इस प्रकार की माँगों का कहाँ तक समर्थन करेंगे।

कहना कठिन है कि विभिन्न अहिन्दी प्रांतों (बंगाल को छोड़कर, जहाँ की लीगी सरकार 'हिन्दुई भाषा' बँगला को निकाल कर उर्दू की प्रतिष्ठा करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खेगी) की कांग्रेसी सरकारें इस

उर्दू का विरोध नहीं करते, केवल हिन्दी का स्थान माँगते हैं, उसी प्रकार यदि हम रेडियो में हिन्दुस्तानी के प्रयोग का सफल विरोध करने में असमर्थ हैं, तो भी हम अपनी प्रान्तीय भाषा हिन्दी की माँग तो कर ही सकते हैं* । फिर 'हिन्दुस्तानी' किसके लिये हो, यह केन्द्र सोचे—हम 'हिन्दुस्तानी' के लिये जिम्मेवार नहीं। यदि आज युक्त-प्रांत की सरकार केन्द्रीय सरकार को यह लिख कर भेजे कि लखनऊ से प्रोग्राम केवल युक्त-प्रान्त की जनता के लिये होते हैं, उनसे किसी दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिये कम से कम लखनऊ स्टेशन की भाषा-नीति युक्त-प्रान्त की सरकार के सलाह मशविरे से तय होनी चाहिये, तो क्या केन्द्रीय सरकार इन्कार कर सकती है ?

साराश यह कि सब प्रकार से हिन्दी की रक्षा और हिन्दी का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि हिन्दी-जन स्वयं अपने प्रान्तों में हिन्दी की कैसी प्रतिष्ठा करते हैं, और हिन्दी प्रान्तों की सरकारें भाषा के विषय में हिन्दियों की भावना का किस हद तक प्रतिनिधित्व करती हैं और हिन्दी के लिये क्या कुछ करने को तैयार हैं। अतः हमारा कार्यक्रम क्या होना चाहिये, यह स्पष्ट है। हमें हिन्दियों को जाग्रत करना चाहिये, उनमें हिन्दुस्तानी-वाद के विरुद्ध ऐसे तीव्र विरोध का सचार करना चाहिये कि हिन्दुस्तानी वालों की अकल ठिकाने आ जाय। हमें हिन्दी प्रान्तों में आग लगा देनी चाहिये। हमें हिन्दियों को खोलकर स्पष्ट शब्दों में बताना चाहिये कि हिन्दुस्तानी हिन्दी और केवल हिन्दी के अस्तित्व पर कुठाराघात है। इतिहास में किसी भी भाषा को नष्ट या विकृत करने के प्रयत्न से उस भाषा-भाषी जाति में सदैव घोर असन्तोष फैला है। हिन्दुस्तानी से हिन्दी को क्या खतरा है, हिन्दियों को यह बताना हमारा काम है। हिन्दी में हमारा क्या है, यह भी हमें सोई हुई जनता को बताना होगा। हम सूर और तुलसी की देन को छोड़ नहीं सकते। हम भारतेन्दु का उपदेश "निज भाषा उन्नति अहै, सब

*देखिये उत्तर—परिशिष्ट २।

मुसलमानों की मनोवृत्ति और उर्दू के प्रति उनके अनुचित आकर्षण के इतने सबूत मिल चुके हैं कि इसमें सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं कि विभिन्न अहिन्दी प्रान्तों के मुसलमान प्रान्तीय भाषायें त्याग कर उर्दू अपनायगे, और इसके वही परिणाम होंगे जो ऊपर बतलाये गये हैं। उर्दू और उर्दू लिपि के स्टीमरोलर के नीचे काश्मीर, पजाब और हैदराबाद की देशी भाषायें और लिपियाँ पिस चुकी हैं। पजाबी पर उर्दू का इतना ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है कि उसका मूल संस्कृत-बहुल रूप बिलकुल बदल गया है। पजाबी मुसलमान जब पंजाबी लिखते ही हैं तो उसे उसकी स्वाभाविक लिपि गुरुमुखी के बजाय उर्दू लिपि में लिखते हैं, और पजाब विश्व-विद्यालय को पजाबी के लिये गुरुमुखी और उर्दू लिपि दोनों को स्वीकार करना पड़ा है। सीमा-प्रात में पश्तो पर उर्दू छाती जा रही है। सिन्ध में मुसलमानों को सिन्धी तभी सह्य हुई जब उन्होंने उसमें जी भर कर अरबी और फ़ारसी ठूँस ली और उसकी मूल लिपि देवनागरी हटा कर फ़ारसी लिपि धर ली। सिन्धी का अरबीकरण अब भी जारी है, और चूँकि सिन्ध में मुसलमानों का बहुत बड़ा बहुमत है, उन्होंने सिन्धी हिन्दुओं को भी अपनी अरबी फ़ारसी-मयी सिन्धी और फारसी लिपि स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया है। तिस पर भी सिन्ध में उर्दू को खूब प्रोत्साहन दिया जा रहा है।* यह कहना बिलकुल यथार्थ होगा कि गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी' नहीं 'वरन् उर्दू', और 'दोनों लिपि' नहीं, वरन् केवल उर्दू लिपि इस समय भी पूरे पश्चिमी पाकिस्तान की और उसके अलग अलग भागों—पजाब, काश्मीर, सीमा-प्रान्त, बलूचिस्तान—की भी, कामन भाषा और लिपि बन चुकी हैं। उर्दू पूरे हैदराबाद की भी डीफ़ैक्टो कामन भाषा और साहित्यिक भाषा है। उर्दू के प्रभाव के कारण हैदराबाद की देशी भाषाओं मराठी और तेलगू का

* अब तो सिन्धी का बिलकुल बहिष्कार किया जा रहा है और उसके स्थान में उर्दू की प्रतिष्ठा की जा रही है। आगे 'पुनर्लेख' देखिये।

(१) प्रत्येक जिले में एक हिन्दी-रक्षा-संघ स्थापित किया जाय, जिसका उद्देश्य बिहार (मुजफ्फरपुर) के सुहृत-संघ की भाँति सब उपायों से 'हिन्दुस्तानी' का विरोध और हिन्दी की रक्षा करना हो। एक शब्द में, ये हिन्दी-रक्षा-संघ ही हमारे हिन्दी आन्दोलन के हाथ पैर होंगे। इन संघों की नीति को संगठित रूप से संचालित करने के लिये प्रत्येक हिन्दी प्रान्त में एक प्रान्तीय हिन्दी-रक्षा-संघ स्थापित किया जाय जिसमें प्रान्त के सब संघों के प्रतिनिधि हों।

(२) हिन्दी जनता में प्रबल आन्दोलन किया जाय कि वह अपने बच्चों को 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू और उर्दू लिपि पढ़ाने से साफ इन्कार कर दे। जिन सरकारी स्कूलों में माध्यम 'हिन्दुस्तानी' हो, उनमें हिन्दी जनता अपने बच्चों को न भेजे। यदि सरकार 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू की शिक्षा अनिवार्य करे, तो उसके विरुद्ध सत्याग्रह करने के लिये हिन्दी जनता को तैयार किया जाय। हम न अपने बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर किसी को उर्दू का अतिरिक्त और अनावश्यक बोझ डालने दे सकते हैं (अँगरेज बच्चों को देखिये—उन्हें एक ही भाषा और लिपि सीखनी पड़ती है) और न उन्हे 'हिन्दुस्तानी' पढ़ने दे सकते हैं।

(३) अगले प्रांतीय चुनाव के लिये हिंदी जनता को अभी से तैयार करना आरम्भ कर देना चाहिये। हिंदी को चुनाव का एक मुद्दा (issue) बना देना चाहिये। हमें हिंदी जनता में ऐसी भावना भरनी चाहिये कि वह अगले चुनाव में प्रांतीय असेम्बलियों में ऐसे प्रतिनिधियों को चुनकर भेजे जो हिंदी प्रांतों से 'हिंदुस्तानी' को समूल निकालने की प्रतिज्ञा करें, हिंदी को हिंदी-प्रांतों की एकमात्र राजभाषा एवं कामन भाषा और देवनागरी को एकमात्र राजलिपि एवं कामन लिपि बनायें, उर्दू को उससे अधिक स्थान न दें जो उर्दू प्रांतों में हिंदी को दिया जाय, और दफ्तरों, पुलिस, कचहरियों आदि में अँगरेजी के साथ उर्दू को भी निकाल कर शीघ्र से

फारस और अरब की ओर, केवल शब्दों में ही नहीं बल्कि प्रत्येक महत्व-पूर्ण बात में—शब्दों के रूपों मे, अलकारो मे, उपमाओं में, छन्दों मे, व्याकरण मे, सस्कृति में और लिपि मे। जब तक दोनो की दिशा एक न हो, तब तक उनका एक होना और गाधीजी की सरस्वती का प्रकट होना असंभव है। और बात यह है कि हिन्दी की दिशा या प्रवृत्ति वही है जो अन्य प्रान्तीय भाषाओं की। प्रत्येक प्रान्तीय भाषा और उर्दू मे सघर्ष का यही मूल कारण है। 'यह हिन्दी—उर्दू की समस्या' नही, भाषा के क्षेत्र मे हमारी वही चिर-परिचित हिन्दू—मुसलिम समस्या है। अभी यह हिन्दी—उर्दू के सघर्ष के रूप मे दिखाई देती है, शीघ्र ही वह उर्दू—बॅगला सघर्ष, उर्दू—तेलगू सघर्ष, उर्दू—तामिल सघर्ष, उर्दू—मराठी सघर्ष, उर्दू—गुजराती सघर्ष, आदि के रूप में दिखाई पडने लगेगी। बम्बई में उर्दू—मराठी और उर्दू—गुजराती युद्ध अपनी मध्यम अवस्था में पहुॅच चुका है, बॅगाल मे उर्दू और बॅगला का युद्ध आरम्भ हो गया है और मद्रास मे उर्दू—तेलगू और उर्दू—तामिल युद्ध आरभ होने जा रहा है। गाधी जी ने बीमारी को जड़ तक न पहुॅच कर बीमारी के एक चिन्हमात्र की चिकित्सा करनी चाही है, और उनका इलाज—५०-५० प्रतिशतवाली 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनो लिपि'—बीमारी से भी अधिक भयकर है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, उससे बीमारी और बढेगी। गाधी जी का हिन्दुस्तानी-वाद उर्दू और विभिन्न प्रातीय भाषाओं के युद्ध मे सभी प्रान्तीय भाषाओ के परास्त और पददलित होने का कारण बनेगा। वह केवल हिन्दी की अखडता, शुद्धता और अस्तित्व पर ही नहीं, वरन् सभी प्रान्तीय भाषाओं की अखडता, शुद्धता और अस्तित्व पर कुठाराघात है। हिन्दुओं की शक्ति विभिन्न प्रातीय भाषाओं के बीच में, उनके पृथक पृथक विकास और साहित्य की अभिवृद्धि करने में वैसे ही बॅटी हुई थी, आज गाधी जी ने हिन्दी के कैम्प में जो फूट डाली है और जिस वाद को 'राष्ट्रीयता' का जामा पहनाया है, उसका

दौरा करके सर्वत्र हिंदी का प्रचार करें । इन प्रचारकों के कुछ विशेष काम ये होंगे:—१ जनता में यह आन्दोलन करना कि जनता अपने दैनिक जीवन में हिंदी का व्यवहार करे, अपना कुल निजी काम, बही-खाते, कारोबारी काम, पत्र-व्यवहार, आदि हिंदी में करे और व्यापारी-गण अपनी दूकानों पर साइनबोर्ड केवल हिंदी में लगावें, मोटरों और लारियों पर केवल हिंदी में लिखवावें, सिनेमा के इश्तिहार, साइनबोर्ड हिंदी में निकालें आदि, आदि, २. शिक्षित समाज में यह आन्दोलन करना कि प्रत्येक शिक्षित परिवार में कम से कम हिंदी का एक पत्र या पत्रिका अवश्य आवे, ३. सरकार ने इस समय भी हिंदी के लिये जो सुविधायें दे रक्खी हैं उनसे पूरा लाभ उठाने के हेतु पुलिस, म्यूनिसिपेलटी, रेलवे, मालगुजारी के दफ्तर, कोर्ट आफ़ वार्डस् के दफ्तर तथा अन्य दफ्तरों और महकमों में हिंदी की स्थिति की पूरी जानकारी प्राप्त करके उसे प्रमाण सहित अधिकारियों के सामने पेश करना और उन पर उचित कार्रवाई करने के लिये जोर डालना (हमारा उद्देश्य यह है कि केवल लिपि ही देवनागरी न हो वरन् भाषा भी हिंदी हो), ४ वकीलों में यह आन्दोलन करना कि वे सब अदालती काम हिंदी में करें, और उनकी सुविधा के लिये हिंदी का अदालती शब्द-कोष, फ़ारम, आदि प्रस्तुत करना, ५ धारा सभाओं के सदस्यों से मिलकर उनसे धारा-सभाओं में हिंदी के विषय में प्रश्न पुछवाना और सरकार पर यह जोर डलवाना कि वह एक हिंदी जाँच-कमेटी की नियुक्ति करे जो राज-व्यवहार और राज-काज में हिंदी की स्थिति की जाँच करके यह बतावे कि हिंदी को उचित स्थान देने के लिये सरकार को क्या क्या करना उचित है, और इस विषय में अपनी सिफ़ारिशें पेश करे, ६. शिष्ट-मण्डल बनाकर सरकारी अधिकारियों से मिलना और उन पर हिंदी के रास्ते की रुकावटें दूर करने के लिये और हिंदी को सर्वत्र उचित स्थान देने के लिये जोर डालना, ७. सार्वजनिक सभाओं में हिंदी के समर्थन में प्रस्ताव पास कराना और उनकी नकलें तथा अखबारों की कतरनें

भाषा के क्षेत्र मे अपीजमेन्ट पालिसी—'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि'-वाद अपीजमेन्ट के सिवा और कुछ नहीं—की भी वही गति होगी। उसमे केवल समस्या और दुरूह होगी (पहले बतलाया जा चुका है) और देश की वास्तविक राष्ट्र-भाषा हिन्दी का घोर अहित होगा। मुसलमान, जिनके लिये ही यह सब बखेड़ा खड़ा किया जा रहा है, हिन्दुस्तानी-वाद से रत्ती भर प्रभावित नहीं। उनकी मातृ-भाषा चाहे हिन्दी हो, चाहे बॅगला, तेलगू, तामिल, मराठी, या गुजराती, उन्हें उर्दू छोड़कर किसी दूसरी हिन्दुस्तानी से और उर्दू लिपि छोडकर किसी दूसरी लिपि से कोई मतलब नही। वे 'दोनो लिपि' और गाधीजी के 'हरिजनसेवक' की हिन्दुस्तानी भी कदापि स्वीकार नही करेंगे। 'हिन्दुस्तानी' का रहस्य उसी दिन खुल गया जिस दिन रेडियो हिन्दी उर्दू सलाहकार कमेटी में अजुमन-तरक्की-उर्दू के प्रतिनिधि ने घोषित किया कि उसकी और अंजुमन की राय है कि 'हिन्दुस्तानी' के प्रयोग मे समय नष्ट न किया जाय। इस मामले में काग्रेसी मुसलमान और 'नेशनलिस्ट' मुसलमान लीगी मुसलमानों के साथ हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि मौलाना आजाद ने आन्ध्र के मुसलमानो की प्रतिक्रियावादी मॉग का समर्थन किया। जब सब से बडे काग्रेसी मुसलमान का यह हाल है तो दूसरे मुसलमानों का क्या कहना। एक दूसरा सबूत यह है कि यद्यपि हिन्दू काग्रेसी नेता अपने भाषणों में निश्पक्षता, उदारहृदयता, 'एकता'-प्रियता और न जाने क्या क्या दिखाने को उर्दू शब्द जानबूझ कर भरते हैं, काग्रेस के मुसलमान नेता सदैव शुद्ध उर्दू में बोलते हैं (लीगी मुसलमानों के मुकाबले मे काग्रेसी मुसलमानो का कोई विशेष महत्त्व नहीं, यह बात अलग है।) फलतः राष्ट्रीय प्रकरणों में या चर्चा की 'हिन्दुस्तानी' चलती है या उर्दू। हिन्दी कहीं दिखाई नहीं देती। आज की अन्तर्कालीन सरकार को ही देख लीजिये। उसमें या उर्दू पर जान देनेवाले हैं या 'हिन्दुस्तानी' पर मरने वाले अर्थात् आधे उर्दू शब्द और देवनागरी के साथ साथ उर्दू लिपि का प्रचार करने वाले और चाहने

अँगरेजी का है)। ऐसी अवस्था में यदि राष्ट्र-भाषा यह 'हिंदुस्तानी' हुई, तो जिस प्रकार आज सार्वदेशिक भाषा अँगरेजी के सैकड़ों अनावश्यक शब्द प्रांतीय भाषाओं में घुसते चले जा रहे हैं, प्रांतीय भाषाओं और अँगरेजी के मेल से खिचड़ी भाषाओं की ('बाबू हिन्दुस्तानी' या इङ्गलिस्तानी की भाँति) सृष्टि हो रही है, और ये खिचड़ी भाषायें ही शिक्षित समाज की बोलचाल की भाषायें होती जा रही हैं और अँगरेजी शब्दों का निकालना अत्यन्त कठिन साबित हो रहा है, उसी प्रकार सार्वदेशिक भाषा 'हिन्दुस्तानी' के प्रभाव के कारण 'हिन्दुस्तानी' द्वारा 'हिन्दुस्तानी' के सैकड़ों अनावश्यक अरबी फारसी शब्द प्रांतीय भाषाओं में उनके अपने शब्दों को निकाल कर उनके स्थान में जा बैठेंगे (मुसलमान आग्रह के साथ बैठायेंगे), और इस प्रकार हिन्दी के समान संस्कृत-निष्ठ अन्य भाषायें जैसे बँगला, असमी, उड़िया, गुजराती, मराठी, तेलगू, तामिल, कन्नड़ और मलयालम, आदि भी विकृत होती चली जायँगी, और उनका पुराना साहित्य आने वाली पीढ़ियों के लिये अपरिचित और दुरूह होता चला जायगा। राजभाषा फारसी के समय में छोर की भाषाओं बँगला और तामिल तक में अनेक अरबी फारसी शब्द घुसे, राजभाषा अँगरेजी के प्रभाव के कारण प्रांतीय भाषाओं की दुर्दशा आज हम अपनी आँखों से देख रहे हैं, आगे राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' के समय में प्रांतीय भाषाओं में हजारों अनावश्यक विदेशी अरबी फारसी शब्दों का घुसना अनिवार्य है। इसी आने वाले खतरे की कल्पना करके श्रीयुत के० एम० मुंशी ने कहा है कि 'हिन्दुस्तानी' से गुजराती को हानि पहुँचेगी, और डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कहा है कि 'हिन्दुस्तानी' का बँगला पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। अहिन्दी लोग जरा सोच समझ कर काम करें। गांधी जी के कहने से भावावेश में आकर अपने पैर में अपने हाथों से कुल्हाड़ी न मारें। (देखिये परिशिष्ट ११)

'हिन्दुस्तानी' और हिन्दुस्तानी-वाद से प्रांतीय भाषाओं को एक और

कुछ परिवर्तित रूपों में जानते या मानते हों, के समान स्थान देना कहाँ तक राष्ट्रीय, जनतंत्रात्मक या विज्ञान-सम्मत ही है ? क्या राष्ट्र-भाषा के निमित्त दो लिपि के सिद्धान्त को मान कर केवल तात्कालिक कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से एक राष्ट्र घाती, अ-जनतंत्रात्मक समझौता नहीं किया जा रहा है, और क्या यह अव्यावहारिक होने के अतिरिक्त राष्ट्रीयता, जनतंत्र और एकता के मूल पर कुठाराघात नहीं करता और क्या इसे मानने से, यदि देश को ऐसी मुसीबतों से बचाना है जिनका अंत कभी न होगा, हमें साफ इन्कार न कर देना चाहिये ?

३

'हिन्दुस्तानी' का रहस्य

—भाषा-वेत्ताओं के मुख से—

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान श्रीचन्द्रबली पांडे अपने 'True Genesis of Hindusthani' शीर्षक लेख में लिखते हैं :—

"It is generally alleged that the question of high Hindi first sprang up from the establishment of Fort William College (1800) under the patronage of Dr. Gilchrist. But the policy as regards Hindi, Urdu and Hindustani followed by the Fort William College, as it has been explained by Gilchrist himself was that—"In the Hindustani, as in other tongues, we might enumerate a great diversity of styles, but for brevity's sake, I shall only notice three here, leaving their sub-divisions to be discussed along, with the history of the language which has been reserved for the second volume First, the High Court or Persian

(यहाँ तक कि आधुनिक पंजाबी ने अपना प्राचीन संस्कृत-बहुल स्वरूप बिलकुल त्याग कर अपने को अरबी फारसी के रंग में रँग लिया है)।

यदि मुसलमानों ने मातृ-भाषा छोड़ कर उर्दू को न अपनाया, तो भी इतना तो निश्चित है कि वे राष्ट्र-लिपि फारसी सीखने के बाद अपनी अपनी मातृ-भाषायें प्रांतीय लिपियाँ छोड़ कर फारसी लिपि में लिखना आरम्भ करेंगे, प्रत्येक प्रांतीय भाषा की दो दो लिपियाँ हो जायँगी (एक 'हिन्दू लिपि' और एक 'मुस्लिम लिपि') और प्रत्येक प्रांत में हिन्दी लिपि-उर्दू लिपि जैसा झगड़ा पैदा हो जायगा॰ । मुसलमानों को कहने का बहाना मिलेगा कि इससे एक राष्ट्र-लिपि फारसी का प्रचार बढ़ता ही तो है, क्यों न हिन्दू भी अपनी अपनी मातृ-भाषा देवनागरी में लिखें जिसमे देश में केवल दो लिपियाँ देवनागरी और फारसी लिपि रह जायँ ? अहिन्दी स्वयं सोच देखें, वे अपनी अपनी मातृ-लिपि छोड़ना चाहते हैं या नहीं, और प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की दो दो लिपियों का हो जाना चाहते हैं या नहीं । लिपि-विभाजन के बाद यह निश्चित

॰ यह कोरी कल्पना नहीं है । सिन्ध में मुसलमानों ने सिन्धी को देवनागरी छोड़कर फारसी लिपि में लिखना आरम्भ किया, और जब सिन्ध में उनका बहुमत हो गया तो उन्होंने हिंदू सिन्धियों को भी देवनागरी छोड़कर फारसी लिपि ग्रहण करने पर मजबूर किया । इसको केवल सौ वर्ष बीते हैं । फलतः सिन्धी की लिपि फारसी हो गई, और किसी को अब याद भी न रहा कि उसकी पुरानी लिपि क्या थी, यद्यपि पुरानी सिन्धी पुस्तकें देवनागरी में अब भी मिलती हैं । विभिन्न हिन्दू प्रान्तों में चूँकि मुसलमानों का अल्पमत होगा, प्रान्तीय भाषाओं की लिपि अकेली फारसी लिपि तो नहीं होगी वरन् दो दो लिपियाँ होंगी—एक वर्तमान लिपि और एक फारसी लिपि । पंजाब में मुसलमान पंजाबी फारसी लिपि में लिखते हैं, यद्यपि सिख अपने धर्म के कारण अभी तक गुरुमुखी से चिपके हुये हैं । पंजाब विश्वविद्यालय ने पंजाबी की दोनों लिपियों को स्वीकार कर लिया है । गुरुमुखी आज ही केवल सिक्खों की धार्मिक लिपि कहलाती है, आश्चर्य नहीं यदि कुछ समय बाद पंजाबी की सांसारिक लिपि केवल एक, फारसी लिपि, मानी जाय । (देखिये उत्तर—परिशिष्ट ३)।

भूत बोली के अर्थ में प्रयुक्त करने का प्रयत्न हुआ है, परन्तु इन कोशिशों के बावजूद लगभग सब अँगरेज और अन्य विदेशी लोग* अब भी "हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' दोनों शब्दों को हिन्दी भाषा की एक ही शैली अर्थात् उस शैली का बोधक समझते हैं जो फारसी लिपि मे लिखी जाय और जिसमें अरबी फारसी शब्दावली प्रयुक्त की जाय।"

कांग्रेस की हिन्दुस्तानी के विषय मे डा० चटर्जी उसी पुस्तक में आगे फिर लिखते हैं—

"अब कांग्रेस हिन्दुस्तानी के ठेठ आधार अर्थात् खड़ी बोली, जिस पर साहित्यिक हिन्दी और उर्दू दोनों की नींव रक्खी हुई है, के आधार पर एक नई भाषा या साहित्यिक शैली गढ़ने का विचार इस कथित इरादे के साथ कर रही है कि विदेशी अरबी-फ़ारसी शब्दों, जिन पर मुसलमान नेता ज़ोर देते हैं, और देशज हिन्दी और संस्कृत शब्दों, जिन पर हिन्दुस्थानी-भाषी क्षेत्र के तथा शेष भारत के हिन्दू ज़ोर देते हैं, के बीच में एक उचित और न्याय्य सन्तुलन रक्खा जाय। परन्तु व्यवहार मे यह फ़ारसी-निष्ठ हिन्दुस्तानी बन रही है जिसे गुजराती, बंगाली, महाराष्ट्री, उड़िया और दक्षिण के लोग नहीं समझ पाते (परन्तु फिर भी उनसे हिन्दुस्थानी के इस रूप को राष्ट्र-भाषा के रूप मे ग्रहण करने के लिये कहा जाता है)+ और जिसमें बिहार और

* उदाहरण के लिये बी० बी० सी०, मास्को रेडियो, अंकारा रेडियो और अन्य विदेशी रेडियो स्टेशनों की 'हिन्दुस्तानी' सुन लीजिये, जो शुद्ध उर्दू है—आल इंडिया रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' नामधारी अपेक्षाकृत पतली चाशनी वाली उर्दू भी नहीं।

+अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के गुजराती, महाराष्ट्री, बंगाली, आसामी, उड़िया और दक्षिण भारतीय सदस्य प्रायः यह शिकायत करते सुने जाते हैं कि हम पं० बालकृष्ण शर्मा और श्री टण्डनजी के हिन्दी भाषण तो काफी अच्छी तरह समझ लेते हैं परन्तु पं० नेहरू, मौलाना आज़ाद और आचार्य कृपलानी की 'हिन्दुस्तानी' ठीक ठीक हमारी समझ में नहीं आती।

इसमें सहायक होगी। मुस्लिम शैलियों के बनने के बाद प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में हिन्दी उर्दू का सा कलह आरम्भ होगा, और मुसलमान माँग करेंगे कि प्रान्तीय जीवन में उनकी शैली हिन्दू शैली के समकक्ष रक्खी जाय। (उस समय गाधीजी हिन्दुओं के आँख खोलेंगे, और काका कालेलकरजी कहेंगे कि भारत में मुसलमान भी तो हैं, उनकी भाषा और संस्कृति को कैसे छोड़ा जा सकता है!)

अहिन्दियों को ये सब बातें खोलकर समझानी चाहिये। उन्हें दूसरी ओर हिन्दी का महत्व भी समझा देना चाहिये। हिन्दी और देवनागरी के प्रचार से किसी प्रान्तीय भाषा को कोई खतरा नहीं, हिन्दी और देवनागरी के राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि होने पर प्रान्तीय भाषाओं को उल्टे और मदद मिलेगी। क्यों? हिन्दी और देवनागरी पर मुसलमान मोहित नहीं, विभिन्न प्रान्तों के मुसलमान अपनी अपनी मातृ-भाषा छोड़कर हिन्दी अपनाना कभी न चाहेंगे, और न कभी अपनी अपनी मातृ-लिपि छोड़कर अपनी अपनी मातृ-भाषा देवनागरी में लिखना पसन्द करेंगे, और हिन्दुओं को तो अपनी अपनी मातृ-भाषा और मातृ-लिपि में अगाध प्रेम है ही (होना ही चाहिये), हिन्दुओं का कोई भाग तो अपनी मातृ भाषा या मातृ-लिपि छोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकता। हिन्दी का किसी प्रान्तीय भाषा पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता, यह भी स्पष्ट है। हिन्दी और विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का हृदय एक है, आत्मा एक है और संस्कृति एक है। सब संस्कृत के वातावरण में

रँगती जा रही है कि न जाननेवाले समझने लगे हैं कि वह संस्कृत परिवार की भाषा ही नहीं है। फारसी लिपि के प्रभाव से मुस्लिम पंजाबी और उर्दू में केवल क्रियाओं और विभक्तियों का अन्तर रह गया है। सिन्ध में सिन्धी की हिन्दू शैली हिन्दुओं के अल्पमत में होने के कारण ग़र्क़ हो गई, सिक्खों की पंजाबी अभी तक जीवित है, विभिन्न प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाओं की हिंदू शैलियाँ ग़र्क़ तो न होंगी, बस प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की दो दो शैलियाँ हो जायँगी। (देखिये उत्तर—परिशिष्ट २)।

जिसे सब भारतीय जानते और सीखते हों" का लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जायगा या ग्रूप 'ए' के हिन्दू अमल में उर्दू चुनने पर बाध्य होंगे या किये जायेंगे और वही सारे राष्ट्र की डी फैक्टो कामन भाषा या राष्ट्र-भाषा होगी।

प्रत्यक्ष है, परिस्थिति ऐसी है कि कांग्रेस के हिन्दुस्तानी-वाद का अर्थ है उर्दू और उर्दू लिपि को पिछवाड़े के रास्ते से प्रविष्ट कर राष्ट्र पर राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के रूप में लाद देना।

यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके सत्य होने के लिये केबीनेट मिशन की योजनानुसार ग्रूपों का बनना आवश्यक नहीं है। ग्रूप 'बी' में वही प्रान्त ही तो हैं जिन्होंने न आज तक वर्धा के हिन्दुस्तानी वाद से वास्ता रक्खा है, और न कभी रक्खेंगे, चाहे वे अलग अलग रहें और चाहे एक ग्रूप में आबद्ध हो जायें। और ग्रूप 'ए' में वही प्रान्त हैं जिनकी पृथक पृथक सरकारें कांग्रेसी होने के नाते उसी नीति का अनुसरण करेंगी जो उन सब की एक कांग्रेसी, सम्मिलित केन्द्रीय सरकार की हो सकती है। कैबीनेट मिशन की ग्रूप-योजना ने केवल उसी बात को स्पष्टतर कर दिया है जो भाषा के मामले में उसके बिना ही काफी स्पष्ट थी और है। इसके अतिरिक्त, यदि मन के लड्डू फोड़ना छोड़ दिया जाय तो इसका कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता कि प्रान्तों के ग्रूप नहीं बनेंगे, अथवा यदि बनेंगे तो वे भाषा और संस्कृति का विषय केन्द्रीय सरकार को सौंप देंगे। कम से कम ग्रूप 'बी' का बनना निश्चित है, और इतना काफी है। कोई यह भी न समझे कि इस ग्रूप बाजी के बाद कांग्रेस ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' (अथवा हिन्दी और उर्दू दोनों) को ग्रूप 'ए' की कामन भाषा और लिपि, और इसलिये शिक्षा का अनिवार्य विषय, घोषित करने की मूर्खता नहीं करेगी। जो कांग्रेस (अर्थात् विभिन्न कांग्रेसी प्रान्तीय सरकारें) सन् १९३८-३९ के अपने अल्प राज्य-काल में यह भली भाँति जानते हुये भी कि मुस्लिम प्रान्त वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनो

उत्तमोत्तम ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करना चाहिये, उन में मनोहर और हिन्दी की व्यंजना-शक्ति के पूरक शब्द ग्रहण करना चाहिये, और इस प्रकार हिन्दी को वास्तविक राष्ट्र-भाषा बनाना चाहिये। हिन्दी वाले कहते फिरते हैं कि हिन्दी अन्य प्रांतीय भाषाओं के निकट है, इसलिये वही राष्ट्र-भाषा है, परन्तु इन भाषाओं के रत्न अपनी हिन्दी के खजाने में लाकर नहीं भरते। वे औरों से अपनी भाषा हिन्दी पढ़ने के लिये कहते हैं, परन्तु स्वयं उर्दू के सिवा कोई अन्य प्रांतीय भाषा नहीं पढ़ते। जिस प्रकार हिन्दी के साहित्यिक उर्दू पढ़ते हैं, उर्दू की अच्छी बातें, आवश्यक शब्द और प्रवृत्तियाँ हिन्दी में लाते हैं, उसी प्रकार क्यों न वे अन्य प्रांतीय भाषायें भी पढ़ें और उनकी दौलत से हिन्दी के खजाने को भरें? हिन्दी अन्य प्रांतीय भाषाओं के निकट है, वही उन्हें एक सूत्र में पिरो सकती है, वही सांस्कृतिक एकता स्थापित कर सकती है—ये बातें कहने की नहीं, कर दिखाने की हैं। जिस प्रकार यदि आज कोई केवल एक भाषा सीख कर संसार की सब भाषाओं के अमर साहित्य का अनुशीलन करना चाहे, तो वह अँगरेजी सीखेगा, उसी प्रकार हिन्दी में कम से कम समस्त भारतीय—प्राचीन अथवा अर्वाचीन, संस्कृत और प्राकृत का, अथवा आधुनिक भारतीय भाषाओं का—साहित्य तो लभ्य हो जिस से एक भारतीय अथवा अभारतीय केवल हिंदी पढ़ कर समस्त भारतीय साहित्य की उत्तमोत्तम कृतियों का रसास्वादन कर सके। ऐसा होने से हिन्दी का लाभ ही लाभ है। क्षोभ का विषय है कि हिन्दी वाले अँगरेजी की उत्तम पुस्तकों का तो हिन्दी में अनुवाद करते हैं, परन्तु प्रांतीय भाषाओं की उत्तम पुस्तकों का अनुवाद नहीं करते। वे प्रांतीय भाषायें जानते ही नहीं। यदि हिन्दी-जन प्रान्तीय भाषाओं की ओर ध्यान देंगे, तो एक और लाभ होगा—अन्य प्रान्तीय भाषा-भाषी भी जब अपनी भाषा के दायरे से बाहर अपनी सुनवाई करना चाहेंगे, तो अँगरेजी के बजाय (जिसमें वे आज लिखते हैं) हिन्दी में लिखेंगे। इस प्रकार हिन्दी वाङ्मय उत्तरोत्तर समृद्ध और भारतीय

की रक्षा और आदर करेगी। कांग्रेस अपनी इस घोषणा का पालन करे। कम से कम हिन्दी के अपने निजी प्रदेश में अर्थात् संयुक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रान्त, इन हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी का अखण्ड राज्य रहना चाहिये और इनमें सारा काम-काज जैसे राज्य-व्यवहार, शिक्षा का काम और सार्वजनिक व्यवहार परंपरागत शुद्ध हिन्दी में होना चाहिये। कांग्रेस इन हिन्दी प्रान्तों पर अपनी 'हिन्दुस्तानी'—उसकी अन्तिम रूप-रेखा कांग्रेस चाहे जो भी निश्चित करे—प्रान्तीय भाषा के तौर पर न लादे। इन प्रान्तों की जनता ने विगत शताब्दियों में हिन्दी को रूप दिया है और उसकी वाणी हिन्दी साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हुई है, इसलिये इन प्रान्तों में हिन्दी को छोड़कर प्रादेशिक भाषा के बतौर किसी दूसरी हिन्दुस्तानी का कोई अधिकार नहीं, उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य प्रान्तों में परंपरागत प्रान्तीय भाषा को छोड़कर किसी दूसरी भाषा का प्रान्तीय प्रकरण में कोई स्थान नहीं। कांग्रेस की घोषणा का यही अर्थ निकलता है और इसी प्रकार हिन्दी, परंपरागत हिन्दी, के हितों की रक्षा हो सकती है। राष्ट्र को, यदि वह ऐसा करना ही चाहे तो, राष्ट्र-भाषा निर्माण करने का अधिकार हो सकता है परंतु उसे राष्ट्र के किसी भाग या राष्ट्र की जनता के किसी भाग पर उसकी निजी परंपरागत भाषा हटा कर उसके स्थान में राष्ट्र-भाषा लादने का कोई अधिकार नहीं। यदि राष्ट्र-भाषा को ऐसा और वैसा होना चाहिये, ऐसी और वैसी संस्कृति का प्रतीक होना चाहिये, तो खुशी से राष्ट्र उसे इच्छानुसार गढ़े, परन्तु, हमारी निजी भाषा हिन्दी और हमारी निजी संस्कृति के प्रतीक हिन्दी का भी तो अपने प्रदेश में पूर्ण अधिकार रहना चाहिये। हम कांग्रेस से अपील करते हैं कि वह हिन्दी को अपने घरमें से निकाल कर 'हिन्दुस्तानी' को बसाने का प्रयत्न करना छोड़ दे।

केन्द्र में भी (जैसे आल इन्डिया रेडियो, सरकारी फिल्म, केन्द्रीय सूचना विभाग, आदि) हिन्दी, परंपरागत शुद्ध हिन्दी, को कम से कम वह स्थान दिया जाय जो अन्य प्रान्तीय भाषाओं को दिया जाय। हम कांग्रेस से, जिसके

की शाखाओं की गिरती हुई हालत को उन्हें सुधारना होगा। यदि अहिन्दी गांधी की आँधी में पथ-भ्रष्ट हो गये हैं, तो हिन्दियों का कर्तव्य है कि वे इस आँधी के वेग को सँभालें, और अपने पथ-भ्रष्ट भाइयों के रिक्त स्थान की पूर्ति करें। उन्हीं को हिन्दी को सबसे अधिक खतरा है, इसलिये उन्हीं को सबसे अधिक क्रियाशील होना चाहिये। आँधी निकल जाने के बाद सत्य की विजय निश्चित है, परन्तु हिन्दी वाले मैदान में डटे रहें तब तो। यदि मैदान में हिन्दी का झण्डा फहराता रहेगा तभी तो आशा है कि सेना उसके तले फिर एकत्र हो सकेगी। हिन्दी प्रचार का क्षेत्र कितना ही सकुचित क्यों न हो जाय, हिन्दी के अहिन्दी प्रचारक कितने ही कम क्यों न हो जायँ, परन्तु "न दैन्यम् न पलायनम्"। हम राजनीति में गांधी जी के अनुयायी ही तो हैं न? हमें लड़ाई के समय उन्हीं की मिसाल सामने रखनी चाहिये। यदि हमने सत्य का बल दिखाया तो, श्रीयुत मुंशी के शब्दों में, "हमें गांधी जी को जीत लेने में देर न लगेगी"। उदयपुर में श्री मुंशी ने हिन्दी वालों से पूछा था, "क्या सम्मेलन इन शक्तियों को प्राप्त करेगा?"। हमें हिन्दियों के इस प्रचारक विद्यालय को एक हिन्दी प्रांत में खोलकर उन्हें इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। यदि हमने अपने आलस्य या प्रमाद के कारण राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के भवन को गिरने दिया, तो हमसे बढ़कर अभागा और पापी कोई दूसरा न होगा। हम टंडन जी के सामने मुँह दिखाने योग्य न रहेंगे। अहिन्दी प्रांतों के हिन्दी-प्रेमी जन इस गाढ़े समय में हमारी ओर निहार रहे हैं, हमसे सहायता की आस लगाये बैठे हैं। क्या हम उन्हें निराश करेंगे और वह भी अपनी ही भाषा के प्रचार के विषय में?

(५) रेडियो और सिनेमा पर अधिकार करना चाहिए। रेडियो के विषय में पहले कहा जा चुका है। रेडियो स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी हिन्दी-प्रचार का कितना जबर्दस्त साधन हो सकता है, यह बताने की जरूरत नहीं। विदेशों तक तो रेडियो ही हिंदी और हिंदी संस्कृति का संदेश पहुँचा

जैसा कि मध्य-प्रांत के प्रधान-मंत्री ने कहा है, हिन्दुस्तान राष्ट्र की नागरिकता के अधिकार न दिये जायँ। पूरे भारत के मुसलमानो ने अपने आप को एक पृथक राष्ट्र बताते हुये एक पृथक वास-भूमि की माँग की है, और उन्हें अब यह मिल चुकी है और स्पष्टतः भारत का बँटवारा धर्म के आधार पर हुआ है, अतः इस्लाम धर्म के किसी अनुयायी को हिन्दुस्तान में नागरिकता के अधिकार नहीं मिल सकते। चित और पट दोनों मुसलमानों की नहीं हो सकतीं। गाधी जी के कहने पर पाकिस्तान जैसे स्थूल सत्य को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। 'अल्पसख्यक' के किसी झूठे नाम पर पाकिस्तान के फिफ्थ कालम को स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता। जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है, 'इन्डिया' प० नेहरू की, जो मौलाना आजाद की साद्यानुसार स्वप्न भी अँगरेजी में देखते हैं, स्व-भाषा का शब्द होगा, परन्तु ६६'६ प्रतिशत भारतीयों की मातृ-भाषा का शब्द नहीं है। प० नेहरू की सनक पूरी करने के लिये इतिहास नहीं बदला जा सकता। नाम में केवल एक परिवर्तन हो सकता है और अवश्य होना चाहिये। वह यह कि फारसी 'स्तान' बदल कर 'स्थान' अर्थात् 'हिन्दुस्तान' अब 'हिन्दुस्थान' कर दिया जाय।

'हिन्दुस्तानी' की टॉय-टॉय फिस

इन बातों को छोड़कर अब मूल विषय पर आइये। हिन्दुस्थान की राष्ट्र भाषा क्या हो? स्पष्ट है, हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा हिन्दी हो। 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' के मुकाबले में हिन्दी और देवनागरी का पक्ष शाश्वत तर्कों और सिद्धान्तों पर आधारित है और उसका राजनीतिक लौट-पौट से कोई लगाव नहीं रहा है, परन्तु अब तो हिन्दुस्तानी-वाद की कोई जड़ ही नहीं रह गई। जिन प्रदेशों और जिन लोगों को फाँसने के लिये काग्रेस ने हिन्दुस्तानी-वाद अपनाया था अब वे ही अलग हो गये। काग्रेस ने ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' का बखेड़ा मुसलमानों को राष्ट्र-

रेडियो-आन्दोलन के विषय मे एक बात और स्पष्ट कर देनी चाहिये। सम्मेलन ने रेडियो से सहयोग करनेवाले साहित्यिकों का बहिष्कार किया सो तो ठीक, परन्तु इससे भी अधिक आवश्यकता उन हिन्दी साहित्यिकों का बहिष्कार करने की है जो रेडियो मे जाकर रेडियो वालों के समझाने फुसलाने से, डराने धमकाने से या पैसे के लालच से या रेडियो वालों को खुश करने के इरादे से अपनी स्वाभाविक हिन्दी शैली छोड़कर रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' भूँकने लगते हैं। वे हिन्दी पर शर्म का ऐसा बोझ लादते हैं जो किसी के उठाये नहीं उठ सकता। जिन स्वाभिमानी हिन्दी वक्ताओं या लेखकों से रेडियो वाले अपनी शैली मे परिवर्त्तन करने के लिये कहें, उन्हें उचित है कि वे पाडुलिपि रेडियो वालों के सिर पर पटक कर पत्रों में खबर दें, और रेडियो वालों की नीति का भण्डाफोड़ करें। किसी अँगरेजी वाले से तो रेडियो वाले कुछ कहने का साहस न करेंगे। हमारे ही देश में हमारी भाषा का यह अपमान!

रेडियो के बाद सिनेमा का नम्बर है। जो जो बातें रेडियो के लिये कही जा सकती हैं, वही सिनेमा के लिये कही जा सकती हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ रेडियो सरकार द्वारा संचालित है, वहाँ सिनेमा आदर्शहीन पूँजीपतियों द्वारा सचालित है, जहाँ हिन्दी पत्र रेडियो की नीति का विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वहाँ वे सिनेमा की भाषा-नीति के विरुद्ध एक शब्द कहना नहीं चाहते। क्यों, यह राम जाने।

यदि हिन्दी पत्र पैसे और विज्ञापन के लालच मे न आकर चित्रों की भाषा की निष्पक्ष और मुँहफट समालोचना करें, तो कोई कारण नहीं उनकी भाषा क्यों न सुधरे। ऐसा करने के बजाय वे बँधे हुये लेखकों की समालोचनाएँ छाप देते हैं जिन्हें 'हिन्दुस्तानी' के सिवा कोई दूसरा शब्द नहीं मालूम, जो चित्र की भाषा की ओर ध्यान देना आवश्यक ही नहीं समझते, और यदि ध्यान देते हैं, तो 'हुमायूँ' की भाषा को भी 'हिन्दुस्तानी' लिख

परन्तु कृपा करके वे अपनी भाषा की हत्या न करें। उन्हें सदैव अच्छी हिन्दी में लिखने का प्रयत्न करना चाहिये। जब उनकी हिन्दी हिन्दी-प्रदेश की बहुसंख्यक जनता की भाषा और वास्तविक राष्ट्र-भाषा है तो उन्हें डर क्या, हिन्दी लिखने में संकोच क्यों? उन्हें किसी भी परिस्थिति में अपनी हिन्दी बिगाड़ना स्वीकार न करना चाहिये। उन पर बहुत कुछ हद तक हिन्दी का भविष्य निर्भर है, फिर वे हिन्दी की अवहेलना कैसे कर सकते हैं? चित्रों में हिन्दी शब्दों के साथ-साथ लगे हुये क्लिष्ट कर्ण-कटु अरबी फारसी शब्दों को सुनकर हृदय में शूल सा चुभता है। 'रामशास्त्री', 'चित्रा-वली', 'हमराही' जैसे चित्रों की भाषा सुनकर अत्यन्त क्लेष होता है। यह बात नहीं है कि हिन्दी लेखकों को अपनी भाषा से प्रेम न हो, परन्तु वे बहुत जल्दी, जरा से इशारे पर अपने शब्द छोड़ देते हैं और विदेशी शब्द झट अपना लेते हैं—लिखने में भी और बोलचाल में भी। उन्हें इस मामले में उर्दू लेखकों से शिक्षा लेनी चाहिये जो सरल से सरल उर्दू लिखना मंजूर कर लेंगे, परन्तु लिखेंगे उर्दू ही—एक भी हिन्दी शब्द नहीं अपना सकते।

(६) हिन्दी प्रान्तों के अथवा अहिन्दी प्रान्तों के हिन्दी पत्रों को हिन्दुस्तानी प्रचार और हिन्दुस्तानी वालों के विचारों के प्रचार का साधन कदापि न बनने देना चाहिये। हिन्दुस्तानी वालों के पास वैसे ही अपरिमित साधन हैं, कम से कम हिन्दी पत्र तो उन्हें योग न दें और हिन्दी का ध्यान रक्खें। उन्हें हिन्दुस्तानी-प्रचार से सम्बन्धित सब समाचार तो निष्पक्ष होकर देना चाहिये (यह समाचार पत्रों का प्रथम कर्त्तव्य है), परन्तु उन्हें 'हिन्दुस्तानी' की वकालत न करना चाहिये, और 'हिंदुस्तानी' की वकालत करने वाले लेख, 'हिंदुस्तानी' में लिखे हुये लेख, सूचनायें, आदि न छापना चाहिये। महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों ने सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के समाचार ही छापना बन्द कर दिया, इतना ही नहीं,

उन्होंने उसे बदनाम करने का प्रयत्न किया (देखिये परिशिष्ट १०)। हिंदी पत्रों को इसका कम से कम इतना जवाब तो देना चाहिये। हिन्दी पत्रों को अपने हाथ से अपने गले में मौत का फन्दा न डालना चाहिये।*

हिंदी पत्रों को इससे अधिक करना है। उन्हें हिंदी की वकालत करना चाहिये, हिंदुस्तानी-वाद का विरोध करना चाहिये (इस प्रकार नहीं कि उसका और विज्ञापन हो), हिंदुस्तानी वालों की कारगुजारी से, उनके हथकंडों से और कार्यकलाप से हिंदी जनता को परिचित कराना चाहिये, हिंदी जनता को 'हिंदुस्तानी' के खतरे से सूचित करना चाहिये, हिंदी की रक्षा में पूर्ण सहयोग देना चाहिये, 'हरिजनसेवक'× और 'नया हिन्द'+ जैसे 'हिन्दुस्तानी' के पत्रों से हिन्दी जनता को सावधान करना चाहिये, और हिन्दी प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों की 'हिंदुस्तानी' विषयक नीति का तीव्र विरोध करना चाहिये। आधुनिक युग में प्रेस की बहुत बड़ी शक्ति है। हमें हिंदी प्रेस से पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिये।

हिन्दियो, उठो, जागो, अपनी शक्ति एकत्र करो और हिन्दी की रक्षा में, हिन्दी की सेवा में जुट जाओ। तुम हिंदी माता की उपेक्षा करके एक शताब्दी तक अपमानित हुये, लज्जित हुये और पतन के गर्त में और

---

* यदि अँगरेज़ी पत्रों को कोई ख़राब अँगरेज़ी में लेख या सूचना लिख कर भेजे, तो अँगरेज़ी पत्र तो उसे न छापेंगे, और यदि छापेंगे तो उसकी भाषा शुद्ध करके छापेंगे। हिन्दी पत्र ही ख़राब हिन्दी, जानबूझ कर ख़राब की हुई हिन्दी अर्थात् 'हिन्दुस्तानी' के लेख, आदि क्यों छापें ? हिन्दी पत्रों को भी अपनी भाषा का उतना ही ध्यान रखना चाहिये। चूँकि उस ख़राब हिन्दी के लिखने वाले कोई पं० सुन्दरलाल या डा० ताराचंद हैं, इस कारण वह ग्राह्य थोड़े ही हो जायगी। (देखिये पृष्ठ २६-२७)

× देखिये परिशिष्ट १४।

+ पं० सुन्दरलाल और डा० ताराचंद द्वारा सम्पादित 'हिन्दुस्तानी' का एक नया मासिक (देखिये पृष्ठ १२१)।

गहरे गिरते गये। अब तुम फिर हिंदी नहीं छोड़ सकते, उसको हिंदुस्तानी नहीं कर सकते। प्राचीन काल मे संस्कृत ने तुम्हें सर्वोच्च स्थान पर बैठायाथा, आज तुम हिन्दी को भी विकृत नहीं होने दे सकते। "संस्कृत के स्वर्ग का संचय आज गिरते गिरते तुम्हारी हिंदी की आधार-शिला पर रुका है।" हिंदी, शुद्ध हिंदी तुम्हारी कम से कम आवश्यकता है—तुम शुद्ध हिंदी से कम कुछ स्वीकार नहीं कर सकते। यदि तुमने हिंदी को विकृत होने दिया, तो अन्य प्रान्तों के वासी तो अपनी अपनी शुद्ध संस्कारी भाषाओं से प्रेरणा प्राप्त करेंगे, केवल तुम्हीं एक अभागे होगे। तुम हिंदी की गोद में पलकर बड़े हुये हो, हिंदी के अंचल में तुम्हारे पूर्वजों के वैभव का शृंगार छिपा हुआ है, तुम उसे भुलाकर जीवित नहीं रह सकते। इतना ही नहीं, हिंदी के साथ, उसकी शुद्धता के साथ सम्पूर्ण भारत की, विशेष रूप से सम्पूर्ण हिंदू भारत की संस्कृति जुडी हुई है। हिंदी पर हिंदुत्व और हिंदुस्तान का भविष्य निर्भर है। यदि आज कुछ अहिंदी भाई इसे भूल बैठे हैं तो तुम्हें तो न भूलना चाहिये, तुम्हे तो अपने और अपनी भाषा के ऐतिहासिक महत्त्व का ध्यान रखना चाहिये।

× × ×

हिंदी पर खतरा आना चाहता है और वह भी राष्ट्रीयता का जामा पहन कर। खतरे की घंटी बज रही है। शिकोहाबाद में युक्तप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का उद्‌घाटन करते हुये श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने व्यर्थ ही नहीं कहा, "हिंदी खतरे में है। वह सहायता के लिये पुकार रही है।" हिन्दी वालो, सावधान!

———

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

हिन्दी की कृतियों में मुसलमान पात्रों का उर्दू में कथोपकथन

(लेखक—श्री शान्तिकुमार एम० एस० सी०)

हिन्दी में कहानियों, उपन्यासों, इत्यादि मे मुसलमान पात्रों से उर्दू में बातचीत कराने की एक परिपाटी सी हो गई है। हिन्दी के कितने ही प्रतिष्ठित लेखक ऐसा करते हैं। प्रेमचन्द को जाने दीजिये। आजकल के लेखकों में उदाहरण के लिये राय कृष्णदास के कहानी-सग्रह "आँखों की थाह" की 'नई दुनिया' शीर्षक कहानी को लीजिये। इस कहानी में दो ही पात्र हैं—चिरागी और गजरा। दोनों मुसलमान हैं। कहानी के आरम्भ से लेकर अत तक उन दोनों का कथोपकथन चलता रहता है। एक प्रकार से यह कथोपकथन ही कहानी का विषय है। लेखक बीच बीच में वर्णन, टीका टिप्पणी, इत्यादि तो शुद्ध हिन्दी में करता है, परन्तु चिरागी और गजरा की बातचीत ठेठ उर्दू मे होती है। इस बातचीत मे प्रयुक्त शब्दों के कुछ नमूने ये हैं—

"निसार, रहमत, खसलत, इज़हार, मुब्तिला, तलब, दोजखी, मेजवानी, मिन्नत, जहमत, गुमराह, बेखुदी, दयानतदारी, आमालनामा", इत्यादि इत्यादि। चिरागी और गजरा के कथोपकथन को छोड़ कर कहानी मे बहुत कम बच रहता है। ऐसी अवस्था मे यह सोचने की बात है कि इस कहानी को हिन्दी की कहानियों के सग्रह में क्यों स्थान दिया गया। केवल हिन्दी लिपि में छाप देने से तो कहानी हिन्दी की हो नहीं जायगी। किसी भी पत्र,

पत्रिका या पुस्तक को उठा कर देखिये, जहाँ कहीं भी मुसलमान पात्र आ जाते हैं, वहाँ उनका वार्तालाप प्रायः उर्दू में कराया जाता है। कहीं कहीं तो ऐसा मालूम होता है कि लेखक अपना उर्दू का पांडित्य दिखाने के लिये ही ऐसा कर रहा है, क्योंकि सुगम, मुसलमानों में भी प्रचलित हिन्दी शब्दों के होते हुये भी अरबी फारसी शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है।

इस परिपाटी के बचाव में लेखक ने केवल एक ही उक्ति सुनी है। वह यह कि ऐसा स्वाभाविकता और वास्तविकता (local colour) लाने के लिये किया जाता है। यह उक्ति बिलकुल सारहीन है। इसका मतलब तो यह होगा कि हिन्दी की कृतियों में अँगरेजी पात्रों से अँगरेजी में बात-चीत कराई जाय, चीनी पात्रों से चीनी में, अरबों से अरबी में, या कम से कम हिन्दी में क्रमशः अँगरेजी, चीनी, और अरबी के खूब शब्द घुसेड़े जाँय। किन्तु वास्तविकता के ये भक्त ऐसा करते तो नहीं देखे जाते। इन्होंने तो केवल मुसलमानों के लिये ही वास्तविकता रिजर्व कर रक्खी है, मानों सब मुसलमान उर्दू ही बोलते हैं, और कोई हिन्दू उर्दू नहीं बोलता। इस उक्ति का मतलब यह भी होगा कि या तो हिन्दी के पाठक और लेखक दोनों ही संसार भर की भाषाओं के पंडित हों या हिन्दी वाले हिन्दी प्रदेशों और हिन्दी भाषियों को छोड़कर संसार के किसी अन्य देश या जाति के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की आशा ही छोड़ दें। कम से कम मुसलमानों को तो तभी लाया जा सकेगा जब हिन्दी के पाठक और लेखक दोनों उर्दू के भी पंडित हों। और, बंगाली हिन्दुओं को भी तभी रक्खा जा सकेगा जब बँगला का पूरा ज्ञान हो, और मद्रासी हिन्दुओं को रखने के लिये तामिल और तेलगू के ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। ऐतिहासिक पात्रों से कथोपकथन कराना तो बिलकुल असंभव हो जायगा, क्योंकि अभाग्यवश यह मालूम करने का कोई साधन नहीं है कि ये पात्र उर्दू-ए-मुअल्ला बोलते थे, या खड़ी बोली हिन्दी या कुछ और।

आश्चर्य तो इस बात का है कि इस 'लोकल-कलर' का सबसे अधिक ख्याल हिन्दी वालों को है। आज तक कोई अँगरेजी का लेखक अँगरेजी की कृतियों में अँगरेजी को छोड़कर हिन्दुस्तानी पात्रों से किसी भारतीय भाषा में या चीनियों से चीनी भाषा में बातचीत कराता हुआ देखने में नहीं आया। यही बात संसार की अन्य भाषाओं के विषय में कही जा सकती है। दूर जाने की जरूरत नहीं, उर्दू के लेखक भी ऐसी गलती नहीं करते कि हिन्दू पात्रों से हिन्दी में बातचीत करावें। कुछ ऐसे शब्दों की बात दूसरी है जो एक देश विशेष अथवा जाति विशेष से ही सम्बन्ध रखते हैं और किसी विशेष गुण या वस्तु को जताने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं और जिनका उनकी ध्वनि नष्ट किये बिना सरलता से अनुवाद नहीं हो सकता। ऐसे शब्दों का अर्थ प्रायः कोष्ठकों में या पाद-टिप्पणियों में स्पष्ट कर दिया जाता है, और अँगरेजी में प्रायः ऐसे शब्दों को इटैलिक्स (italics) में यह जताने के लिये लिखा जाता है कि ये विदेशी शब्द हैं, और किसी विशेष कारण से ही प्रयुक्त किये गये हैं। लेकिन हिन्दी की कृतियों में मुसलमानों की बातचीत उर्दू में बेखटके और बेरोकटोक कराई जाती है, और उर्दू शब्दों के अर्थ को भी स्पष्ट नहीं किया जाता, बल्कि यह समझा जाता है कि यह तो हिन्दी ही है और हिन्दी-पाठक इसे समझते ही होंगे, और यह लेखक की मेहरबानी है कि उसने आदि से अन्त तक सब जगह ऐसी हिन्दी नहीं लिखी!

इस सम्बन्ध में दो एक बातें और विचारणीय हैं। 'नई दुनिया' शीर्षक कहानी में चिरागी और गजरा समाज की बहुत ही निम्न श्रेणी के व्यक्ति हैं। इन निम्न श्रेणियों में शुद्ध, साहित्यिक, खड़ी बोली उर्दू नहीं बोली जाती, फिर इनका साहित्यिक उर्दू में बोलना ही कहाँ तक स्वाभाविक है और कहाँ तक वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है? ये दोनों व्यक्ति बनारस के रहनेवाले दिखाये गये हैं। तो क्या इनसे पूर्वी या किसी और देहाती बोली में बुलवाना कहीं

ज्यादा स्वाभाविक न होता ? खड़ी बोली बोली ही कितने क्षेत्र में जाती है ? यदि 'लोकल कलर' देने के यही माने हैं कि पात्र वास्तविक भाषा में बोले तो खड़ी बोली के प्रदेश के बाहर के सब पात्रों का कथोपकथन खड़ी बोली में न होकर देहाती बोलियों में होना चाहिये। ऐसा क्यों नहीं किया जाता ? अप्रैल, १९४४ की 'माधुरी' में श्रीयुत शैल लिखित एक कहानी 'मिलन' छपी है। इस कहानी के पात्र युनिवर्सिटी के तीन छात्र सुरेश, जमीला और रफ़ीक़ हैं। जमीला और रफ़ीक़ की बातें ठेठ उर्दू में होती हैं। युनिवर्सिटी के छात्र कहीं ठेठ उर्दू या ठेठ हिन्दी में बात करते नहीं देखे जाते। इनके कथोपकथन में तो 'लोकल कलर' तब होता जब श्रीयुत शैलजी इनमें बात-चीत आधी अँगरेजी आधी हिन्दी यानी 'इङ्गलिस्तानी' नामक भाषा में कराते। आजकल के शिक्षित वर्ग की तो यही भाषा है।

यह तर्क भी कि उर्दू हिन्दी की एक शैली विशेष ही है और इसलिये ... की कृतियों में मुसलमान पात्रों से उर्दू का प्रयोग कराना क्षम्य है, कुछ मा... नहीं रखता। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से चाहे यह ठीक हो, परन्तु व्यवहार में आज उर्दू हिन्दी की शैली विशेष नहीं कही जा सकती। एक भाषा की दो शैलियाँ संसार के किसी देश में दो लिपियों में नहीं लिखी जातीं और न उनकी आपस में गुटबन्दी होती है, न उनके लेखक अलग-अलग होते हैं और न उनकी पढ़ाई की व्यवस्था अलग-अलग होती है, और न ऐसा होता है कि जो पाठक भाषा की एक शैली समझ सकता हो वह कोई दूसरी शैली न समझे। आज हिन्दी और उर्दू में तो इतना अन्तर है (लिपि-भेद तथा कुछ अन्य छोटी बातों को छोड़कर भी) कि क्रियाओं, क्रिया-विशेषण, विभक्तियों तथा थोड़े से अन्य शब्दों को छोड़कर हिन्दी और उर्दू की शब्दावलियाँ बिलकुल भिन्न हैं। एक भाषा की दो शैलियों में कहीं ऐसा अन्तर नहीं होता, और न दो शैलियों में इस प्रकार धर्म की भित्ति पर भेद किया जाता है। मुसलमानों से उर्दू और हिन्दुओं से हिन्दी बुलवाने

के माने तो यही हैं कि ये दो शैलियाँ दो धर्मों के अनुयायियों के लिये रिजर्व हैं, और हम सहमत हैं कि हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की, और हिन्दी के पाठक तथा लेखक हिन्दी और उर्दू दोनों जानते और समझते हैं।

एक विकट कठिनाई और है। अगर एक हिन्दू पात्र की मुसलमान पात्र से बातचीत कराना पड़े तो किस भाषा में कराई जाय? अगर हिन्दू पात्र हिन्दी में बोले और मुसलमान पात्र उर्दू मे जवाब दे तब तो अत्यन्त हास्यास्पद होगा। पढ़ने वाले या सुनने वाले को अत्यन्त भद्दा भी लगेगा। दुनिया भर मे सब जगह दो मनुष्य एक ही भाषा में बात करते हैं और एक ही शब्दावली प्रयुक्त करते हैं। भाषा है ही आपस मे भाव प्रकट करने के माध्यम का नाम। यदि यही माध्यम दो व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न है, तो उनकी आपस मे बातचीत कैसी? गलत सिद्धान्त पर चलने से यह कठिनाई अवश्य पड़ेगी। इस सिद्धान्त को माननेंवाले कुछ लेखकों ने इस कठिनाई को ऐसे अवसरों पर हिन्दू पात्र और मुसलमान पात्र दोनों से उर्दू बुलवा कर हल किया है। 'मिलन' कहानी मे सुरेश जमीला या रफीक से उर्दू में बात करता है। इसके माने यह हुये कि हिन्दू जब आपस में बात करें तब तो हिन्दी में, लेकिन जब मुसलमानों से बात करें तब उर्दू मे, और मुसलमान आपस मे भी उर्दू मे बात करें, अर्थात् उर्दू ही राष्ट्र-भाषा या कामन भाषा है क्योंकि इसे हिन्दू भी बोल सकते हैं, मुसलमान तो बोलते ही हैं और हिन्दी को मुसलमान बोल नहीं सकते। ऐसी दशा में राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर हिन्दी उर्दू को लेकर हाय तोबा मचाना व्यर्थ है, क्योंकि हिन्दी उर्दू एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं जिनमे से उर्दू शैली हिन्दू मुसलमान दोनों ही समझते हैं। आश्चर्य तो यह है कि फिर भी हिन्दी उर्दू का अलग अलग ढोल पीटा जाता है, यू० पी० शिक्षा विभाग द्वारा लड़कियों के लिये उर्दू अनिवार्य रूप से द्वितीय भाषा बनाये जाने पर हिन्दी पत्रों मे बवंडर उठाया

जाता है, और महासभा डेढ़ हजार वालंटियर उर्दू का विरोध करने के लिये जयपुर भेजती है।

हिन्दी के ऐतिहासिक लेखों तथा पुस्तकों में भी यही बात देखने में आती है। हिन्दू या भारतीय पात्र तो हिन्दी में बोलते हैं लेकिन सब विदेशी पात्र, वे चाहे यूनानी हों, चाहे हूण चाहे अँगरेज, उर्दू में बोलते हैं। उदाहरण-स्वरूप श्रीशुकदेवविहारी मिश्र कृत 'पुष्य मित्र' का नाम लेना काफ़ी होगा। ऐसे लेखों तथा पुस्तकों में भी जब हिन्दू या भारतीय पात्र किसी विदेशी पात्र से बात करता है तो दोनों उर्दू में बोलते हैं। यह भी भुला दिया जाता है कि सदैव विजित विजेता की भाषा अपनाता है, विजेता विजित की नहीं। हिन्दी में तो ऐसा अन्धेर है कि जब यूनानी सेनापति सेल्यूकस चन्द्रगुप्त के दर्बार में पकड़ कर लाया जाता है तब चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस का संवाद उर्दू में होता है—दोनों उर्दू बोलते हैं। हद हो गई! साराश यह कि हिन्दी के ऐतिहासिक विषयों (मुसलमान पात्रों से रहित अथवा सहित) पर लिखने के लिये और उन्हें समझने के लिये भी हिन्दी के लेखकों तथा पाठकों को उर्दू का पंडित होना आवश्यक है। ये सब बातें करके हिन्दी वाले सबके सामने अपनी मूर्खता तो प्रकट करते ही हैं, अपने मुँह से हिन्दी के मुक़ाबले उर्दू को महानता देते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी तो केवल हिन्दू भारतीयों की भाषा है, उर्दू दुनिया भर के सब विदेशियों की भाषा है, और भारतीयों तथा विदेशियों की 'कामन भाषा' भी है (जिसे हिन्दी के सब पाठक और लेखक सदैव जानते और समझते रहे हैं और अब भी जानते और समझते हैं!)।

मैं समझता हूँ कि जिन कारणों का ऊपर निर्देश किया गया है, वे यह दिखलाने के लिये पर्याप्त हैं कि हिन्दी कृतियों में मुसलमान या विदेशी पात्रों से आपस में, या हिन्दुओं और मुसलमानों, अथवा भारतीयों और विदेशियों के बीच में उर्दू में वार्तालाप कराना बिलकुल अनुचित, मूर्खता-

पूर्ण और संसार की सभी भाषाओं के नियमों के विरुद्ध है। भाषा विचारों को प्रकट करने का एक साधन है, और भाषा यह तभी कर सकती है जब उसका एक प्रचलित, सर्वमान्य और निश्चित स्वरूप हो। जब हम किसी भाषा में अपने विचार प्रकट करने बैठते हैं तो हम काल के अनुसार या व्यक्ति के अनुसार भाषा नहीं बदलते चल सकते। बात चाहे आज की हो, चाहे हजार वर्ष पहले की, व्यक्ति चाहे किसी भी देश, जाति या धर्म का हो, भाषा का स्वरूप वही रहता है। फिर हिन्दी मे ही मुसलमानों से या विदेशियों से उर्दू में कथोपकथन क्यों कराये जाते हैं? आशा है विद्वान लेखक इस ओर ध्यान देंगे, और हिन्दी को इस दोष से बचायेंगे। कम से कम पत्रों के सम्पादक यह कर सकते हैं कि इस दोष से दूषित लेखों को लौटाने का कारण बताते हुये वापस कर दें, या उनके उर्दू सवादों को हिन्दी मे अनुवाद करके छापे।

(सितम्बर, १९४५ की 'माधुरी' से)



परिशिष्ट २

THE 'VERNACULAR' OF UNITED PROVINCES

(*By Ravi Shankar Shukla*)

The Government of the United Provinces has reminded its subordinates of the order that the use of the obnoxious term 'vernacular' should be abandoned So far so good But what is the 'vernacular' of the U P, i.e which name is to take the place of the term 'vernacular' when applied to the language of this province ? The Government has suggested the name 'Hindustani' But 'Hindustani' is not the vernacular or the mass language of the U.P The vernacular or the mass language of this province can only be called by the name 'Hindi'—a name which Muslims gave to it many centuries ago and which has superseded its old name 'Bhasha' or 'Bhakha' Hindustani, also called by the names 'Dehlavi and 'Khariboli', is a dialect of Western Hindi and is spoken in the Upper Gangetic Doab Hindustani is thus the vernacular or mass language of only a few districts round Delhi In other districts of the U P, various dialects of Western Hindi like Braj, Bundeli, Kanauji and Eastern Hindi, Avadhi or Kosali, are spoken The vernacular or the mass language of the province is therefore Hindi Any linguist will say that In the Language Survey of India the language of this province has

been identified as Western and Eastern Hindi and these terms have since been consistently used in the census reports for the indigenous mass language of this province. It is indeed preposterous to call the vernacular of this province by the name 'Hindustani', the name of a single spoken dialect of the U. P. and itself a dialect of Hindi.

URDU NOT INDEPENDENT LANGUAGE

As for Urdu, it is only a literary form of Khariboli Hindi It is not an independent language and cannot be said to be the mass language of any district. The name 'Urdu' does not appear anywhere on the language map of India At the most it can claim as its own the Khariboli Hindi districts, and there too it will have to share its place with High Hindi, i e, modern literary Khariboli Hindi Speakers of Hindustani or Khariboli can indeed be found all over the province, specially in the towns and cities, but so can also the speakers of other dialects of Hindi. It is only a consequence of the modern means of communication and economic forces In our polygot towns speakers of even extra-provincial languages like Bengali, Punjabi, English, etc, can also be found All this does not alter the mass language or the vernacular of any place Hindustani is the mother tongue or home language, i e, the vernacular of very few families outside Khariboli districts No doubt High Hindi and Urdu are used as literary languages for purposes of education, public life and administration all over the province, but this fact has nothing to do with the mass language or the vernacular of the province. English

also is used as a literary language for purposes of education, public life and administration all over the province. The Bengali, Marathi and Punjabi communities residing in the province use their own literary languages for many of their purposes High Hindi and Urdu are used as literary languages for many purposes even in such provinces as Bombay, Punjab, Bengal, etc, where they cannot be described as vernaculars of the area by any stretch of the imagination High Hindi and Urdu are exclusively used as literary languages for purposes of education, public life and administration in Bihar, C P. and Rajasthan, but it will be preposterous to call the vernacular of Bihar, C P or of Rajasthan by the name 'Hindustani' A literary language in use at any place does not necessarily become the vernacular of that place In the context of literary languages in the U P, the fact that has, however, to be noted is that several spoken dialects of Hindi, notably Braj and Avadhi, have led centuries of rich literary existence and possess very considerable literatures of great beauty and richness All these literatures have very close affinities in respect of culture, construction and vocabulary with modern Hindi literature, i e, High Hindi literature, and not with Urdu literature These literatures in fact have the same affinities and likenesses with modern Hindi literature as the literature of a dialect is bound to have with the literature of another dialect of the same language, and they are part and parcel of 'Hindi' literature and not of Urdu literature or of any 'Hindustani' literature. Similarly, folk literature of

this province in the various dialects bears close affinities with modern Hindi literature and is a part and parcel of 'Hindi' literature and not of Urdu literature or of any 'Hindustani' literature

HIND AND HINDUSTAN

All the provinces or, more correctly, territorial divisions of India with the exception of U P , C P and N W F. P. have got their distinctive names which signify the spoken, indigenous mass language or 'vernacular' of the area as also the indigenous people inhabiting the area For the Madras province has been recognised, particularly by the Congress, as consisting of Andhra, i e the Telegu speaking part, Tamil Nad i e , the Tamil speaking part and Carnatic i e , the Kannada speaking part Bombay province is similarly regarded as consisting of Gujarat i e , the Gujarati speaking part and Maharashtra i e , the Marathi speaking part Even in C P , thanks to the efforts of Pt. Dwarka Prasad Misra, a Minister in the present as well as in the last Congress Ministry of C P , the old name of the Hindi speaking part, viz, Mahakoshal (Koshali or Eastern Hindi is the mass language of the Hindi speaking C P) has been officially recognised. The Marathi speaking part of the C P. is, linguistically speaking, a part of Maharashtra 'N W. F P ' is more a political phrase than a name, and is bound to be appropriately renamed soon So the U P is the only province which has no name signifying the distinctive language, culture and the people of the province. During the previous Congress regime the name 'Hind' was

proposed for this province (whether officially or non-officially I cannot say) This name is not only most appropriate but has actually been in use to a greater or lesser extent since the old name, Madhyadesha, of this part of India fell into disuse The vernacular of the province is Hindi, the name of the province will be 'Hind', and its people will be known as 'Hindis'—so it is all right The same cannot be said for 'Hindustani', for 'Hindustan' is to-day in much greater use than 'Hind' for the whole of India, the name 'Hindustani' is sought to be applied to the language of Hindustan, i e, to the *lingua franca* of India (whatever shape it might ultimately take) rather than to the language of any particular province, and surely the people of the U P cannot reserve the name 'Hindustanis' for themselves The name 'Hindi' alone can and does signify the distinctive language, culture and the people of this province

EVERYTHING IN A NAME

There is one more reason why the term 'Hindustani' must not be used for the language of this province Some might be inclined to ask What is there in a name ? But often there is everything in a name, as in this case To-day the term 'Hindustani' is the subject of a great controversy which is more political than linguistic in nature This term is sometimes applied to High Hindi, sometimes to Urdu, sometimes to High Hindi plus Urdu (as, for example, by the Hindustani Academy, U P. and the Lucknow University), and now it is increasingly sought to be applied to a curious (or political) mixture of Hindi and Urdu,

the veritable 'third stream', being evolved by some bodies. The vernacular of this province has never been, is not and can never be so ambiguous, dual, and shifty as the name 'Hindustani' would imply The name of the vernacular of the U P cannot be made the subject of a controversy, as it is not controversial It is quite definite. It is 'Hindi' The result of the substitution of the true name 'Hindi' by the name 'Hindustani' would be that the artificial mixture of Hindi and Urdu (and possibly of other Indian languages) called 'Hindustani', which is being made to suit various tastes—the tastes of the different provinces and of the different communities—so as to be acceptable as lingua Indica to the 400 millions of India speaking widely different languages, will automatically be thrust upon this province as the 'vernacular', *the* language of the province, and will be used, in the name of 'unity' and so forth, as the language of education and administration of the province, so that the real vernacular of the province Hindi, as also Urdu, will greatly suffer and may even be swamped by 'Hindustani'

WHAT OF HINDI ?

Hindi is the indigenous language, the vernacular of U P and U. P. alone (barring a part of C P and of Punjab) When U P. will be described as 'Hindustani speaking area' (as has already been started in certain so called nationalist contexts, to make confusion worse confounded, even Bihar and C. P. are often included in this 'Hindustani speaking area'), which province, which region of India will be des-

cribed as 'Hindi speaking'? When the people of U. P. will be described as 'Hindustani speaking', who in India will be described as 'Hindi speaking'? Will a language as old as Hindi disappear overnight by a mere stroke of the pen of the U. P. Government? Will the territory that has so long been marked 'Hindi' in the language map of India be now marked 'Hindustani', and Hindi, of all Indian languages, become conspicuous by absence after having been there for the past so many centuries? It is a pity that while the Marathi speaking people of India are holding Maharashtra Unity Conferences with a view to *unite together the Marathi speaking parts, and are* giving a mandate to the Marathi speaking members of the Constituent Assembly to work for an united Maharashtra, the Hindi speaking Ministers of the U P. Government should think of effacing Hindi from Hind whose undisputed vernacular it has been for the past thousand years. One might have rather thought that they would convene a Hind Unity Conference to agitate for cession of the Hindi speaking parts of the Punjab and C P. to U. P But strange things happen in this province where everybody, from Congress Ministers downwards, seems to view everything through a haze of politics-cum-communalism.

UNITY THROUGH HINDI

It must be made absolutely clear that there is no intention to harm the interests of Urdu in U. P. Urdu is a form of Hindi, and the U. P. Government is at liberty to allow those in U. P. who want Urdu and its script to cultivate Urdu and to give facilities for

the teaching of Urdu It may even grant the same facilities to other language groups in the province, but let the vernacular of the province remain what it is, i. e. Hindi Truth must not be sacrificed. Urdu or Hindustani is certainly not the vernacular of this province A time may come when those who want Urdu and its script to-day may take kindly to the vernacular of this province, i. e, their real mother tongue, and to its natural script, thus ushering in the era of complete linguistic unity in this province; just as in the Punjab where Urdu too is medium of instruction, language of administration, etc, a time may come when adherents of Urdu, despite late Sir Sikandar Hayat Khan's frantic declaration regarding Urdu being the 'national language of Punjab', may take kindly to and adopt Punjabi, their mother tongue and the vernacular of Punjab, provided that Punjab remains 'Punjab' and Punjabi is not renamed 'Hindustani' or something like that Thus 'Hindi' has got seeds of unity in it. But 'Hindustani', besides being an untruth, will, with its shifty and shifting meaning and its concomitant, the 'two scripts' clause, never allow this province to be one in the matter of language and script, will be a permanent obstacle on the way of progress and thus defeat the very purpose for which this untruth is (probably) sought to be imposed on this province We appeal to the Congress that plumes itself in truth to do away with this palpable untruth, which seems to be inspired by political opportunism but which has infinite potentialities for permanent wrong-doing and injustice, It must give up its attempt to give a habitation to its concoction 'Hindustani' at the cost of

Hindi. It must desist from dealing a death blow to the existence of Hindi even as a provincial language in its mad desire to appease reactionaries and communalists, if it attaches any importance to the solemn pledges given in its election manifesto regarding the protection of the language and culture of every linguistic group and of every linguistic area No Government, popular or unpopular, Congress or non-Congress, has a right to alter the old name of the vernacular of this province, specially when the new name suggested for it has already a definite m e a n i n g, denotes a definite and a mere spoken dialect of the province and has unfortunately gathered and is gathering about it new associations which are not only unpleasant but positively dangerous to the unity and welfare of the province

APPEAL TO HINDIS

Lovers of the language and culture of this province, the various literary and cultural institutions of the province, specially the premier literary institution of the province, the All India Hindi Sahitya Sammelan, the Hindi speaking people generally, specially those who have been returned to the provincial Assembly by the votes of the masses, who know no 'Hindustani', nothing, except their rustic Hindi, are requested to take up the matter with the Government, and to see that the vernacular of this province is called by its proper name Hindi in official papers, correspondence, census reports and other official publications, etc The mischief must be nipped in the bud It will be a poor consolation if this hated term 'vernacular' is

replaced by the controversial, wrong, misleading and dangerous term 'Hindustani', wiping Hindi off the language map of India. Agitation should also be started for securing official recognition for the name 'Hind' for this province in the place of 'United Provinces' which is no name at all Unofficial bodies and nationalist newspapers should invariably refer to the vernacular of this province by the name 'Hindi', and they should also start using the name 'Hind' for U.P. without waiting for its official recognition.

परिशिष्ट ३

हम हिन्दी वाले !

(लेखक—श्रीमदनगोपाल मिश्र)

ब्रिटिश सरकार और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दोनों का ही यह घोषित सिद्धांत रहा है कि उनके प्रभुत्व में प्रत्येक भारतीय जन-समुदाय की भाषा सुरक्षित रहेगी। लेकिन इधर कुछ समय से ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी, जो हमारे देश की सबसे बड़ी जन-संख्या की भाषा है और जो प्रत्येक दृष्टि-कोण से निष्पक्ष विचार करने पर राष्ट्र-भाषा बनने के योग्य एक मात्र भाषा सिद्ध होती है, इस सिद्धांत का अपवाद हो गई है। इधर लगभग दस वर्षों से हिन्दी पर अनेक कठोर प्रहार हुये हैं। सीमा प्रदेश, पंजाब, काश्मीर, सिन्ध और हैदराबाद में हिन्दी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ है, वह पाठकों को विदित ही होगा। लेकिन हिन्दी पर इधर जो सबसे भयानक आक्रमण हो रहा है वह है 'ऑल इंडिया रेडियो' का। 'हिन्दुस्तानी' शब्द की ढाल की आड़ में वह हिन्दी की हस्ती तक को संसार की आँखों के सामने से मिटा देना चाहता है। हिन्दीवालों की ओर से आल इंडिया रेडियो की इस नीति का विरोध हुआ, यहाँ तक कि पंडित रविशंकर शुक्ल ने जहाँ एक ओर 'लैंग्वेज पालिसी आफ आल इंडिया रेडियो' नामक पुस्तक लिख कर आल इंडिया रेडियो की धींगा-धींगी पर से परदा उठाया, वहाँ दूसरी ओर 'राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन' नामक पुस्तक लिख

कर बड़े बड़े भारतीय नेताओं और विद्वानों तक को भ्रांति मे डाल देनेवाले 'हिन्दुस्तानी' शब्द के छद्म रूप का भण्डाफोड किया, लेकिन आल इ डिया रेडियो की नीति अब भी जहाँ की तहाँ है—उसके अधिकारियों ने हिन्दी-भाषा को बहिष्कृत करने का बीड़ा सा उठा लिया है। हिन्दुस्तानी के जाल में फँसे हुए लोग अभी स्वतत्र हुये हैं कि नहीं, यह हमे अभी देखना है। उससे मुक्त होने का सबसे अच्छा उपाय है कि वे पण्डित रविशंकरजी की पुस्तकों को पढ लें। मैं तो प्रत्येक हिन्दी प्रेमी और देश-भक्त का यह कर्तव्य समझता हूँ कि वह इन पुस्तकों को पढे और हिन्दुस्तानी के धोखे से शीघ्र से शीघ्र सावधान हो जाय।

परन्तु, क्या हम हिन्दीवालो ने कभी यह भी सोचा है कि हमारी भाषा पर होनेवाले इन अत्याचारों के लिये स्वयं हमारा उत्तरदायित्व कहाँ तक है ? हमारे किन अपराधों और हमारी किन त्रुटियों और निर्बलताओं के कारण हिन्दी इस अपमानित स्थिति में आ पड़ी है ? हमने हिन्दी का मस्तक ऊँचा करने के लिये अभी तक क्या किया है ? इन प्रश्नो का उत्तर हिन्दी प्रदेशों के केन्द्र संयुक्त-प्रान्त पर ही नज़र डालने से मिल जायगा—

(१) पाँच प्रचलित अँगरेजी के समाचार-पत्र—लेकिन क्या इनम से किसी का भी सम्पादक हिन्दी की गोद मे तुतलाया और पला हुआ व्यक्ति है ? यदि होता तो आल इ डिया रेडियो की हिन्दी-विरोधी नीति एक पग भी आगे न बढ सकती। इनमें से किस समाचार पत्र ने किसी हिन्दी-विरोधी नीति के विरुद्ध आन्दोलन किया है ? यह विश्वास करने को मेरा जी नहीं चाहता कि अब तक अँगरेजी समाचार-पत्रो के सम्पादन की योग्यता रखनेवाला कोई हिन्दी का लाड़ला पैदा ही नहीं हुआ।

(२) हमारे प्रांत के सबसे बडे जगद्विख्यात नेता को हमारी प्रमुख प्रान्तीय भाषा हिन्दी के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं—शायद वह टूटी फूटी ही हिन्दी लिख सकता हो। और उसकी इस उदासीनता ने हमारे अन्य

प्रान्तीय नेताओं को अपनी भाषा के प्रति कहाँ तक उदासीन न बना दिया होगा ? फिर हिन्दी को क्यों न ठोकरें लगाई जायँ ?

(३) हमारी कचहरियों और पुलीस के विभागों में हिन्दी पढ़े-लिखे वकील और अफ़सर अपनी और जनता की भाषा को छोड़कर एक ऐसी भाषा को निस्संकोच अपना लेते हैं जिसे सुनकर किसी भी साधारण नागरिक को आश्चर्य हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'प्रथम', 'द्वितीय' और 'तृतीय' तो दूर रहे, 'पहले', 'दूसरे' और 'तीसरे' के स्थान पर जब तक वे 'अव्वल', 'दोयम' और 'सोयम' नहीं लिख लेते, उन्हें चैन नहीं पड़ता—कितना करुण दृश्य !

(४) हमारे प्रान्त के सबसे बड़े बैरिस्टर, जो अपनी योग्यता के लिये इसी प्रान्त में नहीं, सारे भारतवर्ष में और लन्दन में भी विख्यात हैं, एक बार एक महाशय से एक सभा में, जिसके वे सभापति थे, 'सभापति' शब्द से सम्बोधित किये जाने पर बेतरह बिगड़ उठे थे ! संस्कृत और हिन्दी उनके लिये कितनी असहनीय है ! प्रान्त की जनता की भाषा के प्रति उनका यह व्यवहार ! इस प्रान्त के एक दूसरे नेता और ऐडवोकेट गान्धीजी के शब्दों में हिन्दी कठिनता से लिख सकते हैं। तो फिर हिन्दी का तिरस्कार क्यों न हो ? यद्यपि हम गांधीजी को यह सूचित कर देना चाहते हैं कि हमारे बाप-दादों ने प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रभाव में भले ही हिन्दी न पढ़ी हो, परन्तु उनके बच्चे अपने जीवन और देश से सामंजस्य रखने वाली हिन्दी ही पढ़ते हैं और पढ़ेंगे। चारों ओर से हिन्दी पर किये जाने वाले प्रहार उनकी आँखें और भी खोल देंगे।

(५) भारतवर्ष में सिनेमा-कम्पनियाँ एक बड़ी संख्या में खुल गई हैं, लेकिन हिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी वालों द्वारा कोई कम्पनी क्या अभी तक खुली है ? यदि नहीं, तो क्यों ? और यही कारण है कि हिन्दी की आत्मा की यतः रक्षा करने वाले चित्र बहुत कम बने हैं, यद्यपि सबसे उत्कृष्ट चित्र वे ही

समझे गये हैं जिनमे इस रक्षा का ध्यान रक्खा गया है। ग्रामोफोनरिकार्ड-कम्पनियो के साथ भी यही बात लागू है।

(६) हमारे प्रान्त के बडे-बडे शहरों में सिनेमा-भवनो के मालिक शायद ही कोई हिन्दी वाले मिलें। सिनेमा के पोस्टरों, आदि की भाषा अथवा उनमें किया जाने वाला हिन्दी का तिरस्कार हमें बराबर इसी बात का स्मरण दिलाते हैं। इस तिरस्कार की ओर हम टुकुर-टुकुर देखते हैं—उसका विरोध करने का भी बल हममें नहीं रह गया है।

(७) इस प्रान्त की शिक्षा-सस्थाओ तथा अन्य विभागों मे हमारे अन्य प्रान्तीय भाई विभिन्न पदो पर एक बडी सख्या मे विद्यमान हैं। इनमें से कुछ ने हिन्दी की बहुमूल्य सेवा की है और अब भी कर रहे हैं, इस बात का हमे गर्व है। हिन्दी अब हमारी ही नहीं, प्रत्येक सच्चे भारतीय की है, और फिर उन व्यक्तियों के, जिनकी भाषा हिन्दी की ही सगी बहिन हो और जो हिन्दी प्रान्तो में जीवकोपार्जन करते हो, हिंदी के प्रति अनेक दृष्टि बिन्दुओ से विशेष कर्त्तव्य हैं—(१) हिन्दी पर सकट का अर्थ है सस्कृत पर घोर सकट, फिर क्या सस्कृत की पुत्रियाँ—हिन्दी की अन्य बहनें—उससे बच सकती हैं? (२) हिन्दी प्रान्त में, हिन्दी वालो के बीच, उन्हीं के निमित्त, और उन्हीं के सहयोग से रह कर उनका यह धर्म हो जाता है कि वे अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी को भी अपनाये। (३) केवल यही नहो, भारतीयता के नाते उनका यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वे हिन्दी के सन्देश को अपने अपने प्रान्तो मे पहुँचायें और उसके प्रति जनमत को जाग्रत करें। हमे खेद है, उनमे से बहुतो का पूर्ण सहयोग हिन्दी को प्राप्त नहीं है, बहुत से उसके प्रति उदासीन हैं, कुछ उससे स्पर्धा भी रखते हैं, यहाँ तक कि कुछ हिन्दी वालो को ही हिन्दी के प्रति निरुत्साहित करने मे भी सकोच नहीं करते। हिन्दी वालों का कर्त्तव्य है कि वे अपने इन पथ-भ्रष्ट भाइयों को रास्ते पर लावे, और उन्हे हिन्दी के सन्देश की सत्यता मे विश्वास

दिलावें। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो उन्हीं का अपराध है। अन्य प्रान्तों की कोई भी भाषा अपने ही घर में इस प्रकार की अपमानित परिस्थिति में नहीं है। घर फूँक तमाशा देखने की नीति हिन्दी वालों को ही सह्य हो सकती है, औरों को नहीं।

(८) इस प्रान्त के अनेक ईसाइयों और अँग्रेजों की शिक्षा संस्थाओं में केवल उर्दू ही पढ़ाई जाती है, हिन्दी को उनमें स्थान नहीं। फिर भी हिन्दी वाले अपने बच्चों को उनमें पढ़ाते हैं, बिना इस बात का आन्दोलन किये हुये कि वहाँ हिन्दी पढ़ाने का भी प्रबन्ध होना चाहिये। इस प्रकार हिन्दी वालों के ही बच्चे अपनी मातृ-भाषा और अपनी संस्कृति से वञ्चित हो जाते हैं। आगे चलकर इन्हीं बच्चों के कर्मों पर मैंने उनके माता-पिताओं को झींकते हुये भी देखा है—परन्तु अपराध किनका ?

अब कुछ आँखों देखे दृश्यों पर भी विचार कीजिये—

(१) जनता की सरकार के समय की संयुक्त प्रान्तीय असेम्बली के अधिवेशन का एक बैठक। एक सदस्य जी उठे, हिन्दी में बोलना चाहा, हिन्दी के विरोधियों ने आपत्ति की और उनकी भाषा बिगड़ गई। एक हिन्दी वाले ही 'पार्लामेंटरी' सचिव उठे और उन्होंने बड़े जोश के साथ फारसी में लदा हुआ एक ऐसा भाषण दे डाला कि अधिकतर श्रोता मुँह बाए ही रह गये। हिन्दी के विरोधी तो अपनी भाषा में बोले ही—किसका साहस था कि चूँ कर जाय। उनके हिन्दी के विरोध का शायद सम्मान हुआ, और यदि कोई हिन्दी वाला आपत्ति कर देता तो उसी क्षण उस पर शायद साम्प्रदायिकता, अराष्ट्रीयता, आदि के अपराध लगा दिये जाते। उर्दू तो ठीक, अंगरेजी तो भी ठीक, और हिन्दी तो राम राम !—क्या खूब !!

(२) साक्षरता-दिवस (कांग्रेस सरकार के समय में)—एक पार्क में एकत्र नगर की सारी शिक्षा संस्थाओं के विद्यार्थी। अधिकतर हिन्दी वाले।

कुछ मुसलमान सज्जनों ने भाषण दिये—उर्दू में, ठीक है ऐसा तो होता ही। अब उठे एक एक करके हमारे दो नेता—दोनो हिन्दी के यशस्वी विद्वान् और लेखक। कुछ मनचले साहसी छोकरों ने आवाज लगाई 'उर्दू, उर्दू'—और यह लीजिये उर्दू। फिर क्या था, वे छोकरे विजय से फूल गए और हिन्दी वाले विद्यार्थी मुँह बाये, मुँह ताकते रह गये। हमने मौलाना अबुलकलाम आजाद, श्री रफी अहमद किदवई, आदि किसी भारतीय मुस्लिम नेता को हिन्दी में लिखते-बोलते न देखा है और न सुना है। क्यो ? क्योंकि उर्दू अपने नाम से अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से उर्दू ही रहना चाहती है, हिन्दी अपने को चाहे नष्ट कर डाले।

(३) लखनऊ की बड़ी प्रदर्शिनी (१६३६)—एक पडाल के नीचे 'हिन्दुस्तानी ऐकेडमी' की एक बैठक में हिन्दुस्तानी की समस्या हल हो रही थी। जा बैठा। देखता क्या हूँ कि 'आमफहम ज़ुबान' हिन्दुस्तानी का ही समर्थन करते हुए उर्दू वाले बडे जोश खरोश से फारसी बूँक रहे थे—और ढिलमिल हिन्दी वाले भी, जिनमे हिन्दी के कुछ दिग्गज विद्वान भी थे, (कदाचित तकल्लुफ में आकर) उर्दू में ही भाषण देने का प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दुस्तानी तो कुछ थी ही नहीं, हिन्दी भी न रही, रह गई केवल कोरी उर्दू—न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। उठा, और इन हिन्दी वालों से कुछ कुपित, कुछ निराश, कुछ इन पर हँसता और कुछ इन अशुभ लक्षणों से हिन्दी पर आगे आने वाले सकट का अनुमान करता अपने घर चल दिया।

साराश यह कि जब तक हिन्दी वाले स्वय अपने ही इन अपराधो से मुक्त न होंगे, तब तक हिन्दी-माता अपने ऊपर दूसरो द्वारा किए हुये अत्याचारों पर कम रोवेगी, अपने ही पूतों की निष्क्रियता और कर्त्तव्यहीनता पर सिर पटकती रहेगी। यदि उसके ही बेटे ऐसे न होते तो कैसे कोई उसका अपमान कर सकता? अभी बहुत देर नहीं हुई है—क्या हम अपने

हिन्दी वाले भाइयों और भारत-भक्तों से आशा करें कि वे अपनी मातृ-भाषा अथवा राष्ट्र-भाषा का मस्तक ऊँचा उठाने में अपना तन, मन, धन अर्पित कर देंगे?

(मई, १९४६ की 'सरस्वती' से)

परिशिष्ट ४

वर्धा की हिन्दुस्तानी

(लेखक—श्रीभूदेव विद्यालंकार)

हिन्दी की राष्ट्रीयता पर इस समय दो ओर से प्रबल आक्रमण हो रहे हैं। एक आक्रमण बाहर की ओर से हो रहा है, और उस समुदाय की ओर से होरहा है जो हिंदू संस्कृति, हिंदू सभ्यता तथा हिंदू आचार-विचार का विद्वेषी है और जिसे हिंदुओं की उन्नति फूटी आँखों भी नहीं सुहाती है। इस आक्रमण का करनेवाला ऐंग्लो-मुस्लिम सरकारी गुट्ट है जिसकी एक शाखा केन्द्रीय भारत सरकार का सूचना तथा प्रचार विभाग है। इसके सर्वेसर्वा वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य सर अकबर हैदरी हैं। इनसे पहले सर सुलतान अहमद थे। यह विभाग अपने लेखो, तथा प्रचार के सर्वाधिक शक्ति-शाली साधन आकाश-वाणी (रेडियो) द्वारा अरबी-फ़ारसी-बहुल उर्दू भाषा को 'हिंदुस्तानी' का नाम देकर उसके प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटा हुआ है। सरकारी विभाग की इस उर्दू पक्षपातिनी तथा हिन्दी विरोधिनी नीति के विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन हिंदी साहित्य सम्मेलन तथा हिंदी साहित्य सेवियों द्वारा कई वर्षों से चल रहा है। यह आन्दोलन अब तक सफल होगया होता यदि 'हिंदुस्तानी' का पोषक एक दूसरा आन्दोलन हिंदुओं के ही भीतर खड़ा न होगया होता। इस दूसरे आन्दोलन के कारण हिंदी विरोधी सरकारी दल के काँपते हुये हाथ और लड़खड़ाते हुये पैर फिर से

दृढ़ होगये हैं, और हिंदी की राष्ट्रीयता के प्रचार में कुछ समय के लिये बाधायें और बढ़ गई हैं।

यह खेद और दुःख की बात है कि यह दूसरा हिन्दी विरोधी हिन्दुस्तानी का आन्दोलन एक ऐसे व्यक्ति द्वारा उठाया जा रहा है जो किसी समय हिन्दी की राष्ट्रीयता का प्रबल समर्थक, प्रचारक और पोषक था। इस हिन्दुस्तानी का केन्द्र है वर्धा और वहाँ के महात्मा ही इसके प्रवर्त्तक, पोषक, प्रचारक, प्रसारक और प्रेरक हैं। वर्धा से होने वाला हिन्दी पर यह आक्रमण सरकारी गुट्ट के आक्रमण से कहीं अधिक घातक है क्योंकि यह प्राथमिक और माध्यमिक श्रेणियों से ही हिन्दुस्तानी का प्रचार हमारे बालक-बालिकाओं में करने का उपक्रम कर रहा है। सरकारी विभाग की 'हिन्दुस्तानी' और वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' मे केवल नाम साम्य ही नहीं है, प्रत्युत हिन्दी में प्रचलित सरल और सुबोध संस्कृत शब्दों के भी बहिष्कार तथा अरबी फारसी बहुल उर्दू शब्दों के विशेष व्यवहार और प्रयोग मे भी दोनों में आश्चर्यजनक साम्य है।

वर्धा की हिन्दुस्तानी क्या है? कैसी है? इसे समझने के लिये वर्धा-शिक्षा-योजना से सम्बन्ध रखने वाली तथा वहाँ से प्रकाशित पुस्तकों में से दो-चार का अध्ययन ही पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में १—शिक्षा में अहिंसक क्रांति, २—एक कदम आगे, ३—बुनियादी तालीम के दो साल, ४—गत्ते का काम, भाग पहला, ५—खेती शिक्षा, ६—ओटना, तुनना व धुनना, ७—नई किताब (हिन्दी), ८—कताई गणित (हिन्दी), ९—तकली (हिन्दी), १०—नई किताब (उर्दू), ११—कताई का हिसाब (उर्दू), १२—तकली (उर्दू), इन बारह पुस्तकों का अध्ययन करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यदि वर्धा की हिन्दुस्तानी का विरोध न किया गया और वह सफल हो गई तो हिन्दी का स्वरूप इतना विकृत हो जायगा कि उसे पहचानना भी कठिन हो जायगा, यहाँ तक कि हिन्दी की उपजीव्य संस्कृत के सरल और सुबोध-

शब्दों का भी बहिष्कार होकर उनके स्थान पर अरबी फारसी बहुल उर्दू शब्दों की इतनी भरमार हो जायगी कि वह वही हिन्दुस्तानी बन जायगी जो ऐंग्लो-मुस्लिम गुट्ट को अभीष्ट है।

हम यह मानते हैं कि उन्नतिशील भाषा पड़ोसी भाषाओं के ही नहीं प्रत्युत विदेशी भाषाओं के शब्दों से भी अपने शब्द-भाण्डार को भरने में आगा-पीछा नहीं करती। पर इसका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि अपने आत्मसात किये हुये शब्दों का या उपजीव्य भाषा के शब्दों का बहिष्कार करके दूसरी भाषा के शब्दों को अपनाया जाय, उनके पीछे दौड़ा जाय।

वर्धा की हिन्दुस्तानी कैसा साहित्य निर्माण कर रही है, इसके कुछ उदाहरण देखिये :—

'खेती की शिक्षा"—एक सौ तीस पृष्ठों की ग्यारह अध्यायों में विभक्त यह एक पुस्तक है। यह 'खेती शिक्षण' नाम की मराठी पुस्तक का अनुवाद है। इसके प्रथम दो अध्यायों में ही उर्दू के शब्दों तथा वाक्यांशों का प्रयोग किस प्रकार किया गया है, देखिये :—बाग बगीचे, ताल्लुक, नजदीकी सम्बन्ध, वगैरा, मौजू, मददगार साबित होगा, कुदरत, जिन्दगी गुजारनी, इम्तहानों, बेमजा, बेहद ताकतवर, खुदा की शान, जिन्दगी की अजमत, गुजरेगा, कुदरत के ये एलची, होशियारी, चीज में खूबसूरती, तरक्की जरूर होगी, गौर करने की ताकत, हासिल, वजह, बाकायादा सोचने का माद्दा पैदा होगा, बयान, ख्यालों को जाहिर करना, पाबन्दी, एहसास, मुसव्वरी, आवाज, बारीक, ज़्यादा मजबूत, खासकर, चूँकि ज्यादातर, कौमी फ़ायदा, शख्सी, कौमी निगाह, मुताबिक, दस्तकारी के जरिये, वक्त, मादरी ज़बान, नज्म, मुकद्दम धंधे, मजनूनों की तरह, जरूरी, शामिल, जमातों, मकसद, गुंजाइश, और हालात मुआफिक हों, तनख्वाह, पैदावार का सवाल, गुलामी, बदनाम, नसीब, बदकिस्मती, आजादी की तरफ़, तालीम, शानदार, खास पहलुओं, खास मरकज, सिर्फ़, ज़रूरी पहलुओं पर खास ध्यान, काम-

लिपि में जाते ही इसकी पक्की मुसलमानी हो जाती है। इस पर बुर्का चढ़ जाता है और विशुद्ध उर्दू हो जाती है। इस 'नई किताब' को नागरी तथा उर्दू में प्रकाशित संस्करणों को देखने से यह बात स्पष्ट होजाती है —

पहले पन्ने से ही देखते चलिये—

नागरी	उर्दू
१—	१—लिटरेचर कमेटी मुकर्ररशुदह मिनजानिब बेसिक एजूकेशन बोर्ड, बिहार।
२—नागरी-प्रकाशक	२—उर्दू-नाशर
३—पहला संस्करण	३—तलब अव्वल
४—(नोट नहीं है)	४—(नोट) अर्ज अडीटर—मैं निहायत मसर्रत के साथ इस बात का अयतराफ़ करता हूँ—इत्यादि।
५—निवेदन	५—अर्ज हाल
६—बुनियादी स्कूलों के तीसरे दर्जे के बच्चों के हाथों में इस नई किताब को रखते हुये मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है।	६—मुझे बुनियादी स्कूलों के तीसरे दर्जह के हाथों में इस 'नई किताब' को देते हुये बेहद मसर्रत हो रही है।
७—यह किताब खास करके	७—यह किताब मखसूस तौर पर
८—पर मुझे आशा है	८—लेकिन मुझे उम्मीद है
९—जब से बुनियादी तालीम का प्रयोग शुरू हुआ	९—जब से बुनियादी तालीम का तजरबह शुरू हुआ
१०—एक नये साहित्य की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं	१०—एक नये अदब की जरूरत महसूस कर रहे हैं

११—क्या बच्चों के लिये और क्या शिक्षकों के लिये	११—क्या बच्चो के लिये और क्या मौलवियों के लिये
१२—सच्चे शिक्षा साहित्य का अभाव है	१२—सच्चे तालीमी अदब का फकदान है
१३—विषय सूची	१३—फेहरिस्त मजामीन
१४—प्रार्थना	१४—दुआ
१५—यही चाहता हूँ मै ईश्वर	१५—यही चाहता हूँ मैं या रब्ब
१६—बाद तुम्हारे ईश्वर, इसका ही हरदम कहलाऊँ मैं	१६—बाद तुम्हारे या रब इसका एक खादम कहलाऊँ मैं
१७—तकली की गति (चाल) के अनुसार (मुताबिक) ही सूत	१७—तकली की रफ्तार के मुताबिक ही सूत
१८—यह सूत कितना समान (एकसाँ) है	१८—यह सूत कितना एकसाँ है
१९—प्रणाम, मामाजी	१९—आदाब, मामूजान (यहाँ ध्यान देने की बात है कि कहने वाला केदार हिन्दू है और अपने मामा से कह रहा है)
२०—सूत की समानता (एकसानियत) पर वह ध्यान नहीं दे रहा था।	२०—सूत इसका एकसाँ नहीं हो रहा था।

ये उद्धरण 'निवेदन' या 'अर्ज हाल' की केवल प्रथम ८-१० पक्तियों के हैं। बस इतने से ही समझ लीजिये कैसी 'हिन्दुस्तानी' है।

लेख का कलेवर बढ़ रहा है इसलिये इसे यहीं समाप्त करता हूँ। अन्य पुस्तकों के सम्बन्ध मे फिर लिखूगा। अन्त में इतना अवश्य लिखूँगा कि

ये उद्धरण स्पष्ट कह रहे हैं कि वर्धा को हिन्दुस्तानी की भाषा एक नहीं है। नागरी लिपि में जिस प्रकार हिन्दी शब्दों के उर्दू पर्याय कोष्ठों में लिख कर उर्दू के शब्दों का परिचय, व्यवहार तथा प्रयोग बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है, उर्दू लिपि के संस्करणों में इस प्रथा को क्यों नहीं अपनाया गया? क्यों नहीं उर्दू शब्दों के संस्कृत पर्यायों से उर्दू पढ़ने वालों को परिचित कराने का प्रयत्न किया गया? क्या यह उर्दू के साथ पक्षपात तथा संस्कृत के बहिष्कार का द्योतक नहीं है? क्या इस हिन्दुस्तानी द्वारा हिन्दी के साथ न्याय हो रहा है? क्या यह प्रथा हिन्दी के सर्वनाश का कारण न होगी? क्या इसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से उर्दू शब्दों का व्यवहार बढ़ाना, उर्दू का प्रचार करना नहीं है?

(जनवरी, १९४६ को 'हिन्दी' से)

(आगे टिप्पणी देखिये)

परिशिष्ट ४ पर टिप्पणी

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

वर्धा की हिन्दुस्तानी के पीछे जो मनोवृत्ति काम कर रही है वह तो ऊपर के लेख से प्रकट है ही, इस लेख से बिहार की हिन्दुस्तानी पर भी भरपूर प्रकाश पड़ता है। यह है बिहार जैसे हिन्दी प्रान्त की उस हिन्दुस्तानी का स्वरूप जो बिहारी जनता पर 'राष्ट्रीय सरकार' द्वारा लादी जा रही है और बिहारी बालकों के मस्तिष्क में प्रारम्भ से ही पैठाई जा रही है! देवनागरी पुस्तकों में हिन्दुस्तानी के नाम पर भाषा की जो दुर्दशा की गई है उससे अधिक आश्चर्य फ़ारसी लिपि की पुस्तकों की भाषा देख कर होता है। इन उर्दू पुस्तकों मे हिन्दी के साधारण से साधारण देशज शब्द तक के लिये स्थान नहीं। उनके स्थान में भी ढूँढ़ ढूँढ़ कर अरबी फारसी शब्दों को ठूँसा गया है, और जहाँ यह सम्भव नहीं वहाँ अँगरेजी शब्द रक्खा गया है (जैसे 'अडीटर'—'सम्पादक' सह्य नहीं) और वस्तुतः क्रियाओं और विभक्तियों को छोड़ कर भाषा में कोई भी भारतीय तत्व न रहने दिया गया है। ऊपर से तुर्रा यह कि इस भाषा का नाम रक्खा गया है 'हिन्दुस्तानी' और उसे जनता की सरल भाषा कह कर लादा गया है बिहारी जनता पर जिसकी (हिन्दू या मुसलमान) मातृ-भाषायें भोजपुरी, मथिली और मगाही हैं और जिसने अपनी वाणी विद्यापति ऐसे कवि से पाई है! यदि पंजाब, सिन्ध या सीमा-प्रान्त का मामला होता तो वहाँ तो बेसिक स्कूलों की 'हिन्दुस्तानी' बनाई जाती उर्दू और पुस्तकों को देवनागरी लिपि में भी न

छापा जाता (उदाहरण के लिये पंजाब के बेसिक स्कूलों में प्रचलित 'हिन्दुस्तानी' की पुस्तकें देख लीजिये), परन्तु बिहार में प्राथमिक शिक्षा से भी एक दर्जा नीचे बेसिक शिक्षा के लिये मैथिली और मगाही बोलने वाले मुसलमान बालकों के हाथ में ऐसी पुस्तकें दी जाती हैं जिन की उर्दू को वे क्या, युक्त-प्रान्त और पंजाब में भी मुसलमान बालक नहीं समझ सकते। यह है 'मातृ-भाषाओं द्वारा शिक्षा' वाले नारे का व्यावहारिक रूप ! जैसी उर्दू की बिहारी मुसलमान स्वयं न माँग करते उससे अधिक क्लिष्ट उर्दू उन पर थोपी जा रही है, और बिहारी जनता को भाषा और लिपि के पाकिस्तानों में बाँटा जा रहा है, और यह सब 'हिंदुस्तानी' के नाम पर! ऐसा क्यों न हो? बिहार की 'राष्ट्रीय सरकार' में डा० सैयद महमूद शिक्षा-मन्त्री क्या व्यर्थ के लिये बने थे, और इस बार शिक्षा का पोर्टफोलियो दबोचे रहने का जीतोड़ प्रयत्न उन्होंने क्या तकल्लुफ़ में आकर किया था? संसार भर में भारत ही तो एक ऐसा अभागा देश है जहाँ बिहार जैसे हिंदी प्रान्त का शिक्षा-मन्त्री एक ऐसे व्यक्ति को बनाना सम्भव है जो अपनी मातृभाषा हिंदी न बताता हो, जिसे हिंदी का ज्ञान न हो, हिंदी से प्रेम न हो वरन् जिसे हिंदी से द्वेष हो—और वह भी एक ऐसी सरकार द्वारा जो राष्ट्रीयता का दम भरती हो, जनता की सरकार होने का दावा करती हो! इंगलैंड की प्रतिगामी से प्रतिगामी सरकार भी एक ऐसे व्यक्ति को इंगलैंड का शिक्षा-मन्त्री बनाने का साहस न करेगी जो अँगरेजी का विद्वान न हो और जिसे अँगरेजी से प्रेम न हो, परन्तु भारत में तो कांग्रेसी राष्ट्र-वादियों को कांग्रेसी मुसलमानों के सहयोग का मूल्य हिंदुओं की जेब से चुकाना ही है।

क्या हम बिहार की नई सरकार से यह निवेदन कर सकते हैं कि वह बिहार में भाषा और लिपि का पाकिस्तान, जिससे वह अभी तक बचा रहा है, खड़ा करके, बिहार की जनता के टुकड़े टुकड़े न करे और उसकी भावी उन्नति

मे भयकर बाधा न डाले ? यदि उसने ऐसा किया तो बिहार की अगली पीढ़ियाँ उसे इस महान् अपराध के लिये कभी क्षमा नहीं करेंगी। बिहार प्रात में प्रातीय बोलियों के बाद हिंदी के सिवा किसी अन्य हिंदुस्तानी का कोई अधिकार नहीं, और देवनागरी के सिवा किसी दूसरी लिपि का कोई स्थान नहीं, चाहे मुसलमानो का मामला हो, चाहे ईसाइयो का और चाहे किसी और का। बिहार की हिंदुस्तानी हिंदी है। बिहार के १४ प्रतिशत मुसलमानों, जो हिंदी समझते हैं, के दुराग्रह के कारण बिहार में शिक्षा या राजकाज में उर्दू और उर्दू लिपि को हिंदी और देवनागरी के समकक्ष स्थान देकर या हिंदी से भिन्न किसी हिन्दुस्तानी और दोनों लिपि को स्थान देकर बुद्धि का दिवालियापन प्रकट करना है। दुख की बात है कि जब पजाब (जिसके कई जिलों की मातृभाषा ही हिन्दी है) की सरकार ३० प्रति शत जनता के कहने पर भी राजकाज, कचहरियों, आदि मे उर्दू के सिवा किसी दूसरी हिंदुस्तानी और फारसी लिपि के सिवा किसी दूसरी लिपि को कोई स्थान देने को तैयार नही, बिहार की सरकार गिने चुने मुसलमानो को खुश करने के लिये अपनी राजभाषा और राजलिपि को दो दो मे विभक्त चाहती है*, और हिंदी की सुन्नत करना चाहती है। क्षोभ का विषय है कि जब शारदा लिपि के देश काश्मीर और गुरुमुखी के देश पजाब में मुसलमान केवल एक लिपि फारसी यह कहकर रखना चाहते हैं कि दो लिपियों मे जनता दो भागों में बँट जायगी और मिलकर कभी एक न हो सकेगी, और

* कुछ वर्ष हुये बिहार की इन्टरिम (मध्यकालीन) गवर्नमेंट के समय में (१९३५ के विधान के लागू होने से पूर्व) अपनी तीन महीने की सुलतानी में सर सुल्तान अहमद ने मौका पाकर उर्दू को भी बिहार की राजभाषा, कचहरियों की भाषा, आदि घोषित कर दिया। इस बात का कोई चिन्ह नज़र नहीं आता कि बिहार की राष्ट्रीय सरकार एक कठपुतली सरकार की इस प्रतिक्रियावादी आज्ञा को, जिसको केवल दस वर्ष हुये हैं, रद्द करके बिहार को दुभाषी भाषा से मुक्त कर देगी। उसकी 'राष्ट्रीयता' में इतना दम कहाँ ?

जब सिन्ध की सरकार सिन्ध में 'हिंदुस्तानी' की केवल एक लिपि फारसी यह कहकर रखती है कि सिन्धी लिपि से मिलती जुलती होने के कारण वही सिन्धियों के लिये उपयुक्त है, बिहार की राष्ट्रीय सरकार देवनागरी के देश बिहार में कैथी जाननेवाले बिहारियों पर देवनागरी के साथ एक दूसरी लिपि जबर्दस्ती थोपना चाहती है, और जो जनता आज एक है उसे अब दो भागों में बाँटना चाहती है। राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी की दो लिपियाँ होंगी, परन्तु बिहार की भाषा की दो लिपियाँ क्यों हों? राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी की दो शैलियाँ होंगी, चर्चा द्वारा उसका स्वरूप निश्चित किया जायगा, उसमें उर्दू प्रान्तों को रिश्वत दी जायगी आदि, परन्तु बिहार की प्रान्तीय हिंदुस्तानी हिंदी से भिन्न क्यों हो? क्या अन्य प्रान्त अपने अपने यहाँ राष्ट्र-भाषा के बजाय अपनी अपनी प्रान्त-भाषा और प्रान्त-लिपि की स्थापना न करेंगे? बिहार की ही प्रान्त-भाषा और प्रान्त-लिपि का आदर्श वर्धा की राष्ट्र-भाषा क्यों हो? जो बात बिहार के साथ लागू है, वह महाकोशल, जिसकी मातृ-भाषा ही कोशली अर्थात् पूर्वी हिंदी है, के साथ और भी दृढ़ता के साथ लागू है। वहाँ केवल ६ प्रति शत मुसलमान हैं, उनकी मातृभाषा भी हिन्दी है, परन्तु वहाँ भी हिंदुस्तानी के नाम पर भाषा और लिपि का पाकिस्तान खड़ा किया जा रहा है और हिंदी को विकृत किया जा रहा है (देखिये विद्यामन्दिर योजना)। जो प्रान्त अब तक भाषा की दृष्टि से एक रहे हैं, उनमें अब हिंदुस्तानी के नाम पर भाषा और लिपि की फूट डाली जा रही है, और अपने हाथों समस्या को जानबूझ कर जटिल बनाया जा रहा है। यह बुद्धि का दिवालियापन है। इधर युक्त-प्रान्त में 'हिन्दुस्तानी बोलचाल' नाम से हिंदुस्तानी की जो पुस्तकें स्कूलों में जारी की गई हैं, उनकी भाषा भी बिहार की राजेन्द्र सीरीज और महमूद सीरीज की 'हिन्दुस्तानी' पुस्तकों की भाषा से भिन्न नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि कामन भाषा 'हिन्दुस्तानी' चलाने की फिक्र हिन्दी प्रान्तों में की जाती है जहाँ ९० प्रतिशत

मे अधिक की भाषा हिन्दी है। इन प्रान्तों को हिन्दी को बनाये रखने की सजा दी जाती है। पजाब मे जाकर 'हिन्दुस्तानी' चलाने की फिक्र कोई नही करता। वहाँ तो उर्दू ही सबकी 'हिन्दुस्तानी' होकर रहना चाहती है और काग्रेस इससे सहमत है।

जहाँ एक ओर फारसी लिपि स्वय राष्ट्रीय सरकारो द्वारा प्रचलित की जा रही है, वहाँ दूसरी ओर बिहार और मध्य-प्रात में आदिवासियो, सथालो तथा अन्य पिछड़ी हुई और जगली जातियों मे मिशनरी रोमन लिपि का प्रचार कर रहे हैं जो उनके ईसाइत प्रचार का ही एक अग है, क्योंकि इस प्रकार वे इन लोगो को अनायास भारतीय सभ्यता और सस्कृति के प्रभाव से दूर ले जाते हैं। इन प्रान्तो मे रोमन लिपि की समस्या भीषण रूप धारण करने वाली है, और लिपि का एक और पाकिस्तान बनने वाला है। परन्तु राष्ट्रीय सरकार टुकुर-टुकुर देख ही नहीं रही है, रोमन लिपि के प्रचार मे सहायता दे रही है *। बृटिश सरकार चाहती है कि इस देश की भाषा बने उर्दू और लिपि हो रोमन। इसी रोमन उर्दू को वह सेना मे, सरकारी दफ्तरों मे, रेडियो, आदि मे प्रचारित कर रही है। इसी कारण बिहार और मध्य-प्रान्त मे ही नहीं, आसाम, बगाल, आदि मे भी पिछड़ी हुई जातियों मे और ट्राइबल एरियाज मे जो स्वय वायसराय के आधीन हैं रोमन लिपि का जोर शोर से प्रचार किया जा रहा है। इधर युक्त-प्रान्त की सरकार ने रोमन

---

* बिहार के पिछले कांग्रेसी मंत्रि-मडल के समय में बिहार प्रान्तीय निरक्षरता निवारण सघ ने सथाल बच्चों की पाठ्य पुस्तकें रोमन लिपि मे छपाईं। संथाल परगना में रोमन लिपि प्रचार को सरकार से पूरी सहायता मिल रही है। इधर बिहार सरकार के शिक्षा विभाग ने एक सर्कुलर निकाल कर संथाली स्कूलों की प्रारंभिक कक्षाओं में रोमन लिपि को अनिवार्य कर दिया है। इस सब में डा० सैयद महमूद का हाथ प्रत्यक्ष है। उनकी राय मे जहाँ फारसी लिपि को अकेले या देवनागरी के साथ चलाना सभव नहीं, वहाँ रोमन लिपि का बखेड़ा खड़ा हो जाय तो अच्छा।

लिपि प्रचार का उपक्रम किया है और रोमन लिपि में पुस्तकें छपा कर कुछ स्कूलों में जारी करा भी दी हैं। बृटिश सरकार की इस दुरभिसन्धि में मुस्लिम गुट्ट मिला हुआ है। हिन्दुस्तानी वालों के तर्क 'दोनों लिपि' के कारण राष्ट्रीय सरकार भी कुछ करना नहीं चाहती या कर नहीं सकती। चाहे एक विदेशी ईसाई आकर जनता में भाषा और लिपि की फूट डाले, चाहे एक स्वदेशी मुसलमान राष्ट्रीय सरकार की नाक तले ऐसा करे, राष्ट्रीय सरकार की 'राष्ट्रीयता' दोनों के सामने पंगु है। जनता की भाषा और लिपि के प्रति अन्याय को दूर करना तो दूर रहा, वह उसमें योग देती है। जनता के शत्रु मौका पाते ही उसकी भाषा और लिपि पर प्रहार करने से नहीं चूकते, परन्तु जनता के प्रतिनिधि उनके प्रहारों का प्रतिकार करने में असमर्थ हैं। एक विदेशी सरकार एक विदेशी लिपि को हुक्म निकाल कर अनिवार्य करार दे सकती है, परन्तु स्वदेशी सरकार एक स्वदेशी लिपि को अनिवार्य करार नहीं दे सकती। उसमें उसकी 'राष्ट्रीयता' बाधक है। परन्तु ऐसी राष्ट्रीयता से न किसी राष्ट्र का उद्धार हुआ है और न हो सकता है।

परिशिष्ट ५

हिन्दुस्तानी

(लेखक—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन)

"……हिन्दुस्तानी हिन्दू-मुस्लिम पैक्ट की भाषा है, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की नहीं—एकदम बनावटी। उसका उद्देश्य है—ऐसी भाषा लिखने का प्रयत्न करना, जिसमें न संस्कृत के शब्द हों न अरबी फारसी के, और जो दोनों लिपियों में लिखी जा सके। उत्तर-भारत में काफी आर्य समाजी साहित्य प्रचलित है जो ठेठ हिन्दी है, लेकिन उसे उर्दू लिपि में लिखकर छाप दिया गया है—यहाँ तक कि आर्य समाज की संस्कृत सन्ध्या को भी। उर्दू लिपि में लिखा होने मात्र से क्या वह सारा साहित्य "हिन्दुस्तानी" समझा जायगा? यदि नहीं, तो इधर जो कुछ साहित्य पैदा होने लगा है, जो ठेठ उर्दू है, लेकिन जिसे देवनागरी अक्षरों में भी छाप दिया जाता है वह कैसे हिन्दुस्तानी कहला सकता है? मेरे एक आदरणीय मित्र हैं। उन्होंने एक किताब लिखी है जो देवनागरी अक्षरों तथा उर्दू हरफ़ दोनों में छपी है। मैंने उस किताब को हस्तलिपि के रूप में देखा। वह उर्दू में लिखी गई थी और एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा कि अब बताओ उसमें कहाँ-कहाँ कौन-कौन शब्द काटकर बदल दिये जायँ जिससे यह देवनागरी में भी छप सके। मैंने कहा, मुझे यह अत्यन्त अस्वाभाविक मालूम होता है; इससे उर्दू शैली का प्रभाव नष्ट होता है और हिन्दी का तो आ ही

नहीं सकता। तो भी हुआ वही जो वह चाहते थे। जहाँ तहाँ कुछ शब्दों की जगह 'हिन्दी' शब्द लिख दिये गये और वह पुस्तक देवनागरी अक्षरों में भी छप गई।

एक और उदाहरण—

दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा ने "हिन्दुस्तानी' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें मौलाना अबुल कलाम आजाद का उर्दू में लिखा हुआ एक 'दीबाचा' है जो देवनागरी अक्षरों में भी ज्यों का त्यों 'दीबाचा' ही है। 'दीबाचा' शब्द फारसी का है, उसे फारसी में जगह है और हिन्दुस्तान की उर्दू में भी, लेकिन हिन्दुस्तान ही जिनकी जन्म-भूमि है ऐसे ये दो शब्द, 'प्रस्तावना' और 'भूमिका', आप कृपया कहें कि अब कहाँ शरण ढूँढ़ें? हिन्दुस्तान में तो अब उनको शरण मिलेगी नहीं, क्योंकि वे 'हिन्दुस्तानी' नहीं हैं!

और क्या यह 'न संस्कृत, न अरबी फारसी' भाषा लिखने का प्रयत्न सफल होता है? यदि आपको सारे साहित्य में "मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ' जैसे दो दो शब्दों के वाक्यों से ही काम लेना हो तो बात दूसरी है, अन्यथा आप जरा गहराई में उतरें तो आप को अपनी 'न संस्कृत, न अरबी फारसी' वाली बात तुरत छोड़ देनी होगी। मैं इस 'हिन्दुस्तानी' किताब से ही, जो एकदम बच्चों के लिये लिखी गई है, दो उदाहरण देता हूँ। एक जगह फुटनोट है—"मुजक्कर मुअन्नस की वजह से इफआल में जो फर्क पैदा होता है उस्ताद उसे समझावे और मश्क करावे।" हिन्दुस्तानी आदर्शवादियों ने उसे देवनागरी अक्षरों में कैसे लिखा है—'पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की वजह से क्रियाओं में जो फर्क पैदा होता है उस्ताद उसे समझावे और मश्क करावे।" दोनों लिपियों में लिखी जाने योग्य भाषा बनाने के फेर में देवनागरी में भी 'कारण' न लिखकर 'वजह' लिखा गया है, 'अभ्यास' न लिखकर 'मश्क' लिखा गया है, 'अध्यापक' न लिखकर 'उस्ताद' लिखा

गया है, मानों ये शब्द पहले सब शब्दों की अपेक्षा सरल हों, 'आमफहम' हों, लेकिन तब भी क्या दोनों लिपियों मे एक ही भाषा लिखी जा सकी? देवनागरी में 'क्रियाओं' है, उर्दू मे 'इफआल' है ('फेल' का बहुवचन 'फ़ेलों' हो जाता लेकिन तब तो वह हिन्दी व्याकरण के अनुसार होता!), देवनागरी में 'पुल्लिंग' है तो उर्दू मे 'मुजक्कर' है, देवनागरी में 'स्त्रीलिंग' है तो उर्दू मे 'मुवन्नस' है।

दूसरा उदाहरण लें—पृष्ठ १४ पर—"मुतकल्लम-हाजिर-गायब हालतों की मश्क फेले-हाल के मुजक्कर मुवन्नस की सूरतों में करा दी जाय।" दोनों लिपियो मे एक ही भाषा लिखने के इच्छुकों को देवनागरी में इसे यूँ लिखना पडता है—"उत्तम और मध्यम पुरुष की मश्क वर्तमान-काल के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के रूपों में करा दी जाय।" दोनों वाक्यों में एक 'मश्क' शब्द को छोडकर कौन सा विशेष शब्द समान है? यदि हम 'अभ्यास' की जगह इस 'मश्क' शब्द को ही अपनी भाषा मे जगह दें और हिन्दुस्तानी की खातिर 'अभ्यास' को देश निकाला भी दे दें तब भी क्या इससे वह हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' हो जाती है?

अभी अभी दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा के १२वें-१३वें पदवी-दान के अवसर पर जनाब सैयद अब्दुल्ला बरेलवी साहब ने एक तकरीर फरमाई है। उसमे आपने दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा को नेक सलाह दी कि वह अपना नाम 'हिन्दी प्रचार सभा' न रखकर 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' में तबदील कर दे। आप फ़रमाते हैं—"हिन्दी नाम से पैदा होने वाले भ्रम को हटाने के लिये मै अपनी अपील पर जोर दूँगा, खास करके इसलिये कि मुझे यकीन है कि इस तबादले से मुसलमानों के मन पर अच्छा असर पडेगा।" कुछ लोग कहा करते हैं कि नाम मे क्या रक्खा है, लेकिन बरेलवी साहब नाम के तबादले से ही मुसलमानों के मन पर बड़ा अच्छा असर पैदा करने की उम्मीद करते हैं। आपने अपनी तकरीर में फ़रमाया है कि

कौमी ज़बान को उसके जो तीन नाम मिले हैं—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी—वे तीनों मुसलमानों के दिये हुये हैं। यदि यह बात ठीक है तो 'हिन्दुस्तानी' नाम में वह कौन सी खासियत है जिसकी वजह से मुसलमान भाई 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनों नामों पर उसे तरजीह देंगे? आज आम मुसलमानों पर 'अच्छा असर पड़ेगा' की बात कहकर राष्ट्रभाषा को 'हिन्दुस्तानी' कहने की सलाह दे रहे हैं, कल आप उसे उर्दू ही कहने की सलाह भी दे ही सकते हैं। १९४२ में गांधीजी ने जब 'हिन्दुस्तानी सभा' की नींव डाली तब उसके ३८ बुनियादी मेम्बरों में कितने मुसलमान भाई मेम्बर बने थे? स्वयं बरेलवी साहब तो खैर उसमें थे ही नहीं, कसम खाने के लिये तीन नाम दिखाई देते हैं, लेकिन ऐसे जिनमें से कोई भी भाषा सम्बन्धी शोधों के लिये प्रसिद्ध नहीं—न आजाद हैं, न जाकिरहुसैन हैं, न मौलाना अब्दुलहक़ हैं।

हमें क्षमा किया जाय, यह 'हिन्दुस्तानी' आन्दोलन हमारे मान्य राजनीतिक नेताओं की सूझ है और किसी राजनीतिक आवश्यकता का ही परिणाम भी। लेकिन शर्तों पर आश्रित एकता—बनावटी एकता—स्थायी नहीं होती।"

(बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव के अवसर पर १९४४ में दिये दीक्षान्त भाषण से)

परिशिष्ट ६

"हिन्दुस्तानी का प्रचार क्यों ?"

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की रिपोर्ट पर एक दृष्टि

(लेखक—श्रीप्रभुदयाल मीतल, प्रधान मन्त्री, व्रज-साहित्य-मंडल)

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की ओर से पिछले वर्ष ता० २६ फरवरी, १९४५ को वर्धा में 'अखिल भारत हिन्दुस्तानी-प्रचार सम्मेलन' हुआ था। महात्मा गांधी उसके सभापति थे। इस सम्मेलन की रिपोर्ट 'हिन्दुस्तानी-प्रचार क्यों?' नाम से अब पुस्तकाकार प्रकाशित हुई है। इस रिपोर्ट से हिन्दुस्तानी-प्रचार के सम्बन्ध में आवश्यक बातें ज्ञात हो सकती हैं।

इस सम्मेलन को करने का उद्देश्य बतलाते हुये मन्त्री श्री श्रीमन्नारायण जी अग्रवाल ने कहा—

"हमने यह महसूस किया कि हिन्दुस्तानी भाषा का रूप तय करने और हिन्दुस्तानी में जरूरी साहित्य तैयार करने के लिये सभा के मेम्बरों के अलावा हिन्दी और उर्दू के दूसरे विद्वानों और माहिरों की जरूरत है। इस विचार को मैंने पूज्य गान्धीजी के सामने रक्खा। उन्होंने भी उसे पसन्द किया। इसलिये यह कान्फरेंस बुलाने का फैसला किया।"

सम्मेलन के प्रथम दिन उसके सभापति महात्मा गान्धी का मौन-दिवस था, अतः उनका लिखित संदेश पढ़ने पर कार्रवाई प्रारम्भ हुई। अपने संदेश में महात्माजी ने आगत सज्जनों की उपस्थिति पर प्रसन्नता प्रकट करते हुये दो सज्जनों की अनुपस्थिति का विशेष रूप से उल्लेख किया। पहले सज्जन

डाक्टर अब्दुल हक थे, जो दूसरे दिन सम्मेलन में उपस्थित हो गये थे। दूसरे सज्जन श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन थे, जो बीमार होजाने के कारण उपस्थित नहीं हो सके।

सम्मेलन की कार्रवाई आरम्भ करते हुये डा० सैयद महमूद ने हिंदुस्तानी के विषय में अपने विचार प्रकट किये। उसके नामकरण के सम्बन्ध में आपने कहा—

"मैं खुद तो कौमी जबान के लिये 'हिन्दी' नाम को ही पसन्द करूँगा क्योंकि यह बड़ा आसान और खूबसूरत लफ्ज है। मगर चूँकि यह नाम अब संस्कृत शब्दों से भरी हुई जबान के मानी रखता है, इसलिये उसको छोड़कर 'हिन्दुस्तानी' नाम को अपनाना पड़ रहा है।"

'उर्दू' शब्द की उत्पत्ति के विषय में आपने कहा—

"अँगरेजों ने हमको बताया है कि 'उर्दू' लफ्ज के मानी 'बाजार' या 'छावनी' के हैं और यह तुर्की लफ्ज है। मगर मैंने एक जगह पढ़ा है कि उर्दू संस्कृत का एक लफ्ज है, जिसके मानी मिले हुये या मिक्सचर या कम्पाउन्ड के हैं और यह यहीं का लफ्ज है। शायद ज्यादा खोज तलाश करने के बाद यह मालूम होजायगा कि यह लफ्ज उर्दू इसी लफ्ज 'उर्दू' से निकला है।"

इस सम्मेलन में जो भी भाषण हुये उन सबमें हिन्दुस्तानी का समर्थन किया गया। भाषणकर्ता चाहे वे हिन्दू थे, चाहे मुसलमान, चाहे वे हिन्दी के विद्वान थे और चाहे उर्दू के माहिर, उन सबने उर्दू शब्दों की भरमार की थी। सभी वक्ताओं ने हिन्दुस्तानी को फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखे जाने का समर्थन किया। केवल राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के प्रधान मंत्री श्रीभदन्त आनन्द कौसल्यायन और धारवाड़ के श्रीसिद्धनाथ पंत ने दोनों लिपियों का विरोध करते हुये नागरी के समर्थन में अपने विचार प्रकट किये।

श्रीआनन्द कौसल्यायनजी ने कहा—

"कल और आज मैंने जो भाषण सुने, उनसे मुझे आशा की बनिस्बत निराशा ही अधिक हुई।... 'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्दों से तो मेरे दिमाग से कुछ अर्थ निकलता है, मगर 'हिन्दुस्तानी' क्या चीज है ? ....मुख्य प्रश्न लिपि का है।.... मेरी समझ में नहीं आता कि एकता के नाम पर हम जो बात भाषा के नाम पर कहते हैं, वही लिपियों के बारे में क्यों न कहें ? एक भाषा की तरह एक लिपि का आग्रह हम क्यों न रक्खें ?"

श्रीसिद्धनाथजी पंत ने कहा—

"लिपि के बारे में यह तय किया जाय कि जिसे जो लिपि पसन्द होजाय, उसे वह स्वीकार करे। दोनों लिपियाँ लाज़िमी करने से फ़ायदा न होगा। 'राष्ट्रभाषा एक, राष्ट्रलिपि अनेक' वाला नया नारा देश में काफ़ी गड़बड़ी करेगा। ..दक्षिण भारत में हमने पिछले २५-२६ वर्षों से देवनागरी के द्वारा प्रचार करते हुये बड़ी सफलता पाई है, और हम देवनागरी के देशव्यापी प्रचार के क़ायल हो गये हैं। इसलिये हमें देवनागरी के द्वारा हिन्दुस्तानी का प्रचार करने को आजादी मिलनी चाहिये।"

इस सम्मेलन में मौलाना सैयद सुलेमान नदवी डा० जाफ़र हसन, श्रीसत्यनारायण, डा० अब्दुल हक और डा० ताराचन्द के बड़े लम्बे चौड़े भाषण हुये, जिनमें उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा की जबरदस्त वकालत की।

इस सम्मेलन में दो 'ठहराव' पास हुये थे। पहला ठहराव पं० सुन्दरलाल ने पेश किया—

"इस कान्फरेन्स की राय में हिन्दुस्तानी जबान को फैलाने और तरक्की देने के लिये इस बात की जरूरत है कि हिन्दी जाननेवाले उर्दू लिखावट को और उर्दू जाननेवाले नागरी लिखावट को जल्दी से जल्दी सीख लें और जो लोग इन दोनों में से किसी को भी नहीं जानते, वह भी दोनों ही को सीखें, ताकि सब लोग हिन्दुस्तानी के रूपों—हिन्दी और उर्दू को—पढ़

और समझ सके और इस तरीके से हिन्दुस्तानी का विकास और प्रचार हो सके।"

इस प्रस्ताव पर बोलते हुये पं० सुन्दरलालजी ने कहा—

"मैं देख रहा हूँ कि हमारे साथ पूरे दिल से न 'अंजुमन-तरक्की-ए-उर्दू' है, न 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', पर इससे मुझे अचरज नहीं होता। अचरज तो इस बात का है कि इतने लोग भी हमारे साथ कैसे हैं।"

इस प्रस्ताव के समर्थन में कई भाषण हुये। श्रीभदन्त आनन्द कौसल्यायन ने फिर इसके विरोध में अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा—

"बोली जानेवाली जबान में तो लिपि का सवाल ही नहीं उठता, मैं यह पूछना चाहता हूँ कि राष्ट्रभाषा सीखने के लिये यह जरूरी है कि दो लिपियाँ सीखनी ही चाहिये ?... मैं यह कहूँगा कि दोनों लिपियों को लाजिमी तौर पर सीखने की बात को हटा दिया जाय तो अच्छा होगा।"

श्री सियारामशरण जी गुप्त ने दबी जबान से पूछा—

"इस सभा के कार्य से हिन्दी या उर्दू का विरोध तो नहीं होगा ?"

इसके उत्तर में महात्मा गांधी जी ने कहा—

"इसका जवाब बाद में दूँगा। श्री आनन्द जी ने जो कहा वह मैं समझ गया। उसको भी समझाने की कोशिश करूँगा।"

अंत में राय लेने पर प्रस्ताव पास हो गया।

डा० ताराचन्द जी ने दूसरा 'ठहराव' पेश किया—

"देश के सब लोग इस बात को मानते और समझते हैं कि हमारे कौमी जीवन को मजबूत करने और अलग अलग सूबों के लोगों में मेल-जोल और व्यवहार की एक भाषा बनाने के लिये चाहिये कि हिन्दुस्तानी जबान को तरक्की दी जावे और उसकी रूप रेखा ठीक की जावे, क्योंकि इस बात के लिये यही भाषा सब से ज्यादा काम की है।

यह कान्फ्रेन्स फैसला करती है कि पन्द्रह तक मेम्बरों की एक कमेटी

बनाई जावे, जो हिन्दुस्तानी भाषा की डिक्शनरियाँ तैयार करे, भाषा के कायदे तय करे, उसके लफ्जों का भण्डार बढ़ावे, उनके रूप बाँधे, और उसमे अच्छी-अच्छी और काम की कितावें लिखवावे।"

यह प्रस्ताव भी पास हो गया।

अन्त मे महात्मा जी ने अपना भाषण दिया—

"मै नहीं चाहता कि हिन्दी मिट जाय या उर्दू नष्ट हो जाय। मै सिर्फ इतना ही चाहता हूँ कि दोनों हमारे नाम की हो जॉय। .. आनन्द जी कहते हैं कि सबको दो लिपियाँ सीखने मे बड़ी मुसीबत उठानी पड़ेगी। मै कहता हूँ कि उसमे कुछ भी मुसीबत नहीं है। और अगर हो भी तो उसे पार करना ही होगा। .. ... मै हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये जीता हूँ। मै जानता हूँ कि हिन्दुस्तानी के प्रचार से हिन्दू मुस्लिम एकता होगी, मगर इस वक्त में आपको यह लालच नहीं दे रहा हूँ। मै कहता हूँ कि हिन्दी और उर्दू दोनों का भला हो। इन दोनों से मुझे काम लेना है। ...... हिन्दी वाले चाहते हैं कि मै हिन्दी की ही नौवत बजाता रहूँ, उर्दू का नाम न लूँ। मगर मै तो अहिंसा का माननेवाला सत्याग्रही हूँ। मैं यह कैसे कर सकता हूँ।... मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के खिलाफ़ कोई काम न होगा। पर दोनों लिपियाँ सीखने की तकलीफ़ तो गवारा करनी ही होगी। मै तो आनन्द जी से भी काम लेना चाहता हूँ।"

सबके अन्त में उर्दू भाषा के प्रबल समर्थक प० ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' ने अपनी 'नज्म' पढ कर सुनाई। नज्म का कुछ भाग इस प्रकार है—

"जो उलटी समझ है तो है काम उलटा,
कि वह सीधी बातों को उलझा रहे हैं।
नई उलझनें और पड़ती हैं आकर,
यह क्या गुत्थियाँ आप सुलझा रहे हैं।

किधर जा रहे हैं, नहीं इसकी सुध-बुध,
जो हैं अपनी धुन में चले जा रहे हैं।"

इस सम्मेलन के पश्चात् हिन्दुस्तानी प्रचार का जितना कार्य हुआ, यह तो हमको ज्ञात नहीं है, किन्तु इस सम्मेलन के बाद ही महात्मा जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्याग-पत्र दिया और उनके अनुकरण पर अन्य कई सज्जनों ने भी त्याग-पत्र देकर हिन्दी प्रचार के कार्य से वैराग्य ले लिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अंतर्गत राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, जो अहिन्दी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य कर रही थी, अब इस हिन्दुस्तानी आन्दोलन के कारण अपना कार्य सफलतापूर्वक कर सकने की स्थिति में नहीं है। दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा, जो पिछले २८ वर्ष से दक्षिण में हिन्दी प्रचार का प्रशंसनीय कार्य कर रही थी, अब अपना नाम 'दक्षिण-भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' में बदल कर दोनों लिपियों वाली हिन्दुस्तानी का कार्य करने का संकल्प कर चुकी है। अब तक हिन्दी का कार्य एक राष्ट्रीय कार्य समझा जाता था, किन्तु अब उसे साम्प्रदायिक कह कर उसका महत्व कम किया जा रहा है। समस्त हिन्दी हितैषियों को हिन्दी पर आये हुये इस महान् संकट को दूर करने का उपाय सोचना चाहिये।

(१७ फरवरी, १९४६ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट ७

दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा किधर ?

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

लगभग ३० वर्ष हुए, महात्मा गांधी ने एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव की। उन्हें हिन्दी और देवनागरी क्रमशः राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि होने योग्य जँची। वे इस निष्कर्ष पर देश की भाषा-स्थिति पर निष्पक्ष भाव से विचार करके पहुँचे। उस समय आज जैसा साम्प्रदायिकता का दौर दौरा नहीं था। गांधीजी ने दक्षिण को उत्तर से राष्ट्र-भाषा के बन्धन में बाँधने के लिये दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य, जैसा कि इसके नाम से भी प्रकट है, दक्षिण भारत में राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी का प्रचार करना था। सभा अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल रही है। अपनी रजत जयन्ती के अवसर पर आज दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा अपनी जिन्दगी के पिछले २५ वर्षों पर सन्तोष भरी दृष्टि डाल सकती है। अब सभा की जिन्दगी का दूसरा दौर—हिन्दुस्तानी वाला दौर—आरम्भ होना चाहता है, अर्थात् सभा अब गांधीजी की नई परिभाषा के अनुसार दक्षिण में हिन्दी और उर्दू दोनों और देवनागरी और फ़ारसी लिपि दोनों का प्रचार करेगी, और राष्ट्र-भाषा सीखने के इच्छुक प्रत्येक दक्षिण-वासी को हिन्दी उर्दू दोनों और दोनों लिपियाँ सीखनी पड़ेंगी। इस दूसरे दौर के आरम्भ होने के अवसर पर सभा और हिन्दी के हितैषियों के विचार सभा के कार्य-कर्त्ताओं और सञ्चालकों के सामने रखना अनुचित न होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि गांधीजी ने राष्ट्र-भाषा की अपनी पहली परिभाषा अर्थात् हिन्दी मुसलमानों द्वारा मान्य न होने के कारण ही दूसरी परिभाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की है। परन्तु क्या यह नई परिभाषा मुसलमानों को मान्य है? उत्तर है—'नहीं।' हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी केवल हिन्दू रट रहे हैं, हिन्दू ही आपस में हिन्दी और हिन्दुस्तानी के मसले को लेकर वाद-विवाद कर रहे हैं, और हिन्दुस्तानी प्रचारकों की फौज में सब हिन्दू ही हिन्दू हैं। मुसलमानों को इस हिन्दुस्तानी से भी कोई सरोकार नहीं। हिन्दुस्तानी की धूम हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में ही सुन पड़ती है। जहाँ जहाँ मुसलमानों के हाथ में शक्ति है, अर्थात् काश्मीर, पंजाब, सीमा-प्रान्त, सिन्ध और हैदराबाद में, वहाँ सब शान्त है, या यों कहिये, वहाँ उन्होंने उर्दू-हिन्दुस्तानी और उर्दू-लिपि को पहले से ही राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि—डीफैक्टो राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि—बना रक्खा है, और उनमें उन्हें हिन्दी और देवनागरी जोड़ने की न जरूरत है और न यह उन्हें पसन्द है। यह ध्रुव सत्य है कि इन पाकिस्तानी प्रान्तों और रियासतों में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी और देवनागरी को उर्दू और उर्दू लिपि के समकक्ष स्थान कभी नहीं मिलेगा, और न वहाँ उर्दू और उर्दू लिपि के साथ साथ हिन्दी और देवनागरी का सीखना किसी के लिये अनिवार्य किया जायगा। गांधी जी का हिन्दुस्तानी प्रचार भी महाराष्ट्र, बिहार, दक्षिण, आदि हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों तक ही सीमित है, और रहेगा।

ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तानी आन्दोलन का केवल एक ही परिणाम होगा। वह है—असलियत में अर्थात् व्यवहार में केवल उर्दू का राष्ट्र-भाषा और केवल उर्दू लिपि का राष्ट्र-लिपि हो जाना। क्योंकि जब पाकिस्तान के सब निवासी केवल उर्दू और उर्दू लिपि और 'हिन्दुस्थान' के सब निवासी हिन्दुस्तानी प्रचार की बदौलत हिंदी उर्दू दोनों और दोनों लिपियाँ जानते होंगे, तो कामन भाषा और कामन लिपि अपने आप उर्दू और उर्दू-लिपि

होंगी। एक अखिल भारतीय सभा में जो वक्ता सबको अपने विचार समझाना चाहेगा वह अपने आप उर्दू में बोलेगा, और जो लेखक अपनी पुस्तक समस्त भारत के लिये सुलभ करना चाहेगा वह अपने आप उर्दू और उर्दू-लिपि में लिखेगा। एक राजनीतिक आन्दोलन के कारण उर्दू और उर्दू-लिपि का इस देश की राष्ट्र भाषा और राष्ट्र-लिपि हो जाना कितना अस्वाभाविक, अप्राकृतिक एवं अन्याय पूर्ण होगा यह बतलाने की जरूरत नहीं। और उर्दू के राज्य मे प्रान्तीय भाषाओं की और भारतीय सस्कृति की क्या दशा होगी, यह समझने के लिये आज अँगरेजी के राज्य के कारण प्रान्तीय भाषाओं और भारतीय सस्कृति पर जो गुजर रही है, उसे जान लेना काफी होगा। यदि दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा को यही अभीष्ट है तो वह 'दक्षिण-भारत हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' (सभा का गाधी जी द्वारा प्रस्तावित नया नाम) बने, और हिन्दी के प्रचारक हिन्दी का बाना उतार कर हिन्दुस्तानी का बाना धारण करें, और दक्षिण वालों को उन्हीं के रुपये से उर्दू और उर्दू लिपि सिखावें।

ताली एक हाथ से नहीं बजती। एकता और मेल दो व्यक्तियो में होता है। जब तक मुसलमानो को एकता अभीष्ट नहीं, तब तक केवल हिन्दुओं के हिन्दी और हिन्दुस्तानी वाले दो दलों का आपस मे कोई समझौता कुछ अर्थ नहीं रखता। जब तक उर्दू प्रान्तों की सरकारें उर्दू के स्थान में अपनी दो लिपियों सहित 'हिन्दुस्तानी' को प्रतिष्ठित करने के लिये तैयार नहीं, तब तक हिन्दी प्रान्तो मे हिन्दी उर्दू के समन्वय का अर्थ है केवल हिन्दी का नाश और उसका उर्दू मे परिवर्तित हो जाना, और जब तक मुसलमानो को हिन्दुस्तानी का मूल मंत्र—दोनों 'शैलियाँ' और दोनों लिपियों—मान्य नहीं, तब तक हिन्दी और हिन्दू प्रान्तो में दोनों शैलियो और दोनो लिपियों के प्रचार का अर्थ है उर्दू और उर्दू लिपि को डीफैक्टो राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि बनाना।

गांधीजी की नई परिभाषा कितनी अव्यावहारिक—विशेषकर इस निरक्षर देश के लिये—और अवैज्ञानिक भी है, इसके विषय में कुछ नहीं कहूँगा। यह कहने की भी जरूरत नहीं कि दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा दक्षिण वालों पर हिन्दी और देवनागरी, जो उनके लिये अपेक्षाकृत सुगम है, के साथ साथ उर्दू और उर्दू लिपि का बोझ डालकर उनके साथ विशेष अन्याय करेगी, और उतनी सफलता भी कदापि प्राप्त न कर सकेगी जो उसने गत २५ वर्षों में प्राप्त की है। वह कदाचित् उतनी लोक-प्रिय भी न रहेगी। एक बहुत बड़े नेता की बात भी प्रकृति से ज्यादा देर तक नहीं लड़ सकती। दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा अपना कलेवर बदलने से पहले एक बार ठंडे दिल से फिर विचार कर ले।

परिशिष्ट ८

महाराष्ट्र में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का संघर्ष क्यों ?

(लेखक—ग० स० आपटे)

पिछले दिनों महात्मा गाधी के पूना मे निवास करने तथा समय समय पर नेताओं के आगमन से राष्ट्रभाषा प्रचार कार्य मे कुछ सरगर्मी दिखाई देने लगी है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सञ्चालित राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के हिन्दी प्रचार का कार्य यहाँ काफी अरसे से हो रहा है और पूना तो उसका एक गढ सा बन गया है। राष्ट्रभाषा प्रचार की शिक्षाओं मे महाराष्ट्र प्रात के काफी विद्यार्थी परीक्षा देते और उत्तीर्ण होते आये हैं। महाराष्ट्र के अच्छे से अच्छे विद्वानों का इस कार्य मे बराबर सहयोग रहा है, किन्तु जब से गाधी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अलग हुए हैं तब से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का भी काम यहाँ जोरो से शुरू हो गया है। महाराष्ट्र के काग्रेस नेता श्री शकरराव देव तथा बबई के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री बी० जी० खेर, श्री दत्तो वामन पोद्दार, आदि नेता और विद्वान हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के काम मे पूरा सहयोग दे रहे हैं, इससे इस ओर काफी प्रगति दिखाई दे रही है। पहले तो हिन्दुस्तानी प्रचार का काम यहाँ एकदम ठप्प सा हो गया था क्योंकि अकेले काका साहब कालेलकर कहाँ तक इसका भार वहन कर सकते थे, किन्तु जब से उसे देश की कुछ महान् शक्तियो का बल मिला है तब से हिन्दुस्तानी प्रचार के काम में चेतना आई है। इसका यह मतलब नहीं है कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के काम मे किसी तरह की शिथिलता आ गई हो, किन्तु आज के वातावरण से यह

साफ जाहिर हो गया है कि महाराष्ट्र मे राष्ट्रभाषा प्रचार आन्दोलन के कार्य मे एक किस्म का सघर्ष आरम्भ हो गया है। एक ओर हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और दूसरी ओर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति अपने अपने उसूलों के अनुसार राष्ट्रभाषा के काम मे लगी हुई हैं। पूना मे अब दो दल स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। एक हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्यों में सहयोग देने लगा है, और दूसरा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सिद्धान्तो के अनुसार कार्य कर रहा है।

मुझे तो आश्चर्य होता है कि हिन्दी के पत्रकारो को यह पता भी नहीं है कि महाराष्ट्र में इस समय राष्ट्रभाषा सबधी प्रगति किधर जा रही है। हिन्दी पत्रकार केवल हिन्दी के नाम पर धारोधार आँसू बहा सकते हैं या आपसी तू तू मैं-मै मे पत्रो के कालम रँग सकते है, किन्तु वे शायद यह नहीं जानते हैं कि इस वक्त महाराष्ट्र मे हिन्दी आन्दोलन का मुहड़ा थामने की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी वालों को यह पता नहीं है कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को परीक्षाओं के समान ही हिन्दुस्तानी प्रचार सभा ने भी महाराष्ट्र मे प्रचारक परीक्षायें प्रारम्भ कर दी हैं। दोनो की परीक्षाओं के नाम भी एक ही से हैं। हाँ, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की परीक्षाओं के फार्मों के नामों मे परिवर्त्तन है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा सगठित महाराष्ट्र की प्रचार समिति के कई विद्वान् और प्रचारक हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्य में शरीक हो गये हैं। आचार्य दत्तो वामन पोद्दार इसके प्रधान हैं।

पिछले दिनों श्री भदन्त कौसल्यायन पूना आये थे और एक समान परीक्षाओं की प्रतिद्वद्विता देखकर उन्हे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पुरानी की जगह एक नई समिति सगठित की है जो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा होने वाली परीक्षाओं का सचालन और सम्मेलन की नीति के अनुसार राष्ट्रभाषा प्रचार का काम करेगी। श्रीयुत नने पहले राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से काम करते थे, किन्तु अब वह हिन्दुस्तानी प्रचार समिति मे

शरीक हो गये हैं। उनके स्थान पर श्री सोनू ताई काले की नियुक्ति हुई है। नूतन मराठी विद्यालय के कुछ प्रमुख अधिकारी भी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कार्य मे सहयोग दे रहे हैं।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और हिन्दुस्तानी प्रचार समिति के आदर्शों मे चूँकि भिन्नता है, इसलिये संघर्ष होना अनिवार्य भी है। हिन्दुस्तानी प्रचार समिति के पास धन की कमी नहीं, और राष्ट्र तथा महाराष्ट्र के नेता उसके साथ हैं। दूसरी ओर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के पास धन तो नहीं है, किन्तु श्रेष्ठ कार्य-कर्त्ताओं का उसमें अभाव नहीं है। इन संस्थाओं के वर्त्तमान संघर्ष का क्या फल होगा, इस पर कोई भविष्यवाणी तो नहीं की जा सकती, किन्तु हिन्दी-पत्रकार और हिन्दी के धनी-धोरी अगर अपनी कुल्हड़ में गुड़ फोड़ने की नीति को त्याग कर सचेत न हुए तो एक न एक दिन मद्रास की भाँति महाराष्ट्र भी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रचार-क्षेत्र से अपने को स्वतन्त्र बना लेगा। क्योंकि बेचारे भदंत जी अकेले कहाँ कहाँ प्राण देते फिरेंगे ?

मैंने यह विचार आपके पत्र द्वारा इसलिये व्यक्त किये हैं कि 'देशदूत' हिन्दी जनता मे हिन्दी का प्रबल समर्थन और व्यापक प्रचार करता आया है। उसके द्वारा हिन्दी संसार को यह ज्ञात हो कि महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा की प्रगति आज किधर जा रही है, हिन्दी वालों के कानों तक यह समाचार पहुँचे तो !

(२ दिसम्बर, १९४५ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट ९

महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा का प्रचार

(लेखक—श्री सत्यप्रकाश एम० ए०)

गत १६ दिसम्बर के 'देशदूत' में श्रीयुत श्रीपाद जोशी का पत्र पढ़कर खेद भी हुआ और ग्लानि भी। न मालूम बेचारे सम्मेलन ने क्या अपराध किया है कि हर किसी ने उसे गाली सुनाना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझ लिया है। जोशी जी पूछते हैं, "हिन्दी साहित्य सम्मेलन राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में अपनी टाँग क्या अड़ाता है?" जोशी जी को टाँग अड़ाने का अधिकार है, उनकी महाराष्ट्र प्रचार समिति का अधिकार है, परन्तु करोड़ों हिन्दी भाषी जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन को नहीं! मानो हिन्दी का क्षेत्र देश में है ही नहीं, और उस क्षेत्र के निवासियों का राष्ट्रभाषा से कोई सम्बन्ध नहीं! हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम केवल 'हिन्दुस्तानी साहित्य' की उन्नति और विकास करना न होकर राष्ट्रभाषा के मामले में हस्तक्षेप करना हो सकता है, परन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपना वर्तमान नाम रहते इस मामले में नहीं बोल सकता! हिन्दुस्तानी प्रचार सभा अपनी परिभाषा की राष्ट्रभाषा का प्रचार सम्पूर्ण भारत में कर सकती है, परन्तु सम्मेलन को अपनी परिभाषा की राष्ट्रभाषा का अहिन्दी प्रान्तों में प्रचार करने का अधिकार नहीं! ऐसा करना उसके लिये 'जिद' है!

सम्मेलन आज भी वही कर रहा है जो २५ वर्षों से करता आ रहा है। महात्मा गांधी को भी उसकी नीति मान्य रही है। गांधी जी के सम्मेलन से त्याग-पत्र देते ही गांधीजी के भक्तों की दुनिया एकदम बदल गई, और सम्मेलन

अराष्ट्रीय हो गया! उनकी हिन्दुस्तानी की परिभाषा भी 'कांग्रेस की परिभाषा' हो गई! क्या जोशीजी बतलाने की कृपा करेंगे कि कांग्रेस ने किस प्रस्ताव में राष्ट्रभाषा की परिभाषा दी है, और क्या देश के पाकिस्तानी प्रान्त भी अब तक गांधी जी के कारण सम्मेलन को 'खिराज' देते रहे हैं और अब गांधी जी के हट जाने के कारण हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को खिराज देने लगे हैं? क्या जोशी जी को विश्वास है कि हिन्दुस्तानी की परिभाषा को पाकिस्तानी प्रान्तों ने मान लिया है, अथवा क्या उनके 'सारे देश' मे ये प्रान्त और ये लोग शामिल हैं ही नहीं?

जोशी जी कहते हैं कि महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से सम्बन्ध नहीं है और उसकी परिभाषा भी अलग है। सम्बन्ध नहीं है तो हो जायगा। परिभाषा भी शीघ्र वही हो जायगी। इसीलिये तो वह सम्मेलन से अलग हुई है। परिभाषा में और पाठ्य-क्रम में परिवर्तन करते करते ही तो होगा। अभी तो पाठ आरम्भ हुआ है।

विभिन्न प्रान्तों की राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ अलग अलग होकर अलग अलग परिभाषा को मानकर चाहे जिस भाषा का अपने अपने प्रान्त मे प्रचार करें, परन्तु वे उन्हे 'राष्ट्रभाषा' कैसे कह सकती हैं? महाराष्ट्र की जोशी जी वाली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ही अपने आपको इस नाम से क्यों सम्बोधित करती है? क्या उसे विश्वास है कि देश के हिन्दी प्रान्तों तथा अन्य प्रान्तों ने भी उसकी परिभाषा को मान लिया है? जोशी जी के महाराष्ट्र ने यह कैसे समझ लिया कि हिन्दी प्रान्तों को अहिन्दी प्रान्त पर अपनी राष्ट्रभाषा लादने का अधिकार नहीं है लेकिन अहिन्दी प्रान्तों को हिन्दी प्रान्तों तथा अन्य प्रान्तों पर अपनी परिभाषा लादने का अधिकार है?

हिन्दुस्तानी आन्दोलन से जो होना था सो हो रहा है। प्रत्येक प्रान्त की अलग अलग परिभाषा होगी, एक एक प्रान्त में दो-दो राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ हो जायँगी, और 'हिन्दुस्थान' की राष्ट्रभाषा खटाई मे पड़ जायगी।

इसके बरक्स ज़रा पाकिस्तान पर नजर डालिये। उसने अपनी राष्ट्रभाषा उर्दू पहले से ही बना ली है। वहाँ न किसी ने उर्दू के मामले में चीं-चपड़ की (बल्कि कहिये उन्होंने आग्रह दिखलाया), और न पाकिस्तानियों में आपस में राष्ट्रभाषा के मसले को लेकर झगड़ा हुआ। पाकिस्तानियों ने न गांधी जी की पहले वाली राष्ट्रभाषा को माना था और न उन्हें गांधी जी की नई परिभाषा से कोई सरोकार है और न होगा—उन्हें जरूरत ही क्या है? (यदि जोशीजी को इसमें सन्देह है तो वे पंजाब, सीमा-प्रान्त और सिंध की सरकारों से अब या कभी भविष्य में देवनागरी लिपि भी, और अपनी ५०-५० प्रतिशत वाली अथवा 'आमफ़हम' हिन्दुस्तानी मनवा देखें)। 'हिन्दुस्थान' में अलबत्ता 'राष्ट्रवादी' राष्ट्र-भाषा के टुकड़े टुकड़े कर डालें, उर्दू और उर्दू-लिपि की प्रतिष्ठा करें, 'कांग्रेस परिभाषा में निवास करने वाले' मराठे प्रतिवर्ष हजारों रुपये देकर महाराष्ट्र में उर्दू और उर्दू-लिपि का प्रचार करें, और 'हिन्दुस्थान' की राष्ट्रभाषा भी उर्दू बनावें, क्योंकि वह तभी पाकिस्तान और 'हिन्दुस्थान' दोनों की कामन 'आमफ़हम' हिन्दुस्तानी होगी, अन्य कोई उपाय नहीं। ईश्वर हिन्दुओं को शीघ्र सद्बुद्धि प्रदान करे!

जोशीजी अच्छी तरह समझ लें कि महाराष्ट्र के जिन व्यक्तियों ने गांधीजी के पीछे आँख मूँद कर, राष्ट्रीयता की दुहाई देते हुये चलना ही अपना धर्म नहीं समझ लिया है, उन्हें सम्मेलन से सहयोग पाने का अधिकार है, और उन व्यक्तियों को अपना सहयोग देना सम्मेलन तथा हिन्दी भाषी जनता का कर्त्तव्य है। जोशीजी यह भी समझ लें कि यदि उनकी प्रचार-समिति को भी खड़ी बोली, जिसको वे हिन्दुस्तानी कहते हैं, के ही आधार पर राष्ट्रभाषा बनाना है तो उसे भी झख मार कर हिन्दी भाषियों की भाषा और साहित्य को आदर्श मानना पड़ेगा—यदि उसे एक जीवित राष्ट्रभाषा और एक जीवित साहित्य अभीष्ट हैं तो। जोशीजी यह विश्वास रक्खें कि महाराष्ट्र में सम्मेलन की परिभाषा वाली राष्ट्रभाषा का प्रचार पहले भी

महाराष्ट्रों ने किया था और अब भी वे ही करेंगे। सभावाद और कांग्रेसवाद का भेद करना व्यर्थ है। 'राष्ट्रीयता' केवल जोशीजी और उनकी प्रचार-समिति के ही पल्ले नही पड़ी है। यदि मौलाना आजाद सरीखे नेता अंजुमन-तरक्की-उर्दू, जो उर्दू को राष्ट्रभाषा मानता है, के सदस्य होते हुये कांग्रेस में रह सकते हैं तो परम राष्ट्रीय वृत्ति के व्यक्ति सम्मेलन में रह सकते हैं। 'राष्ट्रीयता' हिन्दुस्तानी प्रचार सभा वालों की बपौती नहीं है। गांधीजी ने भी सम्मेलन को अराष्ट्रीय बतलाने का साहस नहीं किया है। श्री मुंशी के कथनानुसार जिसके सिद्धान्त में सत्य होगा अन्त में उसी की विजय होगी। श्री जोशीजी धैर्य धारण करें। उन्हें जो अच्छा लगे, वह अवश्य करें, परन्तु दूसरे जो करना चाहे उसे यदि वे परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से अराष्ट्रीय कहकर स्वयं बड़े बनने का लोभ संवरण कर सकें तो अच्छा हो। वे यह भी याद रक्खें कि वे जिस ओज और शक्ति से बातें करते हैं वह उनकी अपनी नहीं बल्कि उधार ली हुई है।

अन्त में हम जोशीजी से इतना और पूछना चाहेंगे कि जिस भाषा मे उन्होंने अपना पत्र लिखा है वह 'साहित्यिक हिन्दी' है अथवा 'आमफहम हिन्दुस्तानी'? यदि वह 'आमफहम हिन्दुस्तानी' है तो उनकी और हमारी परिभाषा में कोई अन्तर नहीं, केवल नाम का भेद है जो कोई बड़ी बात नही, इसलिये महाराष्ट्र की दोनों प्रचार समितियों को हाथ मिला लेना चाहिये। यदि वह 'साहित्यिक हिन्दी' है, तो अच्छा होता यदि वे उसे 'आमफहम हिन्दुस्तानी' में लिखते। 'सारे देश' को मालूम तो हो जाता कि वह अब किस 'आमफहम हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा मानने लगा है, देश के ४० करोड़ में से कितनों के लिये वह 'आमफहम' है, अथवा 'साहित्यिक हिन्दी' समझने वालों से कितने अधिक नर नारियों के लिये वह 'आमफहम' है, और वह किस लायक है? (परन्तु गांधीजी तो कहते हैं कि 'सरस्वती' अभी प्रकट होने को है। प्रकट होने से पहले ही वह 'आमफहम' कैसे हो गई?)

परिशिष्ट १०

महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा समस्या

(लेखक—श्रीगङ्गाधर इन्दूरकर)

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्यालय मन्त्री श्री श्रीपाद जोशी का एक पत्र 'देशदूत' के पिछले एक अक मे प्रकाशित हुआ था। उसमें जोशी जी ने महाराष्ट्र में इस समय होनेवाले राष्ट्रभाषा सम्बन्धी मतभेद की चर्चा करते हुये सम्मेलन को साम्प्रदायिकतापूर्ण कहने का प्रयत्न किया है। आपने जिस ढग से सम्मेलन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे उसके संबध में मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता। हाल ही मे मैं अपने निजी काम से पूना गया था। रास्ते में वर्धा मे भी रुका था। जब वर्धा में जोशीजी से मेरी मुलाकात हुई तब आपने कहा था कि हम लोगों ने अब यह निश्चय कर लिया है कि 'सम्मेलन साम्प्रदायिक संस्था है' इस बात का प्रचार किया जाय। क्या हम पूछ सकते हैं कि आप का यह निश्चय हिंदुस्तानी प्रचार सभा के किसी जिम्मेदार अधिकारी की अनुमति से हुआ है, या स्वय उनके दिमाग की उपज है? आपके इस निश्चय से आपके कथन को कितना महत्व दिया जाय यह सोचने की बात है।

महाराष्ट्र मे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की परीक्षाओं द्वारा राष्ट्रभाषा हिंदी का काफी प्रचार हुआ है। प्रति वर्ष केवल महाराष्ट्र से राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में लगभग १४-१५ हजार विद्यार्थी बैठते हैं। महाराष्ट्र के कार्यकर्ता हिंदी का काम सम्मेलन के ही विचारों के अनुसार करते हैं। महात्माजी के सम्मेलन से अलग होने के बाद भी महाराष्ट्र के लोग सम्मेलन के विचारों

मे सहमत रहे हैं। इस प्रकार महाराष्ट्र में सम्मेलन की अभी काफी शक्ति है। हिंदुस्तानी का प्रचार करने वाले कार्यकर्ताओं का सह न हो जाय तो यह असह्य हो गया है, और उन्होंने मतभेद के बीज बोने शुरू कर दिये हैं। दुर्भाग्य से वे महाराष्ट्र सम्मेलन के कार्यकर्ताओं को फोड़ने मे भी सफल हुये हैं। हमारी समझ में महाराष्ट्र की विचारधारा हिंदुस्तानी को स्वीकार नहीं कर सकती। महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का वर्धा समिति से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने का यही रहस्य है। सम्मेलन की शक्ति महाराष्ट्र में नष्ट करने के बाद हिंदुस्तानी प्रचार का कार्य सरल हो जायगा। हिंदुस्तानी के पृष्ठपोषकों का और कार्यकर्ताओं का इसमें षड्यन्त्र है। इसके मेरे पास अनेक प्रामाणिक सबूत हैं। केवल दुख इस बात का है कि महाराष्ट्र के अनेक प्रामाणिक कार्यकर्ता इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं। सम्मेलन से अलग हुई महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष श्रीदत्तोवामन पोतदार अत्यन्त प्रामाणिक व्यक्ति हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि राष्ट्रभाषा केवल बोलचाल की भाषा है। उन्हीं के शब्दों मे ताँगेवालों की भाषा समझने के लिये ही राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है यदि राष्ट्रभाषा का अधिक प्रचार होगा तो मराठी भाषा के अस्तित्व पर खतरा आयेगा। पोतदारजी मराठी के एक प्रमुख साहित्यिक होने के नाते मराठी की रक्षा के लिये जी जान से प्रयत्न करना चाहते हैं। महाराष्ट्र में श्रीपोतदारजी का एक विशेष स्थान है। श्रीपोतदार के नाम का उपयोग करके महाराष्ट्र के लोगों को बहकाने में परदे की आड़ से हिंदुस्तानी के प्रचारक इस समय अवश्य सफल होरहे हैं। जब परदे की जरूरत न समझी जायगी, और महाराष्ट्र से सम्मेलन की शक्ति यदि कम होगई तो श्रीपोतदारजी की क्या स्थिति होगी, इसे विधाता ही जाने।

जिन्हें सिद्धान्त का विशेष आकर्षण नहीं है, उन्हें विशेष लोभ देकर सम्मेलन के सगठन से अलग करने का प्रयत्न हो रहा है। भारतवर्ष की

वर्तमान ग़रीबी में पैसे का बड़ा महत्त्व है। किसी घर मे अधिक पैसा देखकर बाप-बेटे या भाई-भाई को लड़ाने के लिये जो चालें चली जाती हैं, उन्ही सबको पुनरावृत्ति महाराष्ट्र मे की जा रही है। इस काम के लिये हिन्दुस्तानी के समर्थकों को हिंदी का मोहरा मिल गया है। राष्ट्रभाषा प्रचार के कार्य में बनारस से गये हुये श्री गो० प० नेनें विशेष क्रियाशील हैं।

महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों ने पोतदार समिति को राष्ट्रीय और सम्मेलन के प्रयत्नों को अराष्ट्रीय कहना शुरू कर दिया है। इतना ही नहीं, सम्मेलन को हिन्दू-सभावादी संस्था बनाया जा रहा है। जिनको राष्ट्रभाषा के कार्य की जानकारी नहीं, जो राष्ट्रभाषा बोल नहीं सकते, जिन्हे वर्तमान मतभेदों से कुछ लेना देना नहीं, ऐसे कांग्रसी नेताओं के हस्ताक्षर से एक विज्ञप्ति निकाली जाती है जिसमें राष्ट्रीयता की दुहाई देकर पोतदार समिति को सहायता देने की माँग की जाती है। इसका तात्पर्य महाराष्ट्र के राष्ट्र-भाषा हिन्दी के कार्यकर्ताओं मे बुद्धि-भेद पैदा करना नही तो और क्या है?

सम्मेलन की ओर से इस समय महाराष्ट्र में जो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति काम कर रही है, उसके समाचार छापना कांग्रेसवादी पत्रों ने बन्द कर दिया है। ऐसी स्थिति मे महाराष्ट्र के हिन्दू-सभावादी पत्र यदि उसके समाचारों को छापते हैं, तो यह कहा जाता है कि सम्मेलन हिन्दू सभावादी संस्था है, नही तो उसके समाचार हिन्दू सभावादी पत्र क्यों छापते?— वास्तव मे राष्ट्र में राष्ट्रभाषा प्रचार की समस्या विकट रूप धारण करती जा रही है। इस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन क्या कर रहा है, हमे पता नहीं। केवल कार्य समिति अथवा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा किसी प्रकार के प्रस्ताव पास कर देने से ही काम न चलेगा।"

(३ फरवरी, १९४६ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट ११

महाराष्ट्र की राष्ट्र-भाषा समस्या

(लेखक—श्री सूर्यप्रकाश एम० ए०)

"——महात्माजी बंगाल, मद्रास और महाराष्ट्र के निवासियों को उर्दू लिपि सीखने का उपदेश देते हैं, परन्तु सिन्ध, पंजाब और सीमा-प्रान्त के निवासियों को देवनागरी सीखने के लिये नहीं कहते। महाराष्ट्र और मद्रास में हिंदी जानने वालों को उर्दू सिखाने के लिये हिंदुस्तानी प्रचार सभाओं की स्थापना होती है, परन्तु सिन्ध पंजाब, आदि में उर्दू जानने वालों को हिन्दी सिखाने के लिये कुछ करना आवश्यक नहीं समझा जाता। हिन्दुस्तानी वाले चाहे यह चाहते हों या न चाहते हों, इसका फल केवल यही होगा कि वास्तविक राष्ट्र भाषा होगी उर्दू और वास्तविक राष्ट्र-लिपि होगी फारसी लिपि। उस समय पोतदार जी मराठी की रक्षा के लिये क्या करेंगे ?

एक बात महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री पोतदार से भी कहना चाहता हूँ। मराठी भाषा के अस्तित्व पर हिन्दी से नहीं वरन् हिंदुस्तानी से खतरा है। हिन्दी और मराठी तो सगी बहनें हैं। हिन्दी और मराठी की क्रियाओं और विभक्तियों का सम्मिश्रण तो हो ही नहीं सकता, अधिक से अधिक हिन्दी की शब्दावली का मराठी पर प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु हिन्दी और मराठी की शब्दावली समान है और दोनों का एक ही स्रोत है। यदि मराठी के कुछ शब्दों में अदल-बदल हो भी जाय तो इससे मराठी के स्वरूप और संस्कृति में कोई अन्तर नहीं आवेगा। परन्तु आज जिस प्रकार अँगरेजी के प्रभाव के कारण भारतीय भाषाओं में

अँगरेजी शब्द घुसते चले जा रहे हैं उस प्रकार जब हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी के प्रभाव के कारण मराठी मे उर्दू शब्दों का प्रवेश होगा, उस दिन पोतदारजी समझेंगे कि उन्होंने अपने हाथ से अपने पैर मे कुल्हाड़ी मारी। जब महाराष्ट्र के लोग हिन्दुस्तानी के नाते देवनागरी और उर्दू लिपि दोनो सीख जायँगे और महाराष्ट्र के मराठी भाषी मुसलमान उर्दू लिपि में मराठी लिखना आरम्भ करेंगे तब पोतदार जी के किये कुछ न होगा, और उनकी सन्तान उन्हीं को कोसेगी कि उन्होंने अपने हाथों हिन्दी-उर्दू का सा झगड़ा मराठी में उत्पन्न किया। पोतदार जी तथा मराठी के अन्य शुभचिन्तक भली भाँति सोच देखें जिससे उन्हे बाद मे पछताना न पड़े। हम हिन्दी वाले मराठी की परमोन्नति चाहते हैं और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के कर्णधारों को यह चेतावनी देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। संस्कृत के द्वारा जिस प्रकार हमारे पुरखो ने राष्ट्र की भाषा-एकता तथा सांस्कृतिक एकता साधी थी, उसी प्रकार आज सम्मेलन हिन्दी द्वारा भाषा तथा संस्कृति-की एकता साधना चाहता है। यदि उनका यही विश्वास है कि राष्ट्र-भाषा के अत्यधिक प्रचार से मराठी को हानि पहुँचेगी, तो इसके लिये हिन्दी का बाना उतार कर हिन्दुस्तानी का बाना धारण करने की जरूरत नहीं, और देवनागरी के साथ उर्दू लिपि का प्रचार करने की जरूरत नहीं। वे सरल हिन्दी का प्रचार करें। वही ताँगे वालो की, और मजदूर किसानो की भाषा है। और देवनागरी तो वे मराठी की लिपि होने के कारण जानते ही हैं। यदि उनको उर्दू लिपि द्वारा विनाश का बीज बोना ही अभीष्ट है, तो उनकी इच्छा। इस लिपि-विभाजन के फल को हम हिन्दी वाले तो भोग ही रहे हैं, वे भी चख देखें।"

महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों के विषय मे क्या कहा जाय? प्रत्येक पत्र का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता है कि वह प्रत्येक घटना की खबर जनता को

निष्पक्ष हो कर दे, उसके बाद उस पर चाहे जैसी टिप्पणी अपनी ओर से करे। परन्तु महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों ने सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार-समिति के समाचार छापना ही बन्द कर दिया है। यह खुलेआम फैसिज्म है जो अपने विरोधी का अस्तित्व तक सहन नहीं कर सकता। ये पत्र हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग के समाचार छापना निषिद्ध नहीं समझते, परन्तु राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के समाचार नहीं छाप सकते। इसका कारण शायद यह है कि वे हिन्दू महासभा को कमजोर समझते हैं, उससे नहीं डरते, परन्तु सम्मेलन की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से डरते हैं। परन्तु अपने बलवान प्रतिद्वन्द्वी को धराशायी करने का यह तरीका कांग्रेस और हिन्दुस्तानी-वाद का नाम किसी प्रकार उज्ज्वल नहीं कर सकता। इन पत्रों की इस मनोवृत्ति के विरुद्ध और उनके षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ करने के लिये तथा हिन्दी की मान-रक्षा के लिये हिन्दी भाषियों, हिन्दी पत्रों तथा हिन्दी प्रान्तों के पत्रों का क्या कर्त्तव्य है, इसे वे ही सोच देखें।

(३१ मार्च, १६४६ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट १२

भारत की राष्ट्रभाषा की समस्या

(लेखक—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन)

अन्य किसी भी प्लेटफार्म की अपेक्षा मुझे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्लेटफार्म से कुछ भी कहने मे अधिक प्रसन्नता होती है। इस प्लेटफार्म पर खडे होकर बोलते समय मैं अनुभव करता हूँ कि बोलने वाले के पैरों मे न किसी धार्मिक सम्प्रदायवाद की बेडी पड़ी है और न किसी राजनीतिक सम्प्रदाय की।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन कुछ विचारों का नाम है और एक विशिष्ट सगठन का। किसी खेत का और उसकी काँटेदार बाड़ का जो सम्बन्ध है वही किसी सस्था के विचारों और उसके सस्थान का। खेत के गिर्द यदि बाड़ न हो तो उसे कोई भी चर जा सकता है—और यदि खेत की उपज इस योग्य ही न हो कि उसके गिर्द बाड लगाई जाय तो बाड बेकार है। उसी प्रकार यदि विचार-विशेष की रक्षा करने वाला कोई मजबूत सगठन न हो तो विचार छिन्न भिन्न हो जाता है, और यदि विचार ही दो कौडी का हो तो उसकी रक्षा करने वाले सगठन का कोई मूल्य नहीं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने स्थापना-दिवस से, जिसे आज पूरे पैंतीस वर्ष हो गये हैं, राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि देवनागरी का प्रचारक रहा है। उसकी प्रथम नियमावली में ही 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' और 'राष्ट्रलिपि नागरी' शब्द आये हैं। उसके इस कथन का विरोध अँगरेजी ने करना चाहा, लेकिन उसने बता दिया कि जब तक विदेशी हुकूमत है तब तक अँगरेजी भले ही शासन की भाषा अथवा राजभाषा बनी रहे किन्तु वह

हिन्द की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। उर्दू की ओर से भी यह आवाज बुलन्द हुई कि उर्दू ही इस देश की कौमी जबान है। हिन्दी का उर्दू से कोई विरोध नहीं, विरोध हो ही नहीं सकता। हिन्दी उर्दू के सर्वनाम, प्रत्यय, क्रियायें सब कुछ एक हैं। हिन्दी अपनी ही एक शैली उर्दू का विरोध कैसे करे? परन्तु पिछले वर्षों हिन्दी का जो राष्ट्रव्यापी प्रचार हुआ है उसने हिन्दी का देश मे जो स्थान है वह निश्चित कर दिया और उसके साथ उर्दू का भी। भारतवर्ष मे ही नहीं, मै तो कहता हूँ ससार के इतिहास मे यह एक असाधारण बात है कि दक्षिण और शेष भारत के लाखों अहिंदी भाषा भाषी विद्यार्थी राष्ट्रभाषा हिन्दी के अध्ययन मे लगे हुये हैं और उसकी परीक्षायें पास कर रहे हैं और ऐसी परीक्षायें कि जिनके पास करने के साथ किसी सरकारी नौकरी, आदि मिलने का लालच नहीं जुड़ा हुआ है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की इस प्रगति को उनके आज तक के समर्थक भी यदि चाहें तो अब नहीं रोक सकते।

यह सब सही है लेकिन अँगरेजी और उर्दू के बाद इधर दो तीन वर्ष से एक नई विचार धारा ने अपना सिर उठाया है। उसका नाम है हिन्दुस्तानी विचार-धारा। जिस प्रकार किसी बोतल पर लगा हुआ लेबिल बना रहे लेकिन उसके अन्दर की चीज बदल जाय वही हाल हिन्दुस्तानी लेबिल का है। हम इस शब्द को हिन्दी के साथ-साथ काम में लाते रहे हैं—जैसे 'हिन्दी हिन्दुस्तानी', और यह हिन्दी का पर्यायवाची भी रहा है, जैसे "हिन्दी 'अथवा' हिन्दुस्तानी"। लेकिन इधर इस 'अथवा' मे आमूल परिवर्तन हो गया है। पहले इसका मतलब था कि चाहे हिन्दी कहो, चाहे हिन्दुस्तानी कहो, बात एक ही है। लेकिन अब इस 'अथवा' का अर्थ किया जा रहा है कि हिन्दी और हिन्दुस्तानी दोनों मे से किसी एक का चुनाव करना होगा। यदि हिन्दी का, तो हिन्दुस्तानी का नहीं, और यदि हिन्दुस्तानी का, तो हिन्दी का नहीं।

हमारे इस प्रान्तीय सम्मेलन के द्वार पर आप सबने देखा होगा लिखा है 'जय हिन्द'। यह इस समय का हमारा राष्ट्रीय उद्‌घोष है। जिस प्रकार हम 'जय हिन्द' कहते हैं उसी प्रकार हमे 'जय हिन्दी' भी कहना चाहिये।

हम हिन्दी वाले वर्षों से प्रचार करते आये हैं कि चूँकि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है इसलिए प्रत्येक हिन्दी को, प्रत्येक भारतवासी को इसे सीखना चाहिये। इस नई विचार-धारा ने जिससे हमे सावधान रहना चाहिये कहना शुरू किया है कि हिन्दी हिन्दुओ की भाषा है और उर्दू मुसलमानो की। यह ठीक है कि हिन्दी हिन्दुओं की भी भाषा है किन्तु हिन्दुओं की ही नहीं—और इसी प्रकार उर्दू भी मुसलमानों की ही नहीं। सर तेजबहादुर सप्रू उर्दू के सुप्रसिद्ध समर्थक हैं। वे मुसलमान नहीं, काश्मीर के ब्राह्मण हैं। और अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू की मुख्य पत्रिका 'हमारी जबान' के सम्पादक भी श्री ब्रजमोहन दत्तात्रेय हैं। उर्दू लिपि मे आपका गोत्र ठीक ठीक लिखा ही नहीं जा सकता। कोई भी भाषा किसी धर्म की बपौती नहीं। जो लोग हिन्दी को हिन्दुओ की भाषा कहकर और उसी प्रकार उर्दू को मुसलमानों की भाषा कह कहकर हिन्दुस्तानी के द्वारा हिन्दू मुसलिम ऐक्य के सम्पादन की बात करते हैं, मुझे भय है कि इतिहास ऐसे लोगों को साम्प्रदायिकता के असाधारण प्रचारक न सिद्ध करे।

'हिन्दी' के राष्ट्रभाषा होने पर एक और आपत्ति उठाई जा रही है। उसके गुण को उसका दोष कहा जा रहा है। कहा जाता है कि ऐसी भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, जिसमे न संस्कृत के शब्द हो, न अरबी फारसी के। यदि हमारी राष्ट्रभाषा को वह सब काम करने हैं जो आज दिन हम अँगरेजी के माध्यम से करते हैं तो ऐसी भाषा जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हो न अरबी फारसी के, हमारे लिये तीन कौड़ी काम की भाषा होगी। हमे यह निर्णय करना ही होगा कि विशेष शब्द आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होने पर कहाँ से लें? स्याम मे बैंक को 'धनागार' कहते हैं और नोट को

'धन-पत्र'। हम भारत में यदि इसी प्रकार बोलें और लिखें तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ?

एक और मजे की आपत्ति यह है कि लोगों की मातृभाषा हिन्दी में और लोगों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में अन्तर होना चाहिये। अर्थात जो हिन्दी किसी की मातृभाषा है वह राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। स्काटलैंड और वेल्स के लोगों का अँगरेजी से वही सम्बन्ध कहा जा सकता है जो मराठी भाषा-भाषी अथवा गुजराती भाषा-भाषी लोगों का हिन्दी से है। इंगलिश इंगलैंड के लोगों की मातृभाषा होते हुये भी सारे ब्रिटेन की राज्य-भाषा है और सारे ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा। अब क्या एक तरह की अँगरेजी अँगरेजों की मातृभाषा और दूसरी तरह की अँगरेजी ब्रिटेन की राष्ट्रभाषा और तीसरी तरह की अँगरेजी ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्यभाषा है ? अँगरेजी अँगरेजी है। आप उसे चाहे मातृभाषा मानकर सीखें, चाहे राष्ट्रभाषा मानकर सीखें चाहे साम्राज्यभाषा मानकर सीखें। किन्तु हम पराधीन हिन्दुओं को सुझाया जाता है कि हिन्दी के दो रूप होने चाहिये—एक मातृभाषा वाला रूप, एक राष्ट्रभाषा वाला रूप। सच्ची बात यह है कि मातृभाषा के अर्थ में तो हिन्दी भारत के कुल चार-पाँच जिलों की भाषा होगी, शेष समस्त भारत की तो हिन्दी राष्ट्रभाषा ही है। और उसका स्वरूप निश्चित है। हमें आज उसका प्रचार करना है, उसमें नये आवश्यक ग्रन्थों का निर्माण करना है और जो काम हमें नहीं करने बैठना है वह है उसके स्वरूप की चर्चा।

फिर यह भी कहा जाने लगा है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन को क्या अधिकार है कि वह देश की राष्ट्रभाषा का निर्णय करे—यह काम तो हमारी राष्ट्रीय सरकार का है और जब तक उसकी स्थापना नहीं होती तब तक राष्ट्रीय महासभा का है। सरकार, चाहे फिर वह राष्ट्रीय ही क्यों न हो, किसी पर कोई भाषा लाद नहीं सकती। श्रीशिवप्रसाद गुप्त ने जब

काशी विद्यापीठ जैसी राष्ट्रीय संस्था के लिये दस लाख रुपये का दान दिया तो उस दान की शर्तों में एक शर्त यह थी कि यह विद्यापीठ स्वराज्य सरकार से भी कभी किसी प्रकार की सहायता न लेगा। विदेशों में अनेक संस्थायें अपने आपको सरकारी सहायता के दुष्परिणाम से बचाये रखने के लिये प्रयत्नशील रहती हैं। जिस प्रकार शिक्षा को सरकारी प्रभाव से स्वतन्त्र रखने की आवश्यकता है वैसे ही भाषा को भी। कोई सरकार, भले ही वह राष्ट्रीय क्यों न हो, हमे यह नहीं बता सकती कि यह तुम्हारी मातृभाषा है और यह राष्ट्रभाषा। जहाँ तक आज की कांग्रेस की बात है, कांग्रेस ने कभी भी महात्मा गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी' की कल्पना—दोनों शैलियों और दोनों लिपियों के अनिवार्य शिक्षण—का समर्थन नहीं किया। कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद तक इस 'हिन्दुस्तानी' की नई कल्पना के साथ नही हैं। इतना होते हुये भी जिस बात के साथ महात्मा गांधी का व्यक्तित्व जुड़ जाता है उस पर हम सबको विचार करना अनिवार्य हो ही जाता है। क्योंकि गांधीजी गांधीजी हैं। कौन है जो स्वीकार नहीं करेगा कि पिछले पच्चीस वर्षों का इतिहास महात्मा गांधी का जीवन चरित्रमात्र है।

यूँ भाषा ही मुख्य वस्तु है, किन्तु इस नये हिन्दुस्तानी आन्दोलन ने भाषा की अपेक्षा लिपियों की ही प्रधानता बढा दी है। हमारे देश की सभी भाषाओं की लिपियाँ नागरी लिपि ही है, केवल उर्दू लिपि या फारसी लिपि एक अपवाद है। राष्ट्रीय एकता के कार्यक्रम में जहाँ एक भाषा की बात की जाती है, वहाँ एक की लिपि नहीं। लिपियों के बारे मे कहा जाता है कि बिना दोनों लिपियों के ज्ञान के हम एक कदम आगे बढ ही नहीं सकते, और दोनों लिपियों के ज्ञान के प्रसार का मतलब व्यवहार में उर्दू लिपि प्रचार-मात्र ही दिखाई दे रहा है। पिछले दिनों महात्मा गांधी ने यहाँ तक कहा कि "जो उर्दू लिपि को पसन्द नहीं करता वह स्वराज्य नहीं चाहता।" अब महात्माजी के इस कथन को कोई क्या कहे!

हिन्दुस्तानी की इस नई परिभाषा और कार्यक्रम के पीछे जो भावना है वह निस्सन्देह राष्ट्र-हित की ही है, किन्तु किसी कार्यक्रम का हितकर व अहितकर होना भावना पर ही निर्भर नहीं करता, कुछ उस कार्यक्रम पर भी निर्भर करता है। हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में कहा जाता है कि जब हिन्दी वाले उर्दू और उर्दू वाले हिन्दी सीख लेंगे, तब दोनों के मेल से एक नई 'सरस्वती' पैदा होगी। कलियुग में तो आप जानते हैं 'सरस्वती' के पैदा होने की आशा नहीं। मेरा तो जी चाहता है कि यदि किसी का जी न दुखे तो हिन्दुस्तानी की नई विचारधारा की उपमा प्रह्लाद के पिता हिरण्यकश्यप से दूँ। उसे वरदान प्राप्त था कि न दिन में मरूँ, न रात में मरूँ, न अन्दर मरूँ, न बाहर मरूँ, न आदमी के हाथ से मरूँ, न किसी पशु के हाथ से मरूँ। उसका क्या हाल हुआ? उसी की तरह हिन्दुस्तानी भाषा का भी कहना है कि 'मैं वह भाषा हूँ जिसमें न संस्कृत के शब्द रहते हैं, न अरबी-फारसी के, जो न हिन्दुओं की भाषा है, न मुसलमानों की, और न देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, न उर्दू लिपि में ही।' यह सब हिरण्यकश्यप के नकारात्मक बचाव हैं। अभी तक इस हिरण्यकश्यप रूपी हिन्दुस्तानी के प्रचार के प्रयत्नों का जो प्रभाव देखने में आया है वह इतना ही कि अनेक कार्यकर्त्ताओं में बुद्धि-भेद पैदा हो गया है, और इतना निश्चय से कहा जा सकता है कि यदि हिन्दुस्तानी किसी को कुछ पढ़ा नहीं सकेगी तो अहिन्दी प्रान्तों में कुछ न कुछ लोगों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी पढ़ने से रोक अवश्य सकेगी।

जिनके लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य एक जीवन व्रत है उनके लिये यह चिन्तन का ही विषय नहीं, कुछ करने का आह्वान है।

(२० जनवरी, १६५६ के 'देशदूत' में प्रकाशित, मध्यप्रांतीय विदर्भ हिंदी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के अवसर पर किये हुये भाषण से)

परिशिष्ट १३

'हिन्दुस्तानी' का वेदान्त

(लेखक—श्री सूर्य प्रकाश एम० ए०)

'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों अथवा अर्ध-समर्थकों मे एक दल ऐसे व्यक्तियो का है जो कल तक राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थक थे, हिन्दी और देवनागरी छोड कर हिन्दुस्तानी या उर्दू लिपि का नाम नहीं लेते थे, शुद्ध हिन्दी और देवनागरी का प्रचार करते थे, परन्तु जिनका हृदय उनके मस्तिष्क से अधिक बलवान था, और यदि उनका मस्तिष्क राष्ट्र और राष्ट्रीयता के साथ था तो हृदय गाधी के साथ था, और इस लिये जो आज अपने आप को हिन्दुस्तानी के कैम्प में खड़ा पाते हैं। परन्तु पुरानी आदतें जल्दी नहीं छूटतीं, और इसलिये वे अपने आप को नये बन्दोबस्त में फिट करने में जरा दिक्कत महसूस करते हैं—हृदय और मस्तिष्क के बीच में एक सघर्ष का अनुभव करते हैं। इस सघर्ष को शान्त करने के लिये, अपने अतःकरण की आवाज को दबाने के लिये, अपने मन को सतोष देने के लिये अर्थात् अपने आप को धोखा देने के लिये उन्होंने एक 'हिन्दुस्तानी वेदात' की सृष्टि कर ली है। इस वेदात के अनुसार हिन्दी भी वही है, उर्दू भी वही है, हिन्दुस्तानी भी वही है—तीनों एक ही तत्व हैं अथवा एक ही ब्रह्म-तत्व के तीन नाम हैं, तीनों के उपासक एक ही गति को प्राप्त होते हैं, बस केवल आजकल हिन्दुस्तानी पूजा का अधिक माहात्म्य है और इस कारण उन्होंने अपने इष्ट-देवता (या आराध्य देवी ?) राष्ट्र भाषा का नाम भर 'हिंदुस्तानी' रख लिया है। इस दर्शन का दर्शन कीजिये—

मई, १९४६ की 'राष्ट्रभाषा' में श्री आचार्य दादा धर्माधिकारी लिखते हैं—"राष्ट्रभाषा का अर्थ जो बीस पचीस बरस पहले था वह आज नहीं है। पहले राष्ट्रभाषा सिर्फ "हिन्दी" नाम से पहचानी जाती थी, फिर उसका "हिन्दी हिन्दुस्तानी" नामकरण हुआ और अब हिन्दुस्तानी! एक ही राष्ट्रभाषा का भिन्न भिन्न नामकरण इन ५० सालों में हुआ, इसका कारण क्या है? जीवन प्रगतिशील है—वह नित्य गतिमान है। इसकी गति का लक्ष्य है पूर्णता अथवा मृत्यु। राष्ट्रभाषा भी अपने जीवन में प्रगतिशील रही है। यही कारण है कि वह उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशालिनी होती जा रही है। जिसका परिचय हमें उसके बदलते हुये नामों में मिल रहा है।"

इस 'प्रगतिशीलता' का क्या कहना! न मालूम इंगलैंड-भाषा, साम्राज्य-भाषा, संसार-भाषा 'अँगरेजी' का नाम उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशालिनी होने पर भी क्यों नहीं बदला! और एक ही 'राष्ट्रभाषा' का भिन्न भिन्न नामकरण कैसा कि, बकौल श्री भदन्त जी, अब या 'हिन्दी' चुन लो या 'हिन्दुस्तानी' चुन लो, या हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह लो या हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में! यह तो स्पष्ट ही है कि 'राष्ट्रभाषा का जो अर्थ बीस-पचीस बरस पहले था वह आज नहीं है'। उस राष्ट्र का भी तो, जिसकी राष्ट्रभाषा से मतलब है, अब वह अर्थ नहीं है। पहले उस राष्ट्र का नाम 'हिन्दुस्तान' था, फिर एक 'फीडरेशन' हुआ और अब एक 'कानफीडरेशन' है। उसमें रहने वाले पहले 'हिन्दुस्तानी' नाम से पहचाने जाते थे, फिर वे 'हिन्दू-मुसलमान' कहलाये और अब 'हिन्दू' और 'मुसलमान'। यह सब 'प्रगतिशीलता', 'पूर्ण राष्ट्रीयता' के लक्ष्य की प्राप्ति का ही द्योतक तो है! इसी कारण 'राष्ट्र' भी उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है! राष्ट्रभाषा के प्रगतिशील, पूर्णता-गामी और उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशालिनी होने की एक और पहचान है। पहले उसकी लिपि केवल

एक थी, अब दो हैं (अथवा क्या 'देवनागरी' और 'फ़ारसी' 'एक ही राष्ट्र-लिपि' का भिन्न भिन्न नामकरण है ?), शीघ्र ही तीन (रोमन भी) हो जायँगी। तब वह और 'शक्तिशालिनी' हो जायगी। न मालूम अँगरेजी एक ही लिपि से क्यों सतुष्ट है। शायद वह गतिशील नही, और मृत्यु को प्राप्त हो रही है!

धर्माधिकारी जी आगे लिखते हैं: "अगर हिन्दुस्तान का हिन्दू कहने लगे कि हम उर्दू नही बोलेंगे और हिन्दुस्तान का मुसलमान कहे कि हम हिन्दी नही बोलेंगे, तब इन दोनों को एक दूसरे को यह बताने के लिये कि हम तुम्हारी भाषा नही बोलेंगे किसी तीसरी भाषा की सहायता लेनी पडेगी और वह होगी अँगरेजी।"

अरे, क्या 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही भाषा के दो नाम नही रहे ? जो भी हो, अगर हिन्दू कहे हम फ़ारसी लिपि मे नहीं लिखेंगे और मुसलमान कहे हम देवनागरी मे नही लिखेंगे तो एक दूसरे को पत्र लिखने के लिये किसी तीसरी लिपि को सहायता लेनी पडेगी और वह होगी रोमन! (प्रत्येक से कहते हो दोनों लिपि सीखो, प्रत्येक से यह भी क्यों न कहो हिन्दी उर्दू दोनों सीखो ? यह 'हिन्दुस्तानी' का खटराग क्या है ? जैसे देवनागरी और फ़ारसी लिपि दोनो राष्ट्र-लिपि, वैसे हिन्दी और उर्दू दोनो राष्ट्र-भाषा सही। क्या मुसलमान वर्धा की इस 'हिन्दुस्तानी' बोलने को ही तैयार हैं ?)

मई, १९४६ की 'राष्ट्र-भाषा' मे श्री हृषीकेश शर्मा दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा के रजत-जयन्ती उत्सव का वर्णन करते हुये लिखते हैं, "हिन्दी के नाम को, जिसे यह नाम सदियो पहले मुसलमान मुगलों ने ही दिया था, छोडकर यहाँ 'हिन्दुस्तानी' नया नाम मात्र दे दिया गया है", और उसके बाद रजत-जयन्ती में हुए भाषणों में से कुछ हिन्दी वाक्यांश चुनकर उदाहरण-स्वरूप पेश करते हैं और फिर तपाक से कहते हैं, "इसे हिन्दी कह

एक था, अब दो हैं (अथवा क्या 'देवनागरी' और 'फारसी' 'एक ही राष्ट्र-लिपि' का भिन्न भिन्न नामकरण है?), शीघ्र ही तीन (रोमन भी) हो जायँगी। तब यह और 'शक्तिशालिनी' हो जायगी। न मालूम अँगरेजी एक ही लिपि से क्यों सन्तुष्ट है। शायद यह गतिशील नहीं, और मृत्यु को प्राप्त हो रही है!

धर्माधिकारी जी आगे लिखते हैं: "अगर हिन्दुस्तान का हिन्दू कहने लगे कि हम उर्दू नहीं बोलेंगे और हिन्दुस्तान का मुसलमान कहे कि हम हिन्दी नहीं बोलेंगे, तब इन दोनों को एक दूसरे को यह बताने के लिये कि हम तुम्हारी भाषा नहीं बोलेंगे किसी तीसरी भाषा की सहायता लेनी पड़ेगी और वह होगी अँगरेजी।"

अरे, क्या 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही भाषा के दो नाम नहीं रहे? जो भी हो, अगर हिन्दू कहे हम फारसी लिपि में नहीं लिखेंगे और मुसलमान कहे हम देवनागरी में नहीं लिखेंगे तो एक दूसरे को पत्र लिखने के लिये किसी तीसरी लिपि की सहायता लेनी पड़ेगी और वह होगी रोमन! (प्रत्येक से कहते हो दोनों लिपि सीखो, प्रत्येक से यह भी क्यों न कहो हिन्दी उर्दू दोनों सीखो? यह 'हिन्दुस्तानी' का खटराग क्या है? जैसे देवनागरी और फारसी लिपि दोनों राष्ट्र-लिपि, वैसे हिन्दी और उर्दू दोनों राष्ट्र-भाषा सही। क्या मुसलमान बर्षों की इस 'हिन्दुस्तानी' बोलने को ही तैयार हैं?)

मई, १९४६ की 'राष्ट्र-भाषा' में श्री हृषीकेश शर्मा दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा के रजत-जयन्ती उत्सव का वर्णन करते हुये लिखते हैं, "हिन्दी के नाम का, जिसे यह नाम सदियों पहले मुसलमान मुगलों ने ही दिया था, छोड़कर यहाँ 'हिन्दुस्तानी' नया नाम मात्र दे दिया गया है", और उसके बाद रजत-जयन्ती में हुए भाषणों में से कुछ हिन्दी वाक्यांश चुनकर उदाहरण-स्वरूप पेश करते हैं और फिर तपाक से कहते हैं, "इसे हिन्दी कह

अन्त में शर्मा जी लिखते हैं, "यही हिन्दी की खासियत है, उसका लोच है। वह काका जी की 'सबकी बोली' है, पू० बापू जी की हिन्दुस्तानी है, राष्ट्रपति आजाद साहब की कौमी जबान है और श्रद्धेय टंडन जी की राष्ट्रभाषा है", अर्थात् हिन्दी भी वही है, उर्दू भी वही है (देखिये न 'लोच', 'कौमी' और 'ज़बान' वही तो दो शब्द हैं न जो 'राष्ट्र' और 'भाषा'— जरा अन्तर्दृष्टि से देखिये !), और हिन्दुस्तानी भी वही है। यह है शुद्ध 'हिन्दुस्तानी का वेदान्त' (अफसोस, इसे श्रद्धेय टंडन जी और राष्ट्रपति आजाद नहीं समझ पाते !)। इस वेदान्त की अन्तिम कड़ी शेष है— देवनागरी भी वही है, फ़ारसी लिपि भी वही है। धैर्य धारण कीजिये, इसको सिद्ध करने वाला शंकराचार्य भी शीघ्र प्रकट हो जायगा।

(अक्टूबर, १९४६ की 'सरस्वती' से)



लीजिये, चाहे हिन्दुस्तानी।" आखिर फिर पुराना, परिचित, मुसलमानों का ही दिया हुआ नाम 'हिन्दी' छोड़कर 'हिन्दुस्तानी' नाम क्यों रक्खा गया? इसका कोई विशेष कारण तो होगा ही। क्या शर्माजी की समझ में अभी तक नहीं आया कि हिन्दी में हिन्दुस्तानी का फाटक किनके प्रवेश करने के लिये खोला गया है? दक्षिण में अभी प० सुन्दरलाल और काका कालेलकर जो हिन्दी वाक्यांश न बोलें तो उनकी वकालत समझे कौन? अभी जरा ठहरिये, अभी तो हिन्दुस्तानी का पाठ आरम्भ हुआ है, उर्दू की पाठ्य-पुस्तकें छपना शुरू हुई हैं। विश्वास न हो तो अभी ही पंडित सुन्दरलाल को पंजाब या युक्त-प्रान्त में 'हिन्दी कह लीजिये चाहे हिन्दुस्तानी' बोलते हुए सुन ले (या उनकी 'विश्व-वाणी' का सम्पादकीय या 'नया हिन्द' का अग्र-लेख पढ़ लें)। और क्या "दोनों लिपियों का आप प्रयोग करें", यह भी नाम मात्र के लिये कहा गया, और दक्षिण भारत हि० प्र० सभा दोनों लिपियों की शिक्षा क्या नाम मात्र के लिये ही अनिवार्य कर रही है?

शर्मा जी आगे लिखते हैं, "हिन्दी ने उर्दू के लोकोपयोगी सैकड़ों मुहावरों और हजारों प्रचलित सरल शब्दों को सदियों से अपने कुटुम्ब कबीले में ऐसा मिला लिया है कि वे किसी के हटाने से हट नहीं सकते और किसी की मेहरबानी या रहम के बल पर वे रह नहीं सकते।"

शायद इसीलिये हिन्दी को उर्दू की एक और खूराक जबरदस्ती पिला कर 'हिन्दुस्तानी' बनाया जा रहा है, और अनुपयोगी शब्दों 'साहित्य' और 'शिक्षा' को निकाल कर लोकोपयोगी सरल शब्दों 'अदब' और 'तालीम' को बैठाया जा रहा है, और दक्षिण वासियों को उर्दू के हजारों पारिभाषिक शब्दों से परिचित कराया जा रहा है! शर्मा जी कहते हैं, "हिन्दी ने न कभी भाषा का पाकिस्तान बनाया और न बनने देगी।" यह तो ठीक, परंतु लिपि का पाकिस्तान कौन बना रहा है? 'उर्दू शैली' प्रत्येक पर अलग से कौन लाद रहा है?

की भी नहीं वरन् हिन्दी और उर्दू दोनों के ज्ञान की आवश्यकता है, अर्थात् वह हिन्दी या उर्दू से दूनी कठिन है। कारण स्पष्ट हैं। 'हरिजन-सेवक' की भाषा के कोई सिद्धान्त, नियम या आदर्श तो हैं नहीं, अतः सब कुछ सम्पादक या लेखक की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे कोई हिन्दी शब्द और चाहे कोई उर्दू शब्द उठाकर धर सकता है। 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' मे प्रत्येक हिन्दी शब्द और प्रत्येक उर्दू शब्द आ सकता है और आता है। एक बार एक पाठक ने गाधी जी से प्रश्न किया कि 'हरिजनसेवक' की भाषा मे 'एतकाद', 'तहरीक' और 'कफ्फारा' क्यों आये, 'श्रद्धा', 'आन्दोलन' और 'प्रायश्चित' क्यों नहीं? गाधी जी ने उत्तर दिया कि 'एतकाद', 'तहरीक' और 'कफ्फारा' तीनों शब्द 'उत्तर के लोगों की बोल-चाल' मे घर कर चुके हैं। (गाधी जी ने यह नहीं बतलाया कि फिर भी स्वय उनका, जिन्होंने उत्तर के दौरों में आधा जीवन व्यतीत किया है, इन शब्दों से कितना पुराना परिचय है!) अस्तु, चूँकि हिन्दी का या उर्दू का ऐसा कोई शब्द नही जिसके बारे मे कहा जा सके कि उत्तर के लोग उसे नहीं बोलते, और चूँकि खड़ी बोली की क्रियाओं का प्रत्येक जानकार 'उत्तर की बोलचाल' का ठेकेदार बन सकता है, गाधी जी के उत्तर का सीधा सादा अर्थ है कि 'हिन्दुस्तानी' मे हिन्दी और उर्दू का प्रत्येक शब्द आ सकता है, 'हिन्दुस्तानी' समझने के लिए हिन्दी-कोष और उर्दू-कोष दोनों का घोटने की आवश्यकता है, 'हिन्दुस्तानी' का कोप हिन्दी-कोप+उर्दू-कोप है। फिर 'हिन्दुस्तानी' 'न हिन्दी न उर्दू' या 'न सस्कृत, न अरबी-फ़ारसी' मयी कैसे हो सकती है? 'हरिजनसेवक' की भाषा मे वही हिन्दी के सस्कृत शब्द वर्तमान हैं और वही उर्दू के अरबी-फ़ारसी शब्द दिखाई देते हैं, बस, केवल १०० सस्कृत या १०० अरबी फ़ारसी शब्दों के स्थान मे ५० सस्कृत और ५० अरबी-फारसी शब्द हैं, और कौन से सस्कृत और कौन से अरबी-फारसी; इसकी कोई ठीक नहीं। लेखक को केवल यह आदेश है

कि हिन्दी का और उर्दू का पलड़ा बराबर रहे। यदि दो तीन हिन्दी शब्द आ गये तो उनके बाद दो तीन उर्दू शब्दों का आना आवश्यक है, अन्यथा 'राष्ट्र-भाषा' की सील नहीं लगेगी और 'राष्ट्र-भाषा-विशारद' का सार्टी-फिकेट छिन जायगा। जरा चूके कि 'अराष्ट्रीयता' के खड्ड में गिरे और आपकी भाषा 'सच्ची राष्ट्र-भाषा के बजाय हिन्दी या उर्दू कहलाई ! जो एक हाथ में हिन्दी-कोष और एक हाथ में उर्दू-कोष ले कर सीधा संतुलन करता हुआ तलवार की धार पर नहीं चल सकता, वह राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' का लेखक नहीं हो सकता। इसके बाद भी वर्धा का सार्टीफिकेट लेना जरूरी है। 'हिन्दुस्तानी' का रहस्य कोई कोई जानते हैं (परन्तु वह है फिर भी 'राष्ट्र-भाषा'—सारे राष्ट्र की भाषा), और ऐसे महात्माओं का प्रधान आश्रम वर्धा में ही है। वह सार्टीफिकेट भी सब प्रार्थियों को नहीं मिलता। तपस्या करनी पड़ती है। 'हरिजनसेवक' के सम्पादक ही सच्ची 'राष्ट्र-भाषा' लिखने के अयोग्य साबित होने के कारण कई बार बदले जा चुके हैं। 'सरस्वती' वर्धा में प्रकट होती है और वहीं लुप्त हो जाती है।

'हरिजन सेवक' की 'हिन्दुस्तानी' कृत्रिम है या अकृत्रिम, अब इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उतनी ही कृत्रिम है जितनी उर्दू। उर्दू दिल्ली के दरबार में गढ़ी गई थी, 'हिन्दुस्तानी' वर्धा में गढ़ी जा रही है। इसकी कृत्रिमता का भी कोई ठिकाना है ! यदि वह अकृत्रिम, स्वाभाविक भाषा होती तो साहित्य-शून्य क्यों होती और उस पर इतनी बन्दिशें क्यों लगाई जातीं ? यदि हिन्दी अपने लिखित रूप में कहीं बोलचाल में प्रयुक्त नहीं होती, तो 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' भी इसी रूप में कहीं बोलचाल में प्रयुक्त नहीं होती। रही बोधगम्यता की बात, सो क्या हिन्दुस्तानी वाले साबित कर सकते हैं कि 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' को ही फ्रांटियर के पठान और तेलगू भाई दोनों समझते हैं, अथवा यह कि वह देहातियों के लिये हिन्दी की अपेक्षा अधिक सरल

है ? इससे कौन सी समस्या हल होती है ? हिन्दुस्तानी वाले स्वीकार करें या न करें, परन्तु इसमें सन्देह करने की अब कोई गुजाइश नहीं रही कि 'हिन्दुस्तानी' का उद्देश्य राजनीतिक दृष्टि से भाषा में साप्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धात को घुसेड़ कर मुसलमानो को खुश करना है। परन्तु अफ़सोस! यह उद्देश्य भी सफल नहीं हुआ, क्योंकि मुसलमान 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' को भी स्वीकार करने के लिये तैयार नही। शायद अब १०० में ७५ शब्द उर्दू के रक्खे जायँ!——और फिर पूरे १०० !!

'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' मे प्रायः हिन्दी शब्दों के आगे कोष्ठकों मे उनके उर्दू पर्याय, और उर्दू शब्दों के आगे कोष्ठकों में उनके हिन्दी पर्याय दिये जाते हैं। इस प्रकार शब्दो के जोडे दे कर हिन्दुस्तानी वालों ने स्वय सिद्ध कर दिया है कि 'हिन्दुस्तानी' कोई अलग चीज नहीं, ऐसी कोई भाषा नही जो हिन्दी और उर्दू दोनो से भिन्न हो और सबकी समझ में आती हो, और 'हिन्दुस्तानी' कोई भाषा नहीं, वह हिन्दी और उर्दू सिखाने का सबक भले ही हो। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुस्तान मे 'एतकाद' 'तहरीक' और 'कफ्फारा' जैसे शब्दों को कोषो में से छाँट-छाँट कर फिर उन्हें उनके पुराने, प्रचलित स्वदेशी पर्यायों द्वारा सिखाने का नाम ही 'राष्ट्रीयता' है।

गाधीजी ने 'उत्तर की बोलचाल' का हवाला दिया। दक्षिण की बोलचाल क्यों छोड दी ? उत्तर मे भी बगाल और आसाम को क्यो छोड़ दिया ? कौन सी भारतीय भाषा का ऐसा कौनसा शब्द है जो भारत के किसी न किसी भाग की बोलचाल में घर न कर चुका हो ? फिर भारत की राष्ट्र-भाषा में सब शब्दो को समान स्थान क्यो नहीं दिया जाता ? केवल 'हिन्दी शब्द' और 'उर्दू शब्द' ही क्यों ? कोष्ठक में केवल हिन्दी या उर्दू पर्याय ही क्यों दिया जाता है, सभी भारतीय पर्याय (जिनमें द्रविड़ पर्याय भी शामिल हैं) और अँगरेजी पर्याय भी (क्योंकि लाखों भारतीय, उत्तर में भी और दक्षिण

में भी, अँगरेजी भी बोलते हैं और इङ्गलिस्तानी में खड़ी बोली ही की क्रियाओं के साथ अँगरेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं) क्यों नहीं दिये जाते? साफ़-साफ़ यह घोषित क्यों नहीं कर दिया जाता कि 'हिन्दुस्तानी' से तात्पर्य केवल खड़ी बोली की क्रियाओं और विभक्तियों मे है, शेष शब्द चाहे जो हों? हमें घोर दुख है, राष्ट्र-भाषा यज्ञ को पूर्ण होने से पूर्व उसे उसे आरम्भ करने वाले ने ही भ्रष्ट कर दिया!

'हरिजनसेवक' के उर्दू-लिपि वाले संस्करण के विषय में इतना और कहना पर्याप्त होगा कि उसे पढना भी सरल नहीं, समझना तो बाद की बात है। जो पाठक संस्कृत या हिन्दी पढा हुआ नहीं है, वह इसे नहीं पढ सकता। इसमें आये हुये हिन्दी संस्कृत शब्दों को पारखी ही पहचान सकते हैं। पहचानने पर भी उनका शुद्ध रूप उन्हें तब तक नहीं मालूम हो सकता जब तक उन्हें अलग से न बताया जाता या वे पहले से न जानते हों। यह है इस 'राष्ट्र-लिपि' में 'राष्ट्र-भाषा' का हाल।

'हरिजनसेवक' एक बात और स्पष्ट कर रहा है। वह यह कि हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी का (और उर्दू का भी) अस्तित्व मिटाना चाहते हैं। उनका यह कहना कि हिन्दी (और उर्दू) प्रान्तीय भाषा के बतौर अपने क्षेत्र में फल फूल सकती है, झूठ और भुलावा मात्र है। यह इससे जाना जा सकता है कि गांधीजी अपना पत्र 'हरिजन' अँगरेजी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, आदि प्रान्तीय भाषाओं मे तो (प्रत्येक भाषा के अपने अपने परम्परागत शुद्ध रूप में) निकालते हैं, परन्तु 'हिन्दी' में नहीं निकालते। 'हिन्दी' के स्थान में निकालते हैं देवनागरी-'हिन्दुस्तानी' में जिसका हाल ऊपर बतलाया गया है। यदि 'हिन्दुस्तानी' का उद्देश्य, जैसा कि गांधीजी ने स्वयं कहा है, हिन्दी (और उर्दू) को मिटाना नहीं है और यदि यह सत्य है कि 'हिन्दुस्तानी' में केवल अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार होगा और वह किसी प्रान्तीय भाषा का स्थान नहीं लेगी, तो या तो 'हरिजन' को केवल

'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' मे (और किसी भी प्रान्तीय भाषा में नहीं) निकालना चाहिये था और या उसे अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी निकालना चाहिये था, हिन्दी के अतिरिक्त 'हिन्दुस्तानी' में निकाला जाता अथवा न निकाला जाता। यदि गांधीजी यही समझते हैं कि 'हरिजन-सेवक' की 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी मे अधिक व्यापक है, तो वे 'हरिजनसेवक' को हिन्दी मे भी निकाल कर हिन्दी 'हरिजन सेवक' की और देवनागरी-'हिन्दुस्तानी' 'हरिजनसेवक' की बिकने वाली प्रतियों की संख्याओं का मुकाबला करके देख ले। (उर्दू के साथ भी यह कर के देख लें।) सत्य के पुजारी को हमारी यह सत्य की चुनौती है। वे हमारी चुनौती स्वीकार करें, नहीं तो हम 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' को गांधीजी की व्यक्तिगत जिद और हिन्दी के प्रति अन्याय, हिन्दी के अस्तित्व पर कुठाराघात, साहित्यिक अत्याचार एवं अनाचार मानने के लिये बाध्य होंगे। एक असत्य के लिये आग्रह 'सत्य-आग्रह' नही कहा जा सकता।

× × × ×

हिन्दी पत्रों से एक विशेष निवेदन करना आवश्यक जान पडता है। हिन्दी पत्र-पत्रिकायें प्राय 'हरिजनसेवक' से अवतरण, लेख, आदि ज्यों की त्यों उद्धृत करती हुई देखी जाती हैं। वे ऐसा शायद उसके गांधी जी के पत्र होने के कारण करती हैं। 'हरिजनसेवक' के लेखों का अवश्य विशेष महत्व है, परन्तु उन्हें ज्यों का त्यों अर्थात् मूल 'हिन्दुस्तानी' मे क्यों उद्धृत किया जाता है? 'हिन्दुस्तानी' यदि हिन्दी से भिन्न कही और बतलाई जाती है, और 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी से भिन्न है भी, तो वह हिन्दी के पत्र मे कैसे स्थान पा सकती है? हिन्दी पत्रों को सदैव 'हरि-जनसेवक' के लेखों, आदि को हिन्दी मे रूपान्तरित करके देना चाहिये। उन्हे शायद यह लालच होगा कि वे गांधी जी के विचार उन्हीं के शब्दों में, उन्हीं की भाषा मे (या उन्हीं की 'हिन्दुस्तानी' में) दे रहे हैं, परन्तु बात ऐसी

भी नहीं है। गांधी जी अपने अधिकांश मूल लेख गुजराती या अँगरेजी में लिखते हैं। 'हरिजनसेवक' में उनका 'हिन्दुस्तानी' विशेषज्ञों द्वारा किया हुआ 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद भर रहता है (लेखों के नीचे इसका उल्लेख भी रहता है)*। ऐसी स्थिति में हिन्दी पत्रों के सम्पादक गांधी जी के मूल लेख से अपनी हिन्दी में अनुवाद करके क्यों नहीं छापते? यदि वे मूल लेख तक जाना नहीं चाहते या मूल लेख से अनुवाद नहीं कर सकते, तो 'हरिजनसेवक' में दिये हुये 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद से ही अपनी हिन्दी में अनुवाद करके दें। वे किसी दूसरे की 'हिन्दुस्तानी' को अपनी हिन्दी पर तरजीह क्यों देते हैं? ज़रा सी आरामतलबी में आकर वे हिन्दी को विकृत करने में योग न दें। हिन्दी पत्रों में 'हिन्दुस्तानी' के लेख, अवतरण, आदि देने के विषय में बहुत कुछ पहले कहा जा चुका है†।

---

* 'हरिजनसेवक' में गांधीजी के अतिरिक्त अधिकांश अन्य लेखकों के मूल लेख भी 'हिन्दुस्तानी' में लिखे हुये नहीं होते बल्कि मूल लेखों का 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद होता है।

† देखिये पृष्ठ ५६-५७ और १६२-१६३।

परिशिष्ट १५

हिन्दुस्तानी का उद्गम

(लेखक—पं० रामचन्द्र शुक्ल)

साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अंतर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। जब कि साहित्य व्यक्त वाणी या वाग्विभूति का संचित भंडार है तब पहले भाषा ही पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। व्यक्त वाणी का यह संचय असभ्य जातियों में तो केवल मौखिक रहता है, पर सभ्य जातियों में पुस्तकों के भीतर हिफाजत के साथ बंद रखा जाता है। मौखिक अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता, पर पुस्तकस्थ होकर हजारों वर्ष तक चला चलता है।

साहित्य की अखंड दीर्घ परंपरा सभ्यता का लक्षण है। यह परंपरा शब्द की भी होती है और अर्थ की भी। शब्द परंपरा भाषा को स्वरूप देती है और अर्थ परंपरा साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। ये दोनों परंपराएँ अभिन्न होती हैं। इन्हें एक ही परंपरा के दो पक्ष समझिए। किसी देश की शब्द-परंपरा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चलकर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है। कुछ काल तक लगातार चलते रहने से शब्द-परंपरा या भाषा को भी एक विशेष स्वरूप प्राप्त हो जाता है

और अर्थ-परंपरा या साहित्य को भी। इस प्रकार दोनों के स्वरूपों का सामंजस्य रहता है। इस सामंजस्य में यदि बाधा पड़ी तो साहित्य देश की प्राकृतिक जीवन-धारा से विच्छिन्न हो जायगा और जनता के हृदय का स्पर्श न कर सकेगा। यदि अर्थ-परंपरा का स्वरूप बनाए रखकर शब्द-परंपरा का स्वरूप बदला जायगा तो परिणाम होगा "कोयल का नगमा" और "महात्मा जी के अलफ़ाज"। यदि शब्द-परंपरा स्थिर रखकर अर्थ-परंपरा या वस्तु-परंपरा बदली जायगी तो आप के सामने "स्वर्ण अवसर" आएगा, "हृदय के छाले" फूटेंगे और "दुपट्टे फाड़े जायँगे।"

भाषा या साहित्य के विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें बाहर से आए हुए नए शब्द और नई नई वस्तुएँ न मिलें। उसमें नए नए शब्द भी बराबर मिलते जाते हैं और नए नए अर्थों या वस्तुओं की योजना भी होती जाती है, पर इस मात्रा में और इस ढब से कि उसका स्वरूप अपनी विशिष्टता बनाए रहता है। हम यह बराबर कह सकते हैं कि यह इस देश का, इस जाति का और इस भाषा का साहित्य है। गंगा एक क्षीण धारा के रूप में गंगोत्तरी से चलती है मार्ग में न जाने कितने नाले, न जाने कितनी नदियाँ उसमें मिलती जाती हैं, पर सागर-संगम तक वह 'गंगा' ही कहलाती है, उसका 'गंगापन' बना रहता है।

हमारे व्यावहारिक और भावात्मक जीवन से जिस भाषा का संबंध सदा से चला आ रहा है वह पहले चाहे जो कुछ कही जाती रही हो, अब हिन्दी कही जाती है। इसका एक एक शब्द हमारी सत्ता का व्यंजक है, हमारी संस्कृति का संपुट है, हमारी जन्मभूमि का स्मारक है, हमारे हृदय का प्रतिबिंब है, हमारी बुद्धि का वैभव है। देश की जिस प्रकृति ने हमारे हृदय में रूप-रंग भरा है उसी ने हमारी भाषा का भी रूप रंग खड़ा किया है। यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नाले, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब इसी हमारी बोली में अपना परिचय देते हैं और अपनी ओर हमें खींचते हैं। इनकी सारी रूप-

छटा, सारी भावभंगी हमारी भाषा में और हमारे साहित्य में समाई हुई है। यह वही भाषा है जिसकी धारा कभी संस्कृत के रूप में बहती थी, फिर प्राकृत और अपभ्रंश के रूप में और इधर हजार वर्ष से इस वर्त्तमान रूप में—जिसे हिंदी कहते हैं—लगातार बहती चली आ रही है। यह वही भाषा है जिसमें सारे उत्तरीय भारत के बीच चंद और जगनिक ने वीरता की उमंग उठाई, कबीर, सूर और तुलसी ने भक्ति की धारा बहाई, बिहारी, देव और पद्माकर ने शृंगार रस की वर्षा की, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक युग का आभास दिया और आज आप व्यापक दृष्टि फैलाकर संपूर्ण मानव-जगत् के मेल में लानेवाली भावनाएँ भर रहे हैं। हजारों वर्ष से यह दीर्घ परम्परा अखंड चली आ रही है। ऐसी भव्य परंपरा का गर्व जिसे न हो वह भारतीय नहीं।

हमारा गर्व यह सोचकर और भी बढ़ जाता है कि यह परंपरा इतनी प्रबल और शक्तिशालिनी सिद्ध हुई कि इधर सौ वर्ष से—अर्थात् अँगरेजी राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के पीछे—इसे बंद करने के तरह तरह के प्रयत्न कुछ लोगों के द्वारा समय समय पर होते आ रहे हैं, पर यह अपना मार्ग निकालती चली आ रही है। इस विरोध का मूल हमारे उन मुसलमान भाइयों की निर्मूल आशंका है जो अपनी भाषा और अपने साहित्य को विदेशी साँचे में ढाल कर अपने लिये अलग रखना चाहते हैं। यदि वे अपनी भाषा और अपने साहित्य की एक अलग परंपरा रखना चाहते हैं तो हमारे लिये यह प्रसन्नता की बात है। इधर अपनी भाषा की छटा, अपने साहित्य की विभूति हमारे सामने रहेगी, उधर उनके साहित्य के चमत्कार से भी हम अपना मनोरंजन करेंगे। यही मौका उन्हें भी रहेगा। मनोरंजन के क्षेत्र एक से दो रहें तो और अच्छी बात है। यही स्थिति मुसलमानी अमलदारी में रही है। दिल्ली और दक्खिन के बादशाह फारसी कविता का भी आनंद लेते थे और परंपरागत हिंदी कविता का भी। फारसी के स्थान पर जब उर्दू की शायरी होने लगी तब भी यही बात रही। अनेक-

रूपता का नाम ही संसार है। सौंदर्य्य की विभूति अनेक रूपों से प्रकट होती है। सहृदय उन सब में आनन्द का अनुभव करते हैं। अकबर की बात छोड़ दीजिये जो आप कभी-कभी हिंदी में कविता करता था, औरंगजेब तक के दरबार में जाकर हिंदी कवियों का कविता सुनाना प्रसिद्ध है। रहीम, रसखान, गुलाम नबी इत्यादि का नाम हिंदी के अच्छे कवियों में है।

यहीं तक नहीं, अपनी धार्मिक भावनाओं की व्यंजना के लिये भी मुसलमान यहाँ की परंपरागत भाषा को बराबर काम में लाते थे। हमारे हिन्दी काव्य के इतिहास में सूफ़ी कवियों का एक वर्ग ही अलग है, जिसके अंतर्गत कुतबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद इत्यादि दर्जनों कवि हुये हैं। उन्होंने हमारी ही प्यारी बोली में हमारे ही काव्यों की पदावली में, जिसमें संस्कृत का पुट बराबर रहता आया है, प्रेम-कहानियाँ लिखी हैं।

यह देखना चाहिये कि हमारी भाषा और हमारे साहित्य में वह कौन-सी वस्तु है, जो अब हमारे मुसलमान भाइयों को नापसंद है। इधर उनकी ओर से जो लेख आदि निकल रहे हैं उनसे पता चलता है कि भाषा में न पसंद आने वाली वस्तु हैं संस्कृत के शब्द और साहित्य में भारतीय दृश्य, भारतीय रीति-नीति और भारतीय इतिहास-पुराणों के प्रसंग। इस संबंध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि जिस देश का साहित्य होगा उस देश की परंपरागत भाषा, उस देश के प्राकृतिक स्वरूप, रीति-नीति, कथा-प्रसंग आदि से वह कैसे दूर रह सकता है?

अब थोड़ा यह भी देखिये कि पुराने मुसलमान भाइयों ने अपने वर्ग के लिये एक अलग साहित्य निर्माण करने में उसका क्या स्वरूप रखा था, और कितने दिनों तक वह स्वरूप वे बनाए रहे। हिंदी में थोड़े से अरबी, फ़ारसी शब्द मिलाकर अपने साहित्य के लिये जो भाषा उन्होंने ग्रहण की, वह 'रेख़ता' कहलाती थी। जो हिंदी उन्होंने ली थी वह केवल व्यवहार और बोलचाल की हिंदी न थी, परंपरागत काव्यों और गीतों की हिंदी

भी थी, जिसमें बहुत चलते संस्कृत शब्दों के साथ-साथ ठेठ घरेलू शब्द भी रहते थे।

यह तो हुई कविता और साहित्य की बात। सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि सर्वसाधारण मुसलमान जनता में इसलाम के धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिये चार सौ वर्ष पहले जिस भाषा का प्रयोग वे अपनी किताबों में करते थे, उसमें यहाँ के धार्मिक और दार्शनिक पुस्तकों में आनेवाले इंद्रिय, विकार आदि शब्द तक भी कभी-कभी लाते थे—

(१) सराहना नेवाजना खुदा को बहुत कि सो पालनहारा है आलम का (शरह मरगूबुल कलूब-शाह मीराँजी बीजापुरी सन् १४९५ के पहले)।

(२) सवाल—यह तन अलाधा (अलहद.) बल्कि सततर (स्वतंत्र) विकार रूप दिखता है। एक तिल क़रार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ़, जाहिर तन के फेल से गुजरया व नातिन करतब विषे ? दूसरा तन सो भी कि इस इन्द्रियन का विकार व चेष्टा करनहारा.. सुख-दुख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन .. । यह तन फ़हम सूँ गुज़रया तो गुन उसका क्यों रहे ?

(कलामतुल हकायक, शाह बुरहानुद्दीन बीजापुरी सन् १५८२)

उर्दू के इतिहास-लेखक उर्दू का उत्थान बीजापुर और गोलकुंडा की दक्खिनी रियासतों से मानते हैं। वहाँ शीया मुसलमानों की अधिक वस्ती थी। इससे इमाम हुसैन की कथा को लेकर दक्खिनी उर्दू के कवियों ने कई मसनवियों या प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। इनमें से एक का नाम है 'करबल-कथा' (करबला की कथा)। यह 'कथा' शब्द भला आजकल उर्दू में कभी जगह पा सकता है ? शृङ्गार की प्रेम-कहानियों की रचना भी दक्खिनी उर्दू में बहुत कुछ हुई है। जैसे 'वजही' की 'मसनवी कुतुब-मुश्तरी' जिसकी पद्य-रचना का रूप देखिए—

न भुइँ पर बसे वह न असमान में।
रहा शाह उसी नार के ध्यान में॥
भुलाई चचल धन च यो शाह कोँ।
कि लुभवाए ज्यों कहरुवा काह कोँ॥
लग्या शाह उसासाँ भरन आह मार।
कि नजदीक ना हैं ब गुनवत नार॥

'वजही' की गजल का नमूना यह है—

पिउ अपने कोँ आज मैं निस सपने देखी सोयकर।
जब पिउ चलिया सेति सेज तब सोते उठी रोयकर॥
ना पूछूँ वहमन जोयसी कब मिलना पिउ सों होयसी।

'वजही' का रचना काल सन् १६०० से १६३५ तक माना जाता है। इसके उपरात सन् १६५० के लगभग 'नसरती' का समय आता है, जो कुछ दिनों तक तो दक्खिनी शायरी की उपर्युक्त परम्परा पर चला पर आगे चल कर वह 'हिन्दवीपन' को बहुत कुछ दूर हटाकर फारसी रूप देने में लगा। अपना यह प्रयत्न उसने स्पष्ट स्वीकार किया है और कहा है—"दखिन के शायरों की मैं रविश पर शेर बोल्या नहीं।" एक स्थान पर और कहता है—

"मआनी की सूरत की है आरसी।
दखिन का किया शेर जूँ फारसी।
फ़साहत में गर फ़ारसी खुश कलाम॥
धरे फ़ख हिन्दी बचन पर मुदाम।
मैं इस दो हुनर के खुनामों को पा॥
किया शेर ताज दोनों फ़न मिला॥"

'नसरती' ने जो रास्ता दिखलाया उस पर कुछ लोग धीरे धीरे चलने लगे, पर दक्खिनी शायरी की देशी परम्परा कुछ दिनों तक चलती रही।

सन् १६६१ ई० मे अफ़ज़ल ने हिन्दी-गीतकाव्य-परम्परा के अनुसार 'बारह-मासा' लिखा जिसकी भाषा इस ढग की है—

सखी रे, चैत रितु आई सुहाई। अजहुँ उम्मीद मेरी वर न आई।
रहे हैं भँवर फूलों के गले लाग। मेरे सीनः जुदाई की लगी आग।
सखी दिन रैन मुझ नागिन डसत है। फिरूँ दौरी तमामै जग हँसत है।

सन् १७०० के पीछे वली ने और दक्खिनी शायरों के समान कुछ दिनों तक हिन्दीपन को रहने दिया। उसकी उन रचनाओं मे हिन्दी-काव्य-परम्परा के कुछ शब्द, भारतीय कथा-प्रसगो के कुछ सकेत, प्रेम-व्यापार में स्त्री पुरुष का भेद आदि कुछ बातें बनी रहीं। जैसे—

इस रैन अँधेरी मे मत भूल पडूँ तिससूँ।
टुक पाँव के बिछुवों की आवाज़ सुनाती जा॥
मुझ दिल के कबूतर कोँ पकडा ह तेरी लट ने।
यह काम धरम का है टुक इसको छुडाती जा॥
तुझ मुख को परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी।
ऐ बुत का पुजनहारी इस बुत को पुजाती जा॥
मुख बात बोलता हूँ शिकव. तेरे कपट का।
तुझ नैन देखने को दिल ठाँठ कर चुका था॥

पीछे शाह सादुल्लाह गुलशन ने 'वली' को हिदायत की कि "ये इतने फ़ारसी क मजमून जा बेकार पडे हैं, इन्हे काम मे लो"। फिर तो वली ने अपना रुख ही पलट दिया और वे इस तरह के कलाम सामने लाने लगे—

जब सनम को खयाले बाग़ हुआ। तालिबे नश्शए फ़राग़ हुआ।
फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब। नाज़नीं साहबे दिमाग़ हुआ।
अश्क सूँ तुझ लबाँ की सुरखी के। जिगर लालः दाग दाग हुआ।

पहले के दक्खिनी शायर तो देश श्रुको ति-रुचि के अनुसार जगह को

'जाबा' और 'अलहद.' को 'अलाधा' तक लिखते थे। फारसी शब्दों के बहुवचन आदि हिंदी व्याकरण के अनुसार रखते थे, पर वली ने 'आशिक' का बहुवचन अरबी के कायदे पर 'उश्शाक' रखा है और फ़ारसी समास के ढंग पर 'नशाए-फ़राग' और 'माहवे दिमाग'। वली सन १७०० ई० में दिल्ली आए। कायम ने सन् १७२० ई० में वली के दीवान का दिल्ली पहुँचना लिखा है।

यहाँ से अब दिल्ली के शायरों की परंपरा उर्दू साहित्य में चली है। सन् १७०० ई० में दिल्ली में हातिम नाम के एक शायर थे। इन्होंने फिर हिंदी के शब्दों की छँटाई की, जिसका वर्णन उन्होंने आप ही इस प्रकार किया है—

"लस्सान अरबी व जबान फ़ारसी के करीबुलफ़हम व कसीरुल इस्तअमाल बाशद व रोजमर्रा देहली कि मिर्जायाने हिंद व फ़सीहाने रिंद दर महावरा दारद मंजूर दाश्त'। सिवाए आँ जबान हिंदवी कि आँरा भाखा गोयद मौकूफ़ करद"।

तात्पर्य यह कि हातिम ने अरबी फारसी के शब्द ला लाकर रखे और हिंदी या भाषा के शब्दों को निकाल फेंका। अरबी-फ़ारसी के बीच हिंदी के वे ही शब्द और मुहावरे रहने पाये जिन्हें शाहजादे और सरदार लोग दरबार में बोलते थे। इस प्रकार उर्दू एक दरबारी भाषा भर रह गई। इतना होने पर भी इनकी कविताओं में भारतीय कथा-प्रसंगों के संकेत पाए जाते हैं—

खुदा के नूर का मथकर समुन्दर। यही चौदह रतन काढे हैं बाहर।
अगर फ़हमीद हिकमत आशना है। इसी नुसखे में चौदह विद्या है॥

हातिम ही के समय में उर्दू के महाकवि 'सौदा' हुए हैं, जो पहले हिन्दीपन से सटी हुई शायरी ही नहीं सर्व-साधारण में प्रचलित हिन्दी भाषा की कविता भी करते थे और अच्छी करते थे। कुछ उद्धृत किए बिना आगे नहीं बढ़ते बनता।

सौदा की हिन्दी गजल—

निकल के चौखट से घर की प्यारे जो पट की ओझल ठिठक रहा है,
सिमट के घट से तेरे दरस को नयन में जी आ अटक रहा है।
अगिन ने तेरे विरह की जब से झुलस दिया है कलेजा मेरा,
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ यूँ कोयला सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा है,
पड़ा वो सावत मन मे जिसके बिरह का काँटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूँ,
य क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छुटक रहा है।
हिलोरी यों लेती ओस की बूँद लग के फूलों की पखड़ी से,
तुम्हारे कानो मे जिस तरह से हर एक मोती लटक रहा है।
कहीं जो लग चलने साथ देता हो इस तरह का कटर है पापी,
न जानूँ पेड़ी की धूल मैं हूँ जो मुझ से मुल्ला झटक रहा है।
कभू लगा है न आते जाते जो बैठकर टुक इसे निकालूँ,
सजन, जो काँटा है तुझ गली का सो पग में मेरे भटक रहा है।
कोई जो मुझसे य पूछता होय क्यों तू रोता है कह तो हमसे,
हर एक आँसू मेरे नयन का जगह जगह सिर पटक रहा है।
गुनी हो कैसा ही ध्यान जिसका तेरे गुनो से लगा है प्यारे,
ग्यान परवत भी है जो उसका तो छोड़ उसको सटक रहा है।
जो बाट मिलने की होय उसका पता बता दो मुझे गिरीजन,
तुम्हारी बटियों में आज बरसों से यह बटोही भटक रहा है।
जो मैंने 'सौदा' से जाके पूछा तुझे कुछ अपने भी मन की सुधबुध,
य रोके मुझसे कहा किसी की लटक मे लट की लटक रहा है।

सौदा के हिन्दी दोहे—

कारी रैन डरावनी, घर तें होई निरास।

जंगल में जा सो रहे, कोऊ आस न पास ॥
बैरी पहुँचे आइके, तेरी देहली पास ।
बेग खबर लो या नबी! अब पत की नहिं आस ॥
खीझ खीझ चहुँ ओर से, पड़े वह ज़ालिम टूट ।
बेबो को टरपाय के, ले गए घर को लूट ॥
कहै हरम सर पीट कर, खोकर अपनी लाज ।
माटी में तू रल गयो, दीन दुनी के लाज ॥
खोयौ तैंने नीर बिन, नबी के मन को चैन ।
ज़ालिम तेरे हाथ से, प्यासो गयो हुसैन ॥

उक्त दोहे मरसियों में आ गए हैं। उन्हीं में से अलग किए गए हैं। सौदा की पहेलियों की भाषा हिन्दी है। पर उनकी और सब रचनाएँ हातिम की ही सरणी पर चलती हैं। उर्दू की शायरी में जो थोड़ा बहुत हिन्दीपन लुका छिपा था, वह लखनऊ जाने पर नासिख के हाथ से दूर किया गया। फिर तो वह हिन्दी से ऐसी हटी कि उसने अपना एक दायरा ही अलग कर लिया। उस दायरे से जगत, चंचल, नार, गुन, अकास, धरम, धन, करम, दया, बीर, बली ऐसे शब्द एकदम निकाल बाहर हुए। इसी प्रकार वस्तुओं में न कमल और न भँवरे रह गए, न बसंत और कोकिल, न वर्षा ऋतु रह गई न सावन की हरियाली, न भीम और अर्जुन रह गए, न कर्ण और भोज। इस प्रकार यहाँ की परम्परागत भाषा के आधे हिस्से से और परम्परागत साहित्य के सर्वांश से अर्थात् देश के सामान्य जीवन से उर्दू दूर हटा दी गई। जबरदस्ती जान बूझकर हटाई गई, आप से आप नहीं हटी।

उर्दू के इस रूप में आने का परिणाम यह हुआ, कि अपना प्रसार करने की स्वाभाविक शक्ति उसमें न रह गई। वह अपने को बनाये रखने के लिये मकतबों और सरकारी दफ्तरों की मुहताज हो गई। यह बात अँगरेजी अमलदारी के प्रतिष्ठित हो जाने पर हमारे नवशिक्षित मुसलमान भाइयों को

स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी और वे उसकी रक्षा और प्रसार के कृत्रिम साधनों का अवलम्बन करने में लगे। मुसलमानी अमलदारी में सरकारी दफ्तर फारसी में थे। अतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी कुछ दिनों तक सरकारी दफ्तरों की जबान फ़ारसी ही रहने दी। पर पीछे अधिकारियों को यह बात खटकने लगी कि दफ्तरों की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से बिलकुल अलग है। उनका ध्यान देश की प्रचलित भाषा की ओर गया। १८३६ ई० में हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड से एक इश्तहारनामा निकला, जो इस प्रकार था—

इश्तहारनामः बोर्ड सदर—

पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है, कि कचहरी के सब काम पारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सब को चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार वदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन मे लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन मे लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उसपर हुक्म लिखा जायगा। मिति २६ जुलाई सन् १८३६ ई०।

खेद की बात है कि यह व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमान भाइयों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी घुसने न पाये, उर्दू चलाई जाय। अन्त में सन् १८३७ ई० से उर्दू दफ्तरों की भाषा कर दी गई। इसके उपरान्त जब सर्वसाधारण की शिक्षा के लिये सरकार की ओर से जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार ने यह निश्चय किया कि संस्कृत की कक्षाएँ तोड़ दी जाँय और हिन्दी भाषा का पढ़ना सब विद्यार्थियों

के लिये आवश्यक कर दिया जाय, तब भी मुसलमान भाइयों की ओर से विरोध खड़ा किया गया और सन् १८४८ में उनकी प्रेरणा से कंपनी की सरकार ने यह आज्ञा निकाली कि "ऐसी जबान का इल्म तमाम तुलबा के लिये लाजिम करार देना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में दुरुस्त नहीं। अलावा इसके मुसलमान तुलबा जिनकी तादाद इस देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।" हिंदी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्यूलर स्कूलों में उसकी शिक्षा जारी ही न होने पाये। हिंदी की रक्षा के लिये राजा शिवप्रसाद को कितना यत्न करना पड़ा था, यह हिंदी प्रेमी मात्र जानते हैं। सरकार की ओर से ज्ञान की वृद्धि के लिये एक संस्था (Society for the promotion of knowledge in India through the medium of vernacular language) स्थापित हुई थी, जिसका उद्देश्य था ॲंगरेजी, फारसी, संस्कृत आदि की पुस्तकों का देशी भाषा में अर्थात् हिंदी, उर्दू और बँगला में अनुवाद करना। पर उर्दू को छोड़कर न हिंदी में कोई अनुवाद होने पाया, न बँगला में।

सर सैयद अहमद साहब वास्तव में उर्दू को क्या समझते थे, यह उन्हीं की जबान से सुनिये। वे फरमाते हैं—"चूँकि यह जबान खास बादशाही बाजारों में मुरव्वज थी इस वास्ते इसको जबान उर्दू कहा करते थे। और बादशाही अमीर-उमरा इसको बोलते थे। गोया हिन्दुस्तान के मुसलमानों की यह जबान थी"। इस प्रकार उर्दू को उन्होंने केवल दरबारी अमीर-उमरा और मुसलमानों की जबान तसलीम किया है।

मुसलमान किस तरह पहले अपने मजहब की तालीम के लिये थोड़ी अरबी-फारसी मिली एक खास ढंग की हिंदी काम में लाए, फिर धीरे-धीरे हिंदीपन निकालते निकालते बिल्कुल एक विदेशी ढाँचे की भाषा गढ़कर अपने लिखने की भाषा एकदम अलग करली, यह बात अब स्पष्ट हो गई

होगी। मुहम्मदशाह के समय तक इस नई गढ़ी हुई भाषा का, जो पीछे उर्दू कहलाई, साहित्य-रचना के लिये प्रचार न हो सका था, इसका आभास हिंदी के सूफ़ी कवि नूरमुहम्मद ने अपनी उस पुस्तक में दिया है जो उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इंद्रावती' के पीछे लिखी। पुस्तक का नाम है 'अनुराग-बाँसुरी'।* नूरमुहम्मद के समय से मुसलमान देश की प्रचलित भाषा, हिंदी से किनारा खींचने लगे थे और मुसलमानों के लिये फ़ारसी में रचना करना ही जायज समझने लगे थे। 'इंद्रावती' लिखने पर उन्हें उनके मुसलमान भाइयों ने यह कहकर फटकारना शुरू किया कि 'तुम मुसलमान होकर हिंदी में क्यों लिखने गए।" इसी से बेचारे को 'अनुराग-बाँसुरी' में अपनी सफाई इन शब्दों में देनी पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिंदू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिंदी भाखेउँ॥

जिसे उर्दू कहते हैं उसका उस समय साहित्य में कोई स्थान न था, यह नूरमुहम्मद के इस कथन से साफ झलकता है—

† कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिंदी भाखै पर आवा॥
छाँडि पारसी कंद न बातैं। अरुझाना हिंदी-रस-बातैं॥

जनता से अपने को बिल्कुल अलग दिखाने के लिये मुसलमानों ने ही अपने लिये विदेशी ढाँचे की एक अलग भाषा और साहित्य खड़ा किया, यह इतनी प्रत्यक्ष बात है कि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। उर्दू की प्राचीनता दिखाने के लिये दक्खिनी शायरों की जो लंबी सूची सामने लाई गई है उसमें कोई हिंदू भी है? शायद एक या दो। और जाने दीजिये, 'आबे हयात' ही उठा लीजिये। उसमे सब के सब शायर मुसलमान ही तो हैं। अब और सबूत क्या चाहिए? इतने पर भी न जाने किस मुँह से यह

---

* यह पुस्तक अप्रकाशित है।

† नूरमुहम्मद फ़ारसी की रचनाओं में अपना तखल्लुस 'कामयाब' रखते थे।

कहा जाता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के मेल से उर्दू पैदा हुई। मेल से पैदा हुई चीज की यही सूरत होती है?

आज सब से बढ़कर खेद तो तब होता है जब कोई कानून-पेशा हिंदू, पेट के पीछे जिसके घराने का लगाव देश की परंपरागत संस्कृति और साहित्य से बिल्कुल टूट गया हो, जिसकी प्रारंभिक शिक्षा केवल फारसी तथा अदालती भाषा उर्दू की हुई हो, किसी जलसे या मुशायरे में उर्दू को हिन्दू-मुसलिम कलचर के मेल से वजूद में आई हुई एक मुश्तरक. जबान बताने लगता है। हम पूछते हैं कि जब तुम 'हिन्दूकलचर' से कोसों दूर पड़ गए हो तब उसका मेल कहाँ और कितना है, यह क्या पहचान सकते हो? बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि के साहित्य की तुम्हें कुछ खबर है? जब तुम ऐसे कूप-मण्डूक हो कि अपने तंग घेरे के बाहर नजर ही नहीं फैला सकते, तब इस रोशनी के जमाने में चुप क्यों नहीं रहते? साहित्य की जो देश-व्यापक परंपरा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि और प्रांतों में चली आ रही है, वही परंपरा तो हिन्दी की भी है—अर्थ-परंपरा भी और शब्द परंपरा भी। इसी अर्थ-परंपरा और शब्द-परंपरा से इस देश की दस बारह करोड़ जनता परिचित है। इसी को वह अपना समझती आई है। जिसने उर्दू नहीं पढ़ी है उसे जरा अपनी 'मुश्तरक आमफ्हम' में कोई 'सयासी तकरीर' सुनाइए तो पता लगे। हमें सबसे बढ़कर क्षोभ उस समय हुआ था जब हिंदुस्तानी के किसी जलसे में एक साहब यह फरमा गए थे कि "मैं तुलसी और कबीर को तो समझ लेता हूँ। पर आज कल की हिन्दी बहुत कम समझ पाता हूँ।" इस प्रलाप का भी कहीं ठिकाना है? जो आजकल के साहित्य की भाषा नहीं समझता वह भला तुलसी की भाषा क्या समझेगा? संस्कृत शब्दों की जो परंपरा सूर, तुलसी आदि की रचनाओं में चली आई थी वही आजकल भी चली आ रही है।

जिस प्रकार 'हिन्दवीपन' निकाल निकालकर एक विदेशी ढाँचे की

भाषा खड़ी करने का क्रमबद्ध इतिहास है उसी प्रकार उस भाषा को सबके गले मढ़ने के लिये हिन्दी को दूर रखने के घोर प्रयत्न का भी खासा इतिहास है, जो उस समय से शुरू होता है जब देश का पूरा शासन अँगरेजों के हाथ में आया। इन दोनों इतिहासों का सक्षेप में उल्लेख करके अब मै वर्तमान परिस्थिति पर आता हूँ। अब तक शिक्षा का लक्ष्य अधिकतर सरकारी नौकरी रहा है। अत इस बात का प्रयत्न बराबर होता रहा है कि दफ्तरों में हिन्दी न घुसने पाए। दफ्तरों की भाषा जब तक उर्दू रहेगी तब तक झख मार कर लोगो को अपने बच्चों को उर्दू की शिक्षा देनी पड़ेगी और यह कहने का मौका रहेगा कि उर्दू पढे लिखे लोगों की भाषा है। अगर दफ्तरों की भाषा होना ही प्रचलित भाषा होने का प्रमाण है तब तो फारसी भी, जो कई सौ वर्ष तक दफ्तरों की भाषा रही है, देश की प्रचलित भाषा मानी जानी चाहिए।

जिस समय उर्दू के साथ साथ—उसे हटाकर नहीं—हिन्दी को भी स्थान दिलाने के लिये सर एंटनी मैकडानल के समय मे आदोलन उठा उस समय भी मुसलमानों की ओर से पूरा विरोध खड़ा किया गया। अदालतो से ही नही शिक्षा पद्धति से भी हिन्दी को हटाने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं, यह दिखाया जा चुका है। अब आज कल की परिस्थिति देखिए। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू-मुसलिम एकता अत्यन्त आवश्यक समझते हैं वे एक बीच का रास्ता पकडकर 'हिन्दुस्तानी' लेकर उठे हैं। इस हिन्दुस्तानी का समर्थन कुछ उदार समझे जानेवाले मुसलमान और उर्दू की गोद में पले हिन्दू भी कर रहे हैं। हम भोली भाली जनता को इस 'हिन्दुस्तानी' से सावधान करना अत्यत आवश्यक समझते हैं। जो हिन्दुस्तानी इन लोगों के ध्यान मे है वह थोडी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नही है। उर्दू के सब लक्षण—जैसे वाक्य-रचना की फारसी शैली, अरबी फारसी के अप्रचलित मुशी-फहम शब्द, अरबी-फारसी कायदे

के बहु-वचन—उसमें वर्त्तमान रहेंगे तब तो यह 'हिन्दुस्तानी कहलाएगी, अन्यथा नहीं। ....——

(काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
इसी नाम की पुस्तिका से)

परिशिष्ट १६

युक्त-प्रान्त की अदालतों की भाषा

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

कुछ दिन हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय की इँगलिश लिटरेरी सोसाइटी के सामने भाषण करते हुये युक्त-प्रान्त के न्याय-मन्त्री डा० काटजू ने कहा, "If I had the power to enact laws I would prohibit the use of even a syllable of English in the Courts." ("यदि मेरे हाथ में कानून बनाने की शक्ति हो तो मै अदालतों मे अँगरेजी के एक शब्दांश के भी प्रयोग का निषेध कर दूँ।") यदि यह शक्ति अभी उनके हाथ मे नहीं है तो शीघ्र ही आने वाली है, और हमे आशा तथा विश्वास है कि वे यथासम्भव अर्थात् जहाँ तक हमारी अपनी भाषा मे काम चल सकता है वहाँ तक अँगरेजी, अँगरेजी शब्दों और रोमन लिपि को अदालतो से निकालने मे कसर न उठा रक्खेंगे। परंतु क्या हम पूछ सकते हैं कि अदालतों मे फ़ारसी और अरबी शब्द, फ़ारसी मुहावरे और शैली और फारसी लिपि निकालने के विषय मे उनके क्या विचार हैं और इस विषय मे वे क्या करने का इरादा रखते हैं ? अँगरेजी, अँगरेजी शब्दों और रोमन लिपि को विदेशी और इसलिये बहिष्कार-योग्य और उनके प्रयोग को 'symbol of our slavery' (उनके भाषण से उद्धृत) बताने परन्तु अरबी-फ़ारसी शब्दों और लिपि को स्वदेशी और उनके प्रयोग को 'symbol of our freedom' बताने की चेष्टा तो शायद वे न करेंगे। उन्होंने अपने उसी भाषण मे आगे कहा, "The Englishman's love

of liberty and love of all things English runs through all English literature This is something which we must emulate ' अदालतों के प्रकरण में वे स्वयं 'love of all things Indian' के आदर्श को किस प्रकार और कहाँ तक निभाने का इरादा रखते हैं ?

डा० काटजू ने अपने उसी भाषण में विद्यार्थियों पर " to study, master and use Hindustani as the vehicle of expression" के लिये जोर दिया। हम इस 'हिन्दुस्तानी' की परिभाषा चाहते हैं। क्या यह वही 'हिन्दुस्तानी' है जो युक्त-प्रान्त की अदालतों में सरकारी भाषा के तौर पर व्यवहृत हो रही है ? यदि नहीं, तो इस वर्तमान 'हिन्दुस्तानी को निकाल कर अपनी मनचीती हिन्दुस्तानी, वह जो भी हो, को प्रतिष्ठित करने के विषय में उनका क्या विचार है, क्या इरादा है और क्या कार्य-क्रम है ? इस 'हिन्दुस्तानी' का क्या स्वरूप होगा, कहाँ तक वह वास्तव में हिन्दुस्तानी होगी, उसे कौन गढ़ेगा और उसके पीछे क्या सैंक्शन होगा और उसकी लिपि क्या होगी, यह भी बताने की कृपा करें। इस प्रश्न को पूछने का कारण यह है कि हम युक्त-प्रान्त में किसी ऐसी 'हिन्दुस्तानी' से परिचित नहीं जो स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई जाती हो और जिसे 'study' और 'master' करके हम उनके आदेश का पालन कर सकें और अपने को धन्य मानें। यदि 'हिन्दुस्तानी' से उनका मतलब युक्त प्रांत के गली-कूचों, हाट बाजारों, चौराहों और चौपालों में बोली जाने वाली बोली से है, तो उसे तो हम बोलते ही हैं और उसे 'study' और 'master' करने का सवाल ही नहीं उठता। दूसरे, हम साधारण व्यक्तियों की तुच्छ बुद्धि में यह भी नहीं आता कि अँगरेजी, जो 'symbol of our slavery' है, के स्थान में इस बोली का प्रयोग कैसे और क्योंकर करें, और माननीय मन्त्रियों से भी इस दिशा में हमें कोई सहायता नहीं

मिलती, कुछ पथ-प्रदर्शन नही होता। यदि 'हिन्दुस्तानी' से उनका तात्पर्य 'हिन्दी और / या उर्दू' ही है, तो चिरपरिचित और पुराने शब्दो 'हिन्दी' और 'उर्दू' के बजाय इस एक शब्द 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग क्या उन्होंने महज अपने आप को और औरों को धोखे और भुलावे में डालने के लिये किया था और करते हैं? फिर, अँगरेजी के स्थान में किसका प्रयोग करें—हिन्दी का या उर्दू का या दोनों का एक साथ, और किस लिपि का व्यवहार करें? हिन्दी और उर्दू के कान पकड़ कर उन्हे एक करने की शक्ति तो उनमें या उनके आचार्य गाधी जी में है नही, और देवनागरी और फ़ारसी लिपि को एक ही लिपि साबित करना अथवा 'फारसी' लिपि को हिन्दुस्तानी होने का सार्टीफिकेट दिलाना बडे से बडे कानूनी दिमाग की पहुँच के बाहर है। तीसरे, युक्त प्रान्त के लोग फिर किस 'हिन्दुस्तानी' के माध्यम से अपने विचार एक दूसरे के सामने रक्खेंगे और किस 'हिन्दुस्तानी लिपि' मे एक दूसरे को लिखेंगे? और किस 'हिन्दुस्तानी' और किस लिपि मे अदालतों में सरकारी और गैर-सरकारी काम होगा? यदि हिन्दुस्तानी और गैर-हिन्दुस्तानी का ख्याल न करके हिन्दी और उर्दू दोनों और 'दोनों लिपियों' में ही काम होगा, तो वह शुभ दिन कब आवेगा जब

(१) अदालतों के जजों से लेकर छोटे से छोटे कर्मचारियों के लिय हिन्दी जानना और नियुक्ति से पहले उर्दू की परीक्षा के समान स्टैंडर्ड की हिन्दी विभागीय परीक्षा पास करना अनिवार्य करार दिया जायगा और वर्तमान कर्मचारियों को एक निश्चित अवधि के भीतर हिन्दी की इस परीक्षा को पास करने का आदेश दिया जायगा, जिस आदेश को भग करने के दडस्वरूप उनकी पदोन्नति और वेतन-वृद्धि रोक दी जायगी;

(२) अदालतो के सब रेकार्ड कानूनन हिन्दी में भी—केवल देवनागरी लिपि में नहीं वरन् हिन्दी भाषा मे—रक्खे जायँगे, और सब अदालती नोटिस हिन्दी मे भी दिए जायँगे तथा अन्य काम हिन्दी मे भी होगा